

कविराज-प्रतिभा

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय-रजत-जयन्ती-ग्रन्थमाला
(पञ्चम पुष्प)

कविराज-प्रतिभा

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज
के धर्म-दर्शन-साधना-आदि विषयक
प्रातिनिधिक लेखों का संग्रह

सम्पादक
प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विश्वविद्यालय-रजत-जयन्ती-ग्रन्थमाला

[षष्ठ पुष्प]

कविराज-प्रतिभा

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

के

धर्म-दर्शन-साधना-आदि विषयक
प्रातिनिधिक लेखों का संग्रह

सम्पादक
प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी
अध्यक्ष
पालि एवं थेरवाद विभाग
संकायाध्यक्ष, श्रमण-विद्या संकाय
एवं
पुस्तकाध्यक्ष, सरस्वती भवन पुस्तकालय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रस्तावनाकार
प्रो० वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी



वाराणसी

२०४४ वैक्रमाब्द   १९०९ शकाब्द   १९८७ ख्रैस्ताब्द

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

□

प्रकाशक—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

□

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२.

□

प्रथम संस्करण—१००० प्रतियाँ
मूल्य—६४.००

□

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-२२१००१

University Silver Jubilee Series No. 6

KAVIRĀJA-PRATIBHĀ

Collection of Select Articles

of

Mahāmahopādhyāya Gopīnātha Kavirāja

on

Dharma, Darśana and Sādhanā

Edited by

PROF. LAKSHMI NARAYAN TIWARI

Head, Pali & Theravada Department,

Dean, Faculty of Śramaṇa-Vidyā

&

Librarian, Sarasvati Bhavana Library

Sampurnanand Sanskrit University

With A Foreword

by

PROF. V. VENKATACHALAM

Vice-Chancellor

Sampurnanand Sanskrit University

Varanasi



VARANASI

1987

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Published by—
Dr. Harishchandra Mani Tripathi
Publication Officer
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi-221002.



First Edition : 1000 Copies
Price Rs.—64.00



Printed by—
Ratna Printing Works
B 41/42 A, Kamachha
Varanasi-221001.

प्रस्तावना

महामनीषी श्री गोपीनाथ कविराज जी का सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बन्ध सर्वविदित ही है। अपनी सारस्वत-यात्रा इन्होंने इस विश्वविद्यालय के पूर्वरूप गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज से ही प्रारम्भ की थी और पाश्चात्य विद्या के साथ-साथ भारतीय शास्त्रों का अध्ययन उस समय के शास्त्र-मर्मज्ञ पण्डितों से उन्होंने यहीं किया था। कालेज के प्रिंसिपल श्री आर्थर वेनिस ने इन्हें गहन अध्ययन की ओर यहीं प्रोत्साहित किया था और १९१४ ई० में सरस्वती भवन पुस्तकालय के भवन के निर्मित होने पर पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर ये नियुक्त हुए थे। १९२४ ई० में डा० गङ्गानाथ झा के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के प्राचार्य पद से कार्य-निवृत्त होने पर उनके स्थान पर श्री कविराज जी की नियुक्ति हुई और इस पद पर १९३७ ई० तक वे निष्ठापूर्वक कार्य करते रहे। इस अवधि में उन्होंने सुनियोजित रूप से दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन तथा उनके अध्ययन-सम्बन्धी योजना को कार्यान्वित किया, जिसका प्रकाशन दो ग्रन्थमालाओं के रूप में हुआ। प्रथम के अन्तर्गत ग्रन्थों के मूलपाठ (टेक्स्ट) और द्वितीय में उनके आलोचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित (स्टडीज़) सामग्री प्रकाशित हुई।

१९३७ ई० में इन्होंने अपना कार्यकाल पूर्ण होने के पूर्व ही त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि प्रान्तीय शिक्षा विभाग इसे स्वीकार करने हेतु तैयार नहीं था, परन्तु श्री कविराज जी के निरन्तर अनुरोध के कारण अन्त में इसे स्वीकार ही करना पड़ा। सेवा-निवृत्त होने के पश्चात् ये एकनिष्ठ भाव से स्वाध्याय, साधना एवं शोधार्थियों को मार्ग-दर्शन कराने के कार्य में सर्वदा ही तत्पर रहे।

बाद में विश्वविद्यालय के कुलाधिपति और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री विश्वनाथ दास के व्यक्तिगत अनुरोध पर १९६५ ई० में उन्होंने यहाँ के योगतन्त्र विभाग के आचार्य पद को स्वीकार किया और इस विभाग से सम्बद्ध शोधार्थियों तथा अध्यापकों का अध्ययन-सम्बन्धी पथ-निर्देशन कई वर्षों तक किया। संस्कृत वाङ्मय के प्रति की गयी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए विश्वविद्यालय की ओर से इन्हें सम्मानित 'वाचस्पति' (डी०लिट्०) की उपाधि १९७६ ई० में प्रदान की गयी। इस प्रकार इस संस्था के उन्नयन में श्री कविराज जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यह विश्वविद्यालय प्रत्येक वर्ष इनके जन्म-दिवस पर 'कविराज-जयन्ती' का आयोजन करता है, जिसमें कविराज जी द्वारा आलोचित विषयों पर मूर्धन्य विद्वानों के भाषण तथा व्याख्यान आदि होते हैं।

'दि प्रिन्सेज आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़' में आँग्ल-भाषा में प्रकाशित न्याय तथा वैशेषिक वाङ्मय के इतिहास तथा वाङ्मय-सूची से सम्बन्धित लेखों का संग्रह 'दि हिस्ट्री एण्ड बिब्ल्योग्राफी आफ न्याय-वैशेषिक लिट्रेचर' शीर्षक से कविराज-जयन्ती के शुभ अवसर पर विश्वविद्यालय से १९८२ ई० में ही प्रकाशित हो गया है। सम्प्रति इनके जन्म-शताब्दी समारोह के अवसर पर विश्वविद्यालय 'दि प्रिन्सेज आफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़' में आँग्ल-भाषा में प्रकाशित धर्म, दर्शन

एवं साधना-विषयक उनके लेखों का संग्रह 'नोट्स आन् रिलिजन एण्ड फिलासफी' शीर्षक से प्रस्तुत कर रहा है। साथ ही विश्वविद्यालय की शोधपत्रिका 'सारस्वती सुषमा' का भी श्री गोपीनाथ कविराज स्मृति अङ्क इस अवसर पर प्रकाशित हो रहा है, जिसमें शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा रचित शोध-निबन्ध अन्तर्हित हैं। साथ ही विश्वविद्यालय में इस अवसर पर विद्वद्-गोष्ठियाँ भी आयोजित हैं।

श्री कविराज जी ने धर्म, दर्शन तथा साधना आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक लेख हिन्दी भाषा में भी लिखे थे, जो मुख्य रूप से गीता प्रेस, गोरखपुर, से प्रकाशित होनेवाली विश्रुत पत्रिका 'कल्याण' तथा श्रीश्री आनन्दमयी संघ, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित प्रसिद्ध पत्रिका 'आनन्दवार्ता' में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों को पढ़ने पर स्पष्ट-रूप से ज्ञात होता है कि वे शास्त्रानुसार व्याख्यान-मात्र नहीं हैं, अपितु उनमें एक साधक तथा तत्त्वदर्शी के तत्त्व-साक्षात्कार की स्वानुभूति भी प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचर होती है। 'श्री गोपीनाथ कविराज जन्म-शताब्दी समारोह समिति' के अनुरोध पर उपर्युक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके प्रातिनिधिक लेखों को हिन्दी पाठकों के लिए अध्ययन-सामग्री के रूप में प्रस्तुत करने हेतु विश्वविद्यालय ने संकल्प लिया; और उसी के फलस्वरूप ऐसे लेखों का संग्रह 'कविराज-प्रतिभा' शीर्षक से श्री गोपीनाथ कविराज की शतवार्षिक जयन्ती (७ सितम्बर, १९८७) के शुभ अवसर पर प्रस्तुत हो रहा है। यह विश्वविद्यालय के लिए अत्यन्त गौरव का विषय है।

इनके इस रूप में प्रकाशन हेतु 'कल्याण' के सम्पादक, श्री राधेश्याम खेमका तथा श्रीश्री आनन्दमयो आश्रम, वाराणसी, के प्रबन्धक एवं 'आनन्दवार्ता' के कार्यकारी सम्पादक, श्री पानू ब्रह्मचारी, ने अपनी-अपनी अनुमति सहर्ष प्रदान की है। एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

श्री कविराज जी के पौत्र श्री शशिशेखर कविराज ने इस सङ्कलन को विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित करने की सहर्ष सहमति एवं अनुमति प्रदान की है। इसके लिए विश्वविद्यालय उनका अत्यन्त आभारी है तथा कृतज्ञता व्यक्त करता है।

इसके सम्पादक प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, अध्यक्ष, पालि एवं थेरवाद विभाग, संकायाध्यक्ष, श्रमण-विद्या संकाय एवं पुस्तकाध्यक्ष, सरस्वती भवन पुस्तकालय, ने हमारे अनुरोध पर अत्यन्त अल्प समय में इसको सम्पादित कर मुद्रित कराने में अथक परिश्रम किया है। एतदर्थ उन्हें अनेकशः धन्यवाद। प्रकाशनाधिकारी डा० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी ने इसके मुद्रण-प्रबन्ध की व्यवस्था की है। वे भी धन्यवादार्ह हैं।

साथ ही रत्ना प्रेस, वाराणसी, के व्यवस्थापक, श्री विपुल शङ्कर पण्ड्या तथा इस प्रेस के अन्य कर्मचारीगण ने बहुत ही कम समय में इसे मुद्रित कर इस कार्य को पूर्ण कराने में जो अपना योगदान दिया है, उसके लिए मैं उन्हें साधुवाद प्रदान करता हूँ।

कुलपति-निवास
४ सितम्बर, १९८७

वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति

विषय-सूची

कविराज-प्रतिभा

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

के

धर्म-दर्शन-साधना-आदि विषयक

प्रातिनिधिक लेखों का संग्रह



धर्म का सनातन आदर्श[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म का स्वरूप

जिज्ञासु—ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही सभ्य जगत् में धर्म के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विचार और वितर्क चले आ रहे हैं। कौन-सा धर्म सत्य है और कौन-सा मिथ्या, इस प्रश्न को लेकर जगत् में कितने भिन्न-भिन्न मत प्रवर्तित हुए हैं, सो कहा नहीं जा सकता। परन्तु अब भी यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में समाधान हो गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। शास्त्र ने भी कहा है—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' अर्थात् धर्म का रहस्य अत्यन्त गुह्य पदार्थ है। वह सबके लिए सहज ही बोधगम्य नहीं है। अब मेरा प्रश्न यह है कि यथार्थ धर्म क्या है और किस प्रकार से उसकी उपलब्धि होती है। नाना प्रकार के मतों की आलोचना में पड़कर तत्त्वजिज्ञासु का हृदय विह्वल हो उठता है, इसीलिए मैं आपसे पूछ रहा हूँ। कृपापूर्वक आप धर्म का यथार्थ तत्त्व यथासम्भव सरल भाषा में मुझे समझा दें।

वक्ता—वत्स, तुम्हारे प्रश्न को सुनकर प्रसन्नता हुई। मैं यथाशक्ति इस विषय में तुम्हारे साथ आलोचना करूँगा। परन्तु आलोचना करने से पूर्व मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह तुम्हारे हृदय की यथार्थ जिज्ञासा है या नहीं ? मैं देख रहा हूँ कि तुम अभी तक धर्म-तत्त्व-सम्बन्धी यथार्थ जिज्ञासा की स्थिति पर नहीं पहुँचे हो। तुम्हारी जिज्ञासा के कुछ अंश में उत्सुकता कारण है और कुछ अंश में हृदय की स्वाभाविक स्फूर्ति है। जो कुछ भी हो, मैं तुम्हारी जिज्ञासा के अनुसार उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। अवश्य ही, अभी मैं धर्म के गूढ़ तत्त्वों को लेकर विशेष आलोचना नहीं करूँगा। यदि निष्कपट और सरल भाव से तुम इस आलोचना का अनुसरण करते रहोगे, तो एक दिन तुम्हारे हृदय में वास्तविक जिज्ञासा अवश्य ही उत्पन्न हो जायगी, और तब उसके समाधान के लिए तुम्हें किसी भिन्न उपदेष्टा के पास जाने की आवश्यकता नहीं होगी। तुम्हारे अन्तर से ही अन्तर्यामी गुरु समस्त संशयों का समाधान कर देंगे।

जिज्ञासु—समझ में नहीं आता कि मेरे प्रश्न को आप यथार्थ प्रश्न क्यों नहीं मान रहे हैं ? बहुत से ग्रन्थों को पढ़कर और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् मतों पर विचार कर मैं उन सबका परस्पर समन्वय नहीं कर सका, इसी से मैं संशयग्रस्त हो गया और उसी संशय से चित्त में धर्म-सम्बन्धी इस प्रश्न की उत्पत्ति हुई। इसमें तनिक भी अस्वाभाविकता नहीं है।

---

१. यह लेख प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है।

वक्ता—तुम्हारा कथन ठीक है। परन्तु याद रक्खो, जीवन-क्षेत्र में यथार्थ संशय की उत्पत्ति इस तरह नहीं हुआ करती। बहुत से शास्त्रों को पढ़कर अथवा सुनकर उनका समन्वय न कर सकने के कारण जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वे यथार्थ प्रश्न नहीं हैं—उनका प्राणों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शास्त्रीय विचार-सभा में पूर्वपक्ष की स्थापना करने के लिए उन प्रश्नों की यथेष्ट उपयोगिता हो सकती है, परन्तु उनको यथार्थ प्रश्न नहीं कहा जा सकता। जो अपनी अनुभूति के राज्य से बाहर की वस्तु है, उसके सम्बन्ध में संशय का कोई अवकाश ही नहीं है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अनुभव के राज्य में आगे बढ़ता है, त्यों ही त्यों यथार्थ संशय की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। जो किसी अतीन्द्रिय पदार्थ को देख ही नहीं सकते, अथवा जिनको उसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, उनके चित्त में उस पदार्थ या विशेष धर्म के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उठता है तो वह अस्वाभाविक ही समझा जाता है। कठोर और अनन्त जीवन के पथ पर चलते-चलते जो अभिज्ञता प्राप्त होती है, उसके भलीभाँति संशोधित न होने पर जो एक प्रकार का द्वन्द्व उपस्थित होता है, जिसकी निवृत्ति हुए बिना जीवनकी गति रुक जाती है—वही यथार्थ प्रश्न है।

धर्म-सम्बन्धी तुम्हारी जिज्ञासा यथार्थ न होने पर भी आंशिक भाव से सत्य है और सरल हृदय में उठी हुई है, अतएव इस सम्बन्ध मे मैं तुम्हारे साथ यथाशक्ति आलोचना करने को तैयार हूँ। परन्तु इससे पहले एक बात के लिए तुम्हें सावधान कर देना चाहता हूँ। मेरे कहने से तुम कहीं यह न समझ बैठना कि मैं जो कुछ कहता हूँ, वही चरम अथवा एकमात्र सत्य है, या उसमें भ्रम का कहीं लेश भी नहीं है। मैं यह दावा नहीं करता और मेरा विश्वास है कि कोई भी ऐसा दावा नहीं कर सकता। परन्तु यह विश्वास रखना कि, मैं जो कुछ कहता हूँ वह अमूलक नहीं है।

जीवन के मार्ग पर जितना ही अग्रसर हुआ जाता है, अनुभव की मात्रा और प्रकाश क्रमशः उतना ही बढ़ता जाता है, एवं वह अधिकतर गम्भीर भाव धारण करता है। वस्तुतः आत्मिक अनुभूति का अधिकांश तो भाषा द्वारा प्रकट ही नहीं किया जा सकता और जितना अंश प्रकट करने योग्य प्रतीत होता है, उतना भी यथार्थ रूप में प्रकट नहीं हो पाता। कारण, जो विशुद्ध बोध का विषय है, उसे चिन्तन के क्षेत्र में और वाक्यरूप में उतारते ही उसकी विशुद्धि नष्ट हो जाती है—एवं कुछ अंश में वह मलिन हो जाता है।

जिज्ञासु—अब धर्म के सम्बन्ध में कुछ कहिये। हम लोग अपने चारों ओर धर्म का जो रूप देखते हैं, क्या वही धर्म का तात्त्विक रूप है? यदि ऐसा ही है, तो नाना देशों और नाना कालों में धर्म के सम्बन्ध में इतने विभिन्न सिद्धान्त क्यों उत्पन्न होते हैं?

वक्ता—वत्स, धर्म का तात्त्विक रूप एक होने पर भी उसके व्यावहारिक रूप नाना प्रकार के हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। देश, काल और जागतिक घटना-वैचित्र्य से धर्म के तात्त्विक रूप में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता—यही उसका अन्तरङ्ग या

स्वरूप है। पर, जो धर्म का बहिरङ्ग है वह देश-कालादि के भेद से व्यवहार-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु जो धर्म के रहस्य को जानते हैं, वे इस बाहरी रूप की विचित्रता में भी उसके शाश्वत नित्यरूप को देख पाते हैं। कारण, वे जानते हैं कि जिसको बाह्य रूप बतलाया जाता है वह अन्तर्निहित भाव का ही बहिःप्रकाश मात्र है। गर्भ में यदि वास्तविक सत्ता हो, तो बाह्य रूप के आश्रय से भी उस सत्ता की उपलब्धि अवश्य ही हो जायगी। बाहर का आवरण अन्दर के जीवित प्रवाह को रोककर नहीं रख सकता।

जिज्ञासु—आपके कथन से यह समझ में आया कि यथार्थ धर्म एक होने पर भी उसके बाह्य रूप नाना प्रकार के हो सकते हैं। अतएव किसी भी बाह्य रूप का विश्लेषण करने पर उसके अन्दर से धर्म का सनातन तत्त्व प्रकट हो जायगा। यदि यही सत्य है तो फिर बाह्य धर्मों में उत्कर्ष और अपकर्ष के विचार का कोई स्थान ही नहीं रह जाता है।

वक्ता—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उत्कर्ष और अपकर्ष का अथवा बड़े और छोटे का विचार बाहर ही बाहर रहता है, अन्तर में प्रवेश करने पर यह विचार नहीं रहता। अतएव जब तक बाह्य भाव है, तब तक धर्म के वास्तविक तत्त्व को कोई जान नहीं सकता और इसलिए, तब तक उत्कर्ष और अपकर्ष को मानना ही होगा। आत्मा सर्वत्र और सर्वदा अखण्ड एवं अद्वैत होने पर भी जैसे सब जीवों को एक-सा नहीं कहा जा सकता, वैसे ही, धर्म का मूल-तत्त्व सर्वत्र एक होने पर भी बाह्य दृष्टि से सब धर्मों को समान नहीं कहा जा सकता। बिम्ब एक होने पर भी दर्पण की आपेक्षिक स्वच्छता आदि कारणों से जैसे प्रतिबिम्ब में नाना प्रकार के भेद स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही सार धर्म एक होने पर भी बाह्य धर्म में उत्कृष्ट और अपकृष्ट का विचार उठे बिना नहीं रह सकता।

जिज्ञासु—जब सभी धर्म एक ही मूल-धर्मके विकास हैं, तब उनके पारस्परिक भेद का नियमन किस प्रकार हो सकता है ?

वक्ता—धर्म मूलतः एक होनेपर भी सर्व क्षेत्रों में उसके पूर्णरूप का प्रकाश नहीं हो सकता। जिस आधार में जितना सामर्थ्य है उसमें उतना ही प्रकाश हो सकता है, अधिक नहीं। व्यक्तिगत और जातिगत भाव से भी मनुष्य में यथेष्ट भेद देखने में आता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक योग्यतासम्पन्न होगा, वह धर्म के वास्तविक तत्त्व को उतने ही गम्भीर और विशिष्ट रूप में उपलब्ध कर सकेगा। यही बात जाति के सम्बन्ध में है। यह समझ लेनेपर, विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के धर्मों की उत्पत्ति क्यों हुई, इसका रहस्य कुछ-कुछ समझ में आ जायगा। कालभेद से जो धर्म में भेद होता है उसका भी यही कारण है। इसीलिए बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध के धर्म परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं, और इसीलिए सत्यादि चारों युगों के लिये ऋषियों ने एक ही प्रकारके धर्म का अनुशासन नहीं किया।

जिज्ञासु—आपके कथन से तो धर्म का तत्त्व क्रमशः जटिल हुआ चला जा रहा है। देशकाल-भेद और अन्यान्य कारणों से यदि धर्म में भेद होना अनिवार्य है, तो सूक्ष्मदृष्टि से देश और काल के किञ्चित् परिवर्तन के साथ ही धर्म का आदर्श और आचरण भी बदलना ही चाहिये। ऐसी अवस्था में शास्त्रद्वारा धर्म का निर्णय किस प्रकार हो सकता है? कारण, शास्त्र में प्रत्येक उपदेश साधारण भाव से ही दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिमुहूर्त्त के धर्म के देशगत और अवस्थागत पार्थक्य की ओर दृष्टि रखकर शास्त्र के द्वारा कदापि निर्णय नहीं हो सकता। यदि यही सत्य है तो क्या शास्त्र को मिथ्या कहा जाय ?

वक्ता—शास्त्र मिथ्या क्यों होने लगा ? हाँ, तुम लोग जिसे शास्त्र कहते हो, वह यथार्थ शास्त्र नहीं है—यह यथार्थ शास्त्र का केवल बाह्य परिच्छिन्न प्रकाश है। जब तक ज्ञानचक्षु नहीं खुल जाते, प्रकृति के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुआ जाता—सारांश यह कि जब तक वेद या शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक शास्त्र-वाणी को कैसे समझा जा सकता है? अनन्त चिदाकाश से जिस बोधरूप वाणी का उद्‌गम होता है, वही शास्त्र है। ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्ति की वाणी हो सकती है; अशरीरी की आकाश-वाणी हो सकती है; हृदय से उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु-स्थान से निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूपा दिव्यवाणी हो सकती है। कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं।

जिज्ञासु—शास्त्रतत्त्व के सम्बन्ध में इस समय मैं कुछ भी नहीं पूछता। केवल एक बात जानना चाहता हूँ। आपने जिसको नित्य शास्त्र कहा है, उसमें और हमारे प्रचलित शास्त्र में क्या कोई भेद है ? यदि है तो वह कैसा है ?

वक्ता—संक्षेप में तुम्हारी इस बात का उत्तर मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ। फिर भी, तुम्हारे इस विशेष प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोनों में भेद है और नहीं भी है। शास्त्र ही धर्म का प्रकाशक है। धर्म के नित्य रूप का ज्ञान तो नित्यशास्त्र से ही हो सकता है। हमारे प्रचलित शास्त्र से हम केवल व्यावहारिक धर्म का रूप जान सकते हैं। धर्म का सार्वभौम तत्त्व जानने के लिये बुद्धि-गुहा में प्रवेश करना पड़ता है, वह ग्रन्थ-पाठ से जानने का विषय नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के लिये देश और अवस्था-गत अधिकार-मूलक धर्म का निर्देश व्यावहारिक शास्त्र में नहीं मिल सकता।

जिज्ञासु—तो क्या आपका यह अभिप्राय है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य के यथार्थ निर्णय के लिये ग्रन्थ-पाठ यथेष्ट नहीं है ?

वक्ता—अधिकार और अवस्था के भेद के अनुसार कौन सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित, इसका निर्णय केवल साधारण उपदेशों की आलोचना से नहीं किया जा सकता। जब तक अन्तःकरण जाग्रत नहीं होता, तब तक हृदय में गुरु-शक्ति की

जागृति नहीं होती, तब तक कर्त्तव्य का निर्णय अभ्रान्त हो ही नहीं सकता। वेदरूपी नित्य गुरु के हृदय में जाग्रत हुए बिना कर्म-पथ पर अग्रसर होना सम्भव नहीं है।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

यह बात बिलकुल सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जो सत् हैं, साधु हैं, शुद्धचित्त हैं और मोहनिद्रा से जागकर जिन्होंने सत्य वस्तु की ओर देखना आरम्भ कर दिया है, उनको ग्रन्थ पढ़कर अथवा किसी से उपदेश सुनकर सन्दिग्ध विषय का सन्देह दूर करना नहीं पड़ता। उनका ज्ञानोज्ज्वल चित्त ही संशय का उच्छेद कर उनके हृदय में विश्वास का बीज बो देता है। शुद्धचित्त पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी अनुचित अथवा निषिद्ध विषय की ओर हो ही नहीं सकती। इसी से समझ लेना चाहिये कि साधारण जीव के लिये धर्म के गूढ़ तत्त्व को जान लेना कितनी दूर की बात है। दूसरे को धर्म का उपदेश करना तो दूर रहा, निज में ही कर्म-पथ पर चलने के लिये धर्म के जितने प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता है, उतना भी सहज में नहीं मिल सकता। सारांश यह कि, बाह्य शास्त्रीय ज्ञान यथार्थ शास्त्र-ज्ञान नहीं है।

जिज्ञासु—आपने जो कुछ कहा, इससे यह समझ में आता है कि विषय अत्यन्त कठिन होने पर भी इसे जानना ही चाहिए, क्योंकि धर्म का तत्त्व जाने बिना मनुष्य के पशुत्व-नाश होने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। एकमात्र धर्म ने ही मनुष्य को दूसरे पशुओं से अलग करके मनुष्य पद के योग्य बनाया है। धर्म की उन्नति से व्यक्तिगत और जातिगत रूप में मनुष्य की उन्नति होती है और धर्म के लोप होने पर मनुष्य क्रमशः पुनः पाशव रूप में उतर आता है।

वक्ता—वत्स, वास्तव में ही धर्म की उन्नति और विशुद्धि से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति होती है। 'धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु'—धर्म-रूप कल्पवृक्ष का आशय ले लेने पर मनुष्य की कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती। मनुष्य सब विषयों में परमानन्द प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है।

जिज्ञासु—ये सब बातें तो हुईं। अब प्रस्तावित विषय में मेरे सन्देह को दूर करके मुझे कृतार्थ करें।

वक्ता—वत्स, मैं कहता हूँ, तुम चित्त लगा कर सुनो। आलोचना के लिये धर्म-तत्त्व को दो भागों में बाँट लेने से सुभीता होगा। धर्म का एक नित्य और अविनश्वर रूप है, जिसका कुछ-कुछ आभास मैं तुम्हें पहले बातों ही बातों में करा चुका हूँ। उसके सम्बन्ध में पीछे आलोचना करूँगा। परन्तु धर्म का एक रूप और है, जो व्यावहारिक होने के कारण अनित्य होने पर भी स्वाभाविक है। चिरस्थायी न होने पर भी प्रथमतः इसकी आवश्यकता है। यह अनित्य प्राकृतिक धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेद से दो प्रकार का है। अवश्य ही यहाँ मैं पुरुषकार-मूलक कृत्रिम धर्म की बातें नहीं कह रहा हूँ।

जिज्ञासु—आपने जो प्रवृत्ति को धर्म का एक अंग बतलाया, यह बात ठीक समझ में नहीं आयी, क्योंकि प्रवृत्ति तो वासनामलिन जीव के लिये स्वाभाविक है। यदि इसको धर्म के अन्तर्गत माना जाय तो फिर अधर्म का क्या लक्षण किया जायगा ? मैं तो समझता हूँ कि प्रवृत्ति का निरोध किये बिना धर्म-जीवन की सूचना ही नहीं हो सकती। फिर आप निवृत्ति-धर्म के अतिरिक्त एक नित्य धर्म और बतलाते हैं, यह बात भी ठीक समझ में नहीं आयी। निवृत्ति के फलस्वरूप जीव अनन्त काल के लिये शान्तिदेवी की गोद में जा पहुँचता है—फिर उसके लिये धर्म की कौन सी बात शेष रह जाती है।

वक्ता—वत्स, तुम्हारे दूसरे संशय का समाधान मैं अभी नहीं करूँगा। कारण, नित्यधर्म की आलोचना के प्रसंग में यह बात समझाने से तुम्हें समझने में विशेष सुविधा होगी। तुम्हारे पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि, 'प्रवृत्ति होने से ही अधर्म होगा', ऐसी कोई बात नहीं है। 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला', यह बात सत्य अवश्य है, परन्तु इतना याद अवश्य रखना चाहिए कि प्रवृत्ति की समाप्ति न होने तक निवृत्ति का उदय होने की कोई भी आशा नहीं है। तुमने जो व्यावहारिक दृष्टि से निवृत्ति को ही उत्तम कहा, इस बात को मैं भी मानता हूँ। परन्तु बात यह है कि प्रवृत्ति का दमन करके अथवा बलपूर्वक उसे रोककर निवृत्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। कारण, 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?' जिन उपादानों से जीव का जीवत्व है—अवश्य ही यहाँ मैं बद्ध जीव के विषय में ही कह रहा हूँ—वे स्वभाव से ही बहिर्मुख हैं। जब तक यह बहिर्मुखी गति शान्त नहीं होगी, तब तक निवृत्ति की आशा करना क्या दुराशा नहीं है ? अन्तर में जो भोगाकांक्षा विद्यमान है, उस आकांक्षा को तृप्त न कर यदि उसे अभिभूत करने की चेष्टा की जायगी, तो क्या वह चेष्टा कभी सफल हो सकती है ? विरोधी प्रबल शक्ति के द्वारा कुछ समय के लिये वह अभिभूत हो सकती है, परन्तु अवसर मिलते ही वह दूने वेग से पुनः जाग्रत् हो उठेगी। कारण, जिस बाह्य शक्ति के प्रयोग से उस आकांक्षा को अभिभूत किया जाता है, वह शक्ति चाहे कितनी ही प्रबल हो, एक दिन उसका क्षय अवश्यम्भावी है। अतएव उस दिन अतृप्त वासना का पुनः उदय होना निश्चित है।

जिज्ञासु—तब क्या आप संयम की कोई भी सार्थकता नहीं मानते ? यदि प्रवृत्ति के निरोध की कोई आवश्यकता ही न हो तो फिर मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में निवृत्ति की भी आवश्यकता कैसे समझी जा सकती है ? निवृत्ति का प्रवृत्ति से विरोध है। अतएव प्रवृत्ति की सार्थकता स्वीकार करते ही प्रकारान्तर से निवृत्ति की उपयोगिता कुछ अंश में कम हो ही जाती है।

वक्ता—वत्स, तुम मेरी बात को अभी समझ नहीं सके। निवृत्ति को अनुपयोगी बतलाना तो दूर रहा, मैं तो उसका प्राधान्य ही मानता हूँ। वस्तुतः निवृत्ति के विना धर्ममार्ग के पहले सोपान पर भी पैर नहीं रखा जा सकता। परन्तु अभिप्राय यह है कि केवल निवृत्ति-निवृत्ति चिल्लाने से ही तो हृदयस्थ चिर-सञ्चित वासना की

जड़ नहीं उखड़ सकती। सृष्टि के सभी पदार्थ विषम-भावापन्न हैं; जब तक साम्यभाव नहीं आता, तब तक सृष्टि-चक्र से बाहर निकलने की आशा अलीक आकाश-कुसुम-मात्र है। ऋणशोध किये बिना जैसे छुटकारा नहीं मिलता, उसी प्रकार अतृप्त वासना को लेकर संसार-सागर से तरा नहीं जा सकता। वासना की निवृत्ति हुए बिना मुक्ति की चेष्टा वृथा श्रममात्र है। अब बात यह है कि वासना की तृप्ति या भोग से वासना की निवृत्ति सम्भव है या नहीं। इसी पर विचार करना है। यह सभी जानते हैं कि प्यास लगने पर जल पीना पड़ता है और जल पीने से पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु वह निवृत्ति क्या वास्तविक निवृत्ति है ? अवश्य ही नहीं है। यदि होती तो कालान्तर में पुनः पिपासा क्यों लगती ? अतएव यह मानना पड़ता है कि सामयिक जलपान द्वारा पिपासा की सामयिक निवृत्ति होने पर भी उसका ऐकान्तिक उपशम नहीं होता। हमारे उपादान के अन्दर अभाव का एक ऐसा स्रोत है, जिसको किसी भी वस्तु के द्वारा हम सदा के लिए निवृत्त नहीं कर सकते। यदि उपादानगत इस अभाव को हम उपादान से निकाल दे सकें, तो फिर कभी अभाव के बोध की सम्भावना ही नहीं है। परन्तु यहाँ अभाव-बोध को हटाने के साथ-ही-साथ बोध-भाव तक का लोप हो जायगा; क्योंकि बोधभाव को जाग्रत् रखने के लिये उसके एक अवलम्बन की नितान्त आवश्यकता है। पक्षान्तर में, उपादान-स्थित उस अभाव को न हटाकर यदि उसके उपयुक्त किसी भाव-वस्तु की उसके साथ योजना कर दी जाय, तो वह अभाव-बोध तृप्ति के आनन्दरूप से उज्ज्वल होकर जाग उठता है। प्रतिक्षण नाना रूपों से जो अभाव का आविर्भाव हो रहा है वह उस मौलिक एक ही अभाव की अभिव्यक्ति है। अतएव यदि किसी कौशल से उस मूल अभाव को जान लिया जाय और उसकी तृप्ति के लिए सम्यक् उपाय से काम लिया जाय, तो वह अभाव और उसके निवृत्त करने का उपाय दोनों परस्पर मिलकर एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द का विकास कर देगें, जिससे फिर अभावबोध की जागृति के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जायगा।

जिज्ञासु—ऐसा भी कभी हो सकता है ? संसार में ऐसी साध्य वस्तु कौन-सी है, जिसके द्वारा अभावबोध या आकांक्षा सदा के लिए निवृत्त हो सकती हो ? मान लीजिए, मुझे प्यास लगी—मैंने जल पीया, प्यास निवृत्त हो गयी। परन्तु वह निवृत्ति अन्तिम निवृत्ति नहीं है। कारण, फिर प्यास लगेगी, फिर जल पीना पड़ेगा। काल-प्रवाह से पिपासा और जलपान की पुनः पुनः एक के बाद एक की आवृत्ति होती रहेगी। बार-बार जल पीना पड़ता है, इस कष्ट से बचने के लिये एक ही बार सारा जल नहीं पीया जा सकता। कारण, जितनी प्यास है, उससे अधिक पीने की शक्ति ही नहीं है। इसीलिए, आपने जो कुछ कहा, मैं उसे अच्छी तरह हृदयंगम नहीं कर सका।

वक्ता—तुम्हारे न समझने का कारण मैं जानता हूँ। जगत् के भीतरी रहस्य को अभी तुम नहीं जानते हो, इसी से तुम्हारा संशय नहीं मिटता। परन्तु इस एक बात पर थोड़ा-सा विचार करने पर तुम सत्य का किंचित् आभास पा सकते हो। देखो, जब प्यास से व्याकुल होकर हम जल पीते हैं, तब वस्तुतः सम्पूर्ण जल हमारा

ग्राह्य नहीं होता, जल का जो सार है—एक शब्द में जिसे 'रस' कहा जा सकता है, हमारे लिये वही उपादेय होता है। बहुत-से जल में भी एक क्षुद्र कण से अधिक रस का मिलना निश्चित नहीं है। परन्तु कणमात्र होने पर भी उसमें ऐसी असाधारण शक्ति है कि वह दीर्घकाल-पर्यन्त पिपासा को निवृत्त करके शान्तिदान कर सकता है। पिपासा अग्नि का धर्म है; देह में अग्नि की क्रिया होने के कारण ही पिपासा का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार रस सोम का धर्म है। इस अग्नि को शान्त करने के लिए इस सोमबिन्दु के अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी उपाय नहीं है। अवश्य ही यहाँ प्रसङ्गतः हम एक ही दिशा को लेकर आलोचना कर रहे हैं। परन्तु सभी दिशाओं में इसी प्रकार समझना होगा। जीव के हृदय में जो भोगाकांक्षा है, वस्तुतः वह अग्नि का ही विकास-मात्र है, यद्यपि वह आधार-भेद के कारण नाना प्रकार से प्रकट होती है। भोग्यरूप सोम या अमृत का बिन्दु अर्पण किये बिना इस आकांक्षा की निवृत्ति नहीं हो सकती—यह अग्नि साम्यभाव को प्राप्त नहीं कर सकती।

जिज्ञासु—शास्त्र कहता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

काम्य वस्तु के भोग से कामना की शान्ति नही होती। अग्नि में घी डालने से जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही काम्य वस्तु की प्राप्ति और उपभोग से कामना का ह्रास न होकर उसकी उलटी वृद्धि होती है। यदि यह सत्य है, तो आपके सिद्धान्त के साथ इसका सामञ्जस्य कहाँ होता है, यह बात समझ में नहीं आती। कारण, आप कहते हैं कि सोम के सम्बन्ध से ही अग्नि की शान्ति होती है; और मैं देखता हूँ तथा मुझे मालूम होता है कि गीता में भी यही कहा गया है कि, 'भोग्य वस्तु के सम्बन्ध से भोग की वृद्धि होती है'। मैं बहुत ही स्थूलबुद्धि हूँ, अतएव अनुग्रह करके मुझे और भी स्पष्ट रूप से समझाइए।

वक्ता—काम्य वस्तु के उपभोग से कामना की शान्ति नहीं होती, वरन् वृद्धि होती है, तुम्हारा यह कथन अवश्य ही ठीक है। क्योंकि विशुद्ध भोग्य वस्तु न मिलने के कारण भोगाकांक्षा तृप्त नहीं होती। जगत् में जितनी भी भोग्य वस्तुएँ देखने में आती हैं, वे सभी मिश्र हैं। सभी भोग्य वस्तुओं में सोम अथवा अमृत भी है, परन्तु उसके साथ ही आगन्तुक मल इतने अधिक परिमाण में है कि उससे पृथक् करके सोमकला को ग्रहण नहीं किया जा सकता। इधर, जागतिक भोक्ता भी विशुद्ध भोक्ता नहीं है। विशुद्ध भोक्ता न होने के कारण भोगजनित आनन्द भी बन्धन का हेतु ही बन जाता है। जैसे सोम विशुद्ध भोग्य है, वैसे ही अग्नि विशुद्ध भोक्ता है; किन्तु जगत् में साधन-संस्कार के बिना ऐसा कोई जीव देखने को नहीं मिल सकता, जिसमें शुद्ध अग्नि प्रज्वलित हो चुकी हो। सौभाग्य से जिनके अन्दर यह अग्नि जल उठी है, वे दिव्य भाव को प्राप्त होकर अग्निरूप मुख का अवलम्बन करके दृष्टि के द्वारा ही

भोग्यनिहित अमृत का आस्वाद लेते हैं। देवता अमृत का भोग करते हैं और उनके भोग जो दृष्टि से ही सम्पन्न हो जाते है—यह बात तो तुमने सुनी ही होगी। साधक भी इसी प्रकार दिव्य भाव को प्राप्त होने पर वैसा ही शुद्ध दिव्य भोग का अधिकारी हो जाता है। 'अग्निर्वै देवानां मुखम्'—शास्त्र के इन वचनों में बड़ा गूढ़ अर्थ भरा है।

जिज्ञासु—आपके विवेचन से प्रतीत होता है कि विशुद्ध भोगों से बन्धन नहीं होता; तृप्ति ही होती है। विशुद्ध भोगी भोग्य वस्तु के असार अंश को त्याग कर शुद्ध सार अंश को ही ग्रहण करता है, और उससे भोग-तृष्णा निवृत्त हो जाती है।

वक्ता—यही बात है, परन्तु एक बात याद रखनी चाहिए। जो मिश्र-भोग करता है तथा जो भोग्य का केवल सार अंशमात्र ही ग्रहण करता है, भोग-तृष्णा तो निस्सन्देह दोनों की ही निवृत्त होती है और दोनों प्रकार से होनेवाली तृष्णा-निवृत्ति सामयिक है, यह भी निश्चित है। तथापि इन दोनों में बड़ा भेद है। कारण, मिश्र भोग्य ग्रहण करने से तृष्णा के सामयिक निवृत्त होने पर भी, वस्तुतः तृष्णा की वृद्धि होती है। परन्तु शुद्ध भोग से तृष्णा क्रमशः क्षीण हो जाती है। इस बात को मैं और भी स्पष्ट करके समझाता हूँ; विशेष मन लगाकर समझने की चेष्टा करना। थोड़ी देर के लिये मान लो, तुम्हारी भोगाकांक्षा का परिमाण आठ कला है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर प्रसुप्तरूप से है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। जब तक किसी उत्तेजक कारण को पाकर यह सोयी हुई तृष्णा जाग्रत् नहीं होती, तब तक उसकी सत्ता का पता नहीं लगता। परन्तु जब किसी उद्दीपक कारण के प्रभाव से वह प्रकट हो जाती है, तब उसके गुण और क्रिया कार्य-क्षेत्र में दिखायी देते हैं। परन्तु उद्दीपक कारण के तारतम्य से प्रसुप्त भोगाकांक्षा का न्यूनाधिक कुछ ही अंश अभिव्यक्त हो सकता है। जितना अंश अभिव्यक्त होता है, ठीक उसी परिमाण में भोग प्राप्त हुए बिना उसकी शान्ति नहीं होती। यदि वहाँ उस आठ कला भोगाकांक्षा की केवल एक ही कला प्रकट हुई हो और यदि उसे विशुद्ध भोग्य नहीं प्राप्त हो, तो यद्यपि भोग्य वस्तु के सम्बन्ध से उसकी सामयिक तृप्ति होती है—थोड़े समय के लिए वह जागी हुई भोगाकांक्षा की एक कला दब जाती है,—परन्तु उसकी सदा के लिए निवृत्ति नहीं होती, वरन् बाह्य मल का सम्बन्ध होने के कारण उसकी मात्रा और भी बढ़ जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षा सम्भवतः नौ कला हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बार एक-एक कला बढ़ती ही चली जाती है। पुनः पुनः भोग के द्वारा भोगशान्ति न होकर भोगों की क्रम-वृद्धि का यही कारण है। परन्तु वह भोग्यवस्तु यदि विशुद्ध अमृतरूप होती है—यदि उसमें आगन्तुक मल का सम्बन्ध नहीं रहता—तो उसके भोग से सामयिक भोग-शान्ति तो होती ही है, क्रमशः भोग की मात्रा भी घट जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षा में सम्भवतः एक कम होकर वह सात ही रह जाती है। और निरन्तर इस प्रकार होते-होते अन्त में भोगाकांक्षा सर्वथा लुप्त हो जाती है। तब वह विशुद्ध भोक्ता साक्षी या उदासीन द्रष्टा बनकर प्रकृति का खेल देखता रहता है।

जिज्ञासु—आपकी व्याख्या-प्रणाली से एक गहरे सत्य का पता लगा। एक ओर भोग से भोग की वृद्धि होती है और क्रमशः बन्धन दृढ़ होता है, यह बात समझ में आयी और दूसरी ओर भोग से ही भोग का नाश होता है और अन्त में भोग-शून्य होकर परम शान्ति का उदय होता है। दोनों ही भोग हैं, परन्तु दोनों में बड़ा भेद है।

वक्ता—हाँ, तुमने ठीक समझा है। जिस भोग से भोग का नाश होता है, वह भोग वैध है; और जिससे भोग की मात्रा बढ़ती है वही निषिद्ध है। विधिनिषेध की विस्तृत व्याख्या मैं यहाँ नहीं करूँगा। परन्तु वैध भोग निन्दनीय विषय नहीं है और वही त्याग का एकमात्र मार्ग है, इसी बात को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिये मैं अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा करता हूँ। तुमने कहा था, प्रवृत्ति-मार्ग धर्म के अन्दर कैसे आ सकता है ? इस बात को मैं नहीं समझ सकता। मैं आशा करता हूं, अब तुम्हारी उस शङ्का का कुछ समाधान हुआ होगा। वस्तुतः प्रवृत्ति का आश्रय लिये बिना निवृत्ति का पाने का दूसरा उपाय ही कहाँ है ? कोई कुछ भी करें या कहें, जगत् में अधिकांश मनुष्य प्रवृत्ति के गर्भ में ही पड़े हुए हैं। प्रवृत्ति के सर्वथा त्याग का उपदेश देना वृथा है। क्योंकि, वह उपदेश फल उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता। केवल निषिद्ध प्रवृत्ति को छोड़कर, वैध प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करना ही शास्त्रोपदेश का तात्पर्य है। प्रवृत्तिमात्र ही निवृत्ति की विरोधिनी नहीं है—शुद्ध प्रवृत्ति तो निवृत्ति में प्रधान सहायक है। मैं आशा करता हूँ, अब तुम इस बात को समझ रहे हो।

जिज्ञासु—हाँ, अब मैं बहुत कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु इस प्रसंग में एक बात जानने की इच्छा होती है। आप अनुमति दें तो पूछूँ ?

वक्ता—तुम जो चाहो, पूछ सकते हो। मैं अपनी समझ के अनुसार विवेचन करने की चेष्टा करूँगा।

जिज्ञासु—आपने कहा है कि सांसारिक जीव—जो अभी अपने अन्दर विशुद्ध अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सका है—अशुद्ध भोग्य वस्तु का भोग करता है। निश्चय ही वह विशुद्ध भोग नहीं है और उसके फलस्वरूप भोग की वृद्धि होती है। यहाँ पर मैं पूछना चाहता हूँ कि यह भोग-व्यापार किस प्रकार निष्पन्न होता है, जिससे जीव देवता की भाँति विशुद्ध भोक्ता न होकर, मुक्त-भाव से भोग करने में समर्थ न होकर भोग के साथ ही भोग से बँध जाता है ?

वक्ता—वत्स, भोक्ता और भोग्य, अन्नाद और अन्न, अग्नि और सोम—ये एक ही मूल वस्तु के दो विभक्त रूप हैं। जिस अनिर्वचनीय कारण से महाबिन्दु विक्षुब्ध होता है एवं जगत्-सृष्टि को सूचना होती है, उसी कारण से मूल ज्योति विभक्त होकर एक ओर अग्नि और दूसरी ओर सोम के रूप में आविर्भूत होती है। अग्नि सोम को चाहता है और सोम अग्नि को। ये दोनों एक दूसरे को खींचते रहते हैं। किसी भी उपाय से हो, अग्नि के साथ सोम का मिलन होते ही अग्नि का अग्नित्व

और सोम का सोमत्व विलुप्त होकर, दोनों के संयोग से दोनों के अन्तर्निहित परम सत्ता का आविर्भाव हो जाता है। अतएव विशुद्ध सोम-बिन्दु के विशुद्ध अग्नि के सम्मुख होते ही दोनों मिल जाते हैं। और इस मिलन से आनन्द का आविर्भाव होता है, वही यथार्थ आनन्द है। वह एक पक्ष से भोग होने पर भी पक्षान्तर से आंशिक भाव से मुक्ति भी है। साधारण जीव साक्षात् रूप में भोग्य वस्तु से इस अमृत का आकर्षण करके उसका पान नहीं कर सकता और इस आनन्द को न पाने से उसकी सामयिक तृप्ति भी नहीं होती। प्रकृति के विचित्र कौशल से उसका देह-यन्त्र इस प्रकार से बना हुआ है कि उस अशुद्ध भोग्य वस्तु से उन यन्त्रों की सहायता द्वारा क्रमशः विशुद्ध रस निकाला जाकर आनन्दमय कोश-स्थित दिव्य-भावापन्न जीवात्मा के भोग के लिये लाया जाता है। भोग्य वस्तु से ही क्रममन्थन-नीति के अनुसार निम्न स्तर के कोश अपनी-अपनी भूमि के लिये उपयोगी रस खींचकर उससे पुष्टि-लाभ करते हैं। वास्तव में इस सोम-रस से ही पञ्चकोश अपनी-अपनी मात्रा ग्रहण करके तृप्त होते और जीवित रहते हैं। परन्तु तुम्हें यह निश्चय जान रखना चाहिये कि यह पुष्टि कालमार्ग में ही सम्पन्न होती है—इसलिए यह पुष्टि होने पर भी क्षय का ही प्रकार-भेद है। कारण, मलिन देह के प्रत्येक स्तर में बुभुक्षु अग्नि विद्यमान है। यह अग्नि विशुद्ध न होने के कारण उस स्तर में ही रस को शुष्क कर डालती है। फलस्वरूप आनन्दमय कोश तक शुद्ध रस बहुत ही अल्प मात्रा में पहुँच सकता है। यही जरा और मृत्यु का कारण है; किसी अन्य समय तुम्हें यह बात समझा दी जायगी। शुद्ध भोग के बिना जरा और मृत्यु से शून्य अवस्था का आविर्भाव नहीं हो सकता।

अब, एक बार फिर विचार करके देखो कि अशुद्ध भोग से भोग-वासना की निवृत्ति क्यों नहीं होती।

जिज्ञासु—अब आप प्रस्तावित विषय को समझाइए। कहीं संशय होगा तो निवेदन करूँगा।

वक्ता—मैं कह रहा था कि, अनित्य और व्यावहारिक धर्म भी प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेद से दो प्रकार का है। कौशलपूर्वक भोग का नाम ही प्रवृत्ति-धर्म है। अर्थात् भोग का एक ऐसा कौशल है कि जिसका अवलम्बन करने से भोग द्वारा ही भोग का अवसान हो जाता है। तब निवृत्ति आप ही आ उपस्थित होती है। उसके लिए पृथक् रूप से चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इस कौशल का अवलम्बन नहीं किया जा सकने पर ही भोग बन्धन का कारण हो जाता है वह कभी धर्म-पद-वाच्य नहीं हो सकता। चित्त में जब तक जिस विषय के संस्कार रहेंगे तब तक उस विषय का त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायों से यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। पहले जो अग्नि और सोम की बात कही थी, यदि भोग-कौशल के द्वारा उस अग्नि और सोम का मिलन करा दिया जाय, तो चित्त में स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध भोग्य वस्तु के मिलने से तृप्त होकर शान्त

हो जाती है और ऐसा होने पर उसके फिर उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह साम्यभाव धारण कर लेती है। इस अवस्था में निवृत्ति-देवी का आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है। फिर शुद्ध भोक्ता भी पूर्णत्व को प्राप्त होकर भोग के अतीत शुद्ध साक्षिभाव से स्थित हो जाता है।

जिज्ञासु—आपकी बात मैं समझ गया, खूब युक्तिसङ्गत मालूम होती है। परन्तु कार्यक्षेत्र में इसकी उपयोगिता कितनी है, यह बात अभी समझ में नहीं आती। कारण, हम लोग सांसारिक जीव हैं। हमें शुद्ध भोग का अधिकार नहीं है। और जिन सब भोग्य वस्तुओं द्वारा हम जगत् में घिरे हुए हैं, उनमें भी एक भी विशुद्ध नहीं है। इस स्थिति में हमारे लिये तो विशुद्ध भोग की सम्भावना ही कहाँ है ? और जब विशुद्ध भाग असम्भव हो गया, तब प्रवृत्ति-धर्म का पालन हमसे किस प्रकार हो सकता है ?

वक्ता—वत्स, तुम्हारी शंका ठीक है, परन्तु कुछ विचार करने पर यह शंका दूर हो सकती है। निश्चय ही भोग्य वस्तु मिश्रभावापन्न है, परन्तु उसमें कुछ अंश शुद्ध सत्त्व का भी अवश्य है। परन्तु नाना प्रकार के मलों से मिश्रित होने के कारण उसे खींचकर बाहर निकालना कठिन है। जीव का दैहिक यन्त्र इस प्रकार से बना हुआ है कि साधारण अवस्था में उसके द्वारा भोग्य वस्तु से शुद्ध सत्त्व के अंश को विश्लेषण करके निकालकर आनन्दमय कोश तक ठीक-ठीक पहुँचाया नहीं जा सकता। परन्तु ऐसा सूक्ष्म उपाय भी है, जिसके द्वारा वह शुद्ध सत्त्व-बिन्दु अपेक्षाकृत सहज रूप में आनन्दमय कोश तक उठकर तथा उसके ऊपर विराजमान परमात्मा में निवेदित होकर प्रसादरूप में कारण-शरीर में जीवात्मा का भोग बन सकता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—ईशोपनिषद् के इस मन्त्र में त्याग और भोग का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। इसको और भी स्पष्ट करके कहता हूँ। यदि लोहे के लाखों छोटे-छोटे कण दूसरी-दूसरी वस्तुओं के बहुत-से कणों के साथ मिले होकर जहाँ-तहाँ बिखरे हों और दूसरी वस्तुओं को छोड़कर शुद्ध लोहे के उन कणों का एक जगह संग्रह करना हो तो इसका एकमात्र उपाय है चुम्बक को उन कणों के पास ले जाकर रख देना। चुम्बक का स्वभाव ही लोहे के कणों का आकर्षण करना है; अतएव उसकी आकर्षण-सीमा के भीतर जितने लोहे के कण पृथक्-पृथक् बिखरे होंगे, वह निश्चय ही उन सबको खींच लेगा। इसी प्रकार हमारी भोग्य वस्तुओं में जो शुद्ध सत्त्व के कण हैं, उन्हें उस शुद्ध सत्त्व के ही एक अंश के अवलम्बन से हमारा आनन्दमय कोश और नीचे के समस्त कोश अपने-अपने सत्त्व के अनुसार चुम्बक-धर्म को प्राप्त कर स्वाभाविक ही अपनी-अपनी पुष्टि के लिए भोग्य वस्तुओं में से खींच लेंगे। इस उपाय से मन्थन अथवा विवेक-क्रिया द्वारा यदि भोग्य वस्तुओं का विश्लेषण किया जा सके तो चुम्बकाकर्षण के प्रभाव से उनका सत्त्वांश कोशों में पहुँचकर उनको तृप्त कर सकता है।

कहना नहीं होगा कि मैंने जिस प्रवृत्ति-धर्म के विषय में कहा है, यही उसका स्वरूप है। जगत् की भोग्य वस्तुएँ निर्मल और शुद्ध सोममय नहीं हैं, इसीलिये तो इस प्रकार के विवेक की आवश्यकता है। शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओं को परस्पर पृथक् कर

देने का नाम ही विवेक है। विवेक होने पर असार अंश के प्रति वैराग्य और सार अंश के प्रति अनुराग या आकर्षण होना स्वाभाविक है। स्थूल-रूप से विचार करने पर भी यही बात प्रतीत होती है। हम भोग्यरूप में जो कुछ भी खाते है, भीतर पहुँचने पर पूर्वोक्त प्रकार से उसका विश्लेषण होता है और असार अंश स्वभाव के नियम से ही देह का पुष्टिकारक न होकर क्षतिकारक होने के कारण देह से निकाल दिया जाता है और सार अंश देह में रहकर उसका पोषण करता है। यह सार अंश भी अवश्य ही सर्वथा विशुद्ध नहीं होता, इसीलिये विश्लेषण की क्रिया क्रमशः होती ही रहती है और साथ-ही-साथ उस-उस भूमि में असार अंश का त्याग और सार अंश का ग्रहण होता रहता है। साधारण खाद्य वस्तु के सम्बन्ध में जो नियम है, वही एक नियम समस्त भोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जिज्ञासु—इन्द्रिय-द्वारों से रूप, रस आदि विषयों का ग्रहण भी क्या इसी नियम से होता है।

वक्ता—इसमें सन्देह ही क्या है? भोक्ता के भोग के लिए किसी भी द्वार से कोई भी विषय ग्रहण किया जाय, सर्वत्र एक ही नियम है। चक्षु के द्वारा जब तुम किसी रूप का ग्रहण करते हो, तब यदि तुम निरपेक्ष द्रष्टा होकर उसको नहीं देख सकते, तो समझना चाहिये कि वह रूप-दर्शन भी तुम्हारे भोग के सिवा और कुछ नहीं है। गम्भीर रात्रि के निस्तब्ध आकाश में जब तुम दूर से आयी हुई मधुर वंशीध्वनि सुनते हो और सुनते-सुनते स्वप्नमय भाव के आवेश में तन्मय हो जाते हो, तब यदि वह तुम्हें अच्छी लगती है तो समझ लो कि वह भी तुम्हारा भोग-विशेष है। इसी प्रकार सब जगह समझो। हमारी साधारण सांसारिक अवस्था में हम इन रूप-रसादि समस्त विषयों का अपने-अपने प्राक्तन संस्कारों के वश में होकर नाना प्रकार से भोग करते हैं। परन्तु इस भोग से भोग का नाश नहीं होता, हमारी अजानकारी में भोगाकांक्षा दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली जाती है। इसका कारण यह है कि हम लोग उचित रीति से भोग करना नहीं जानते। भगवान् के मङ्गलमय विधान में अशुभ कुछ भी नहीं है। उचित रीति से भोग करने पर हम जान सकेंगे कि भोग भी मङ्गलमय है; किसी भी अंश में अमङ्गल नहीं है।

यथार्थ में बात यह है कि, त्याग के साथ भोग को एक सूत्र में ग्रथित नहीं किया जाता, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—इस नियम का अनुसरण नहीं होता। इसीलिए भोग के मङ्गलमय रूप का दर्शन हम नहीं कर पाते। इसीलिये हमारे भोग धर्म के अन्तर्गत न समझे जाकर अधर्म के अंग बन जाते हैं।

जिज्ञासु—हम लोग जो रूप-दर्शन या शब्द-श्रवण आदि करते हैं, वह भोग के अन्तर्गत है, इस बात को मैं खूब समझता हूँ। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यह भोग भी विशुद्ध भोग नहीं है। परन्तु बात यह है कि चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो रूप

देखा जाता है—उसमें ऐसा क्या कौशल हो सकता है, जिससे वह दर्शन विशुद्ध भोग-रूप में परिणत हो सके और अपने को शुद्ध-दर्शन या आत्मदर्शन रूप से प्रकट कर सके ?

वक्ता—अवश्य, ऐसा कौशल तो है ही। पहले चुम्बक के दृष्टान्त से जिस तत्त्व को समझाने की चेष्टा की गयी है, यहाँ भी उसी का स्मरण करना चाहिये। यह सत्य है, कि हम जो रूप देखते हैं, वह विशुद्ध रूप नहीं है। विशुद्ध रूप के दर्शन हो जाते तो अन्य इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि नेत्र भी रूप के गहरे नशे में विह्वल हो जाते। क्षण-भर के बाद ही वह दूसरे रूप की खोज में नहीं निकल पड़ते। तुमने कभी उस यथार्थ रूप को देखा नहीं है, इसीसे तुम्हारी धारणा में शायद उस शुद्ध रूप की महिमा अभी नहीं आ सकेगी। उस शुद्ध रूप के साथ आँखों का सम्बन्ध हो जाने पर फिर वे दूसरी किसी ओर दौड़ ही नहीं सकतीं। यही नियम सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जिज्ञासु—आपने जिस कौशल की बात कही थी अब उसके सुनने की इच्छा होती है।

वक्ता—उस कौशल को ठीक-ठीक समझ सकने की अभी सम्भावना न होने पर भी तुम्हारी उत्सुकता की निवृत्ति के लिये मैं संक्षेप में कुछ कहता हूँ। जैसे खाद्य वस्तु देह के अन्दर जाकर दैहिक यन्त्र की क्रिया द्वारा विश्लिष्ट होती है और उसका सार अंश क्रमशः ऊपर की ओर सञ्चारित होता है, इसी प्रकार रूप-रसादि कोई भी विषय, जो इन्द्रिय द्वारा आहरण किया जाता है, वह भी देह के अन्दर जाकर विश्लिष्ट होता है और उसका सत्त्वांश नाड़ी-पथ से ऊपर की ओर प्रवाहित होकर भोक्ता के भोग-स्थान पर पहुँच जाता है। कारण, भोग-स्थान पर पहुँचे बिना किसी भी वस्तु को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। रूप देखने पर जो आनन्द होता है, वह भी भोग-विशेष है—वह आनन्द भी बाह्य विषय भोक्ता के समीप भोग्यरूप में उपस्थित हुए बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सकाम मलिन भोग तो भोग्य-वस्तुमात्र से ही बद्ध जीव को निरन्तर ही होता रहता है। परन्तु विशुद्ध भोग सहसा उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण, जब तक द्रष्टा होकर विषय का ईक्षण नहीं किया जा सकता, तब तक भोग की विशुद्धि नहीं हो सकती। भोग-शोधन के मूल में दो रहस्य हैं—एक है आधार का शोधन और दूसरा है उसका बोधन। अभी चित्त को ही आधार मान लो। वास्तव में बिन्दु ही आधार है, ब्रह्मचर्य के बिना बिन्दु की शुद्धि नहीं हो सकती। बिन्दु के शुद्ध हुए बिना उसमें बोध-शक्ति का सञ्चार करना निष्फल है। बल्कि, कभी-कभी तो ऐसा करना हानिकारक होता है। बिन्दु ही वह मूल सत्ता है, जिससे देहादि विकास को प्राप्त हुए हैं। इस सत्त्व को शुद्ध करके उसमें चैतन्य का उज्ज्वल प्रकाश प्रतिफलित कर देने पर उसको सहज ही ऊपर की ओर खींचा जा सकता है। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्य की भित्ति-स्वरूप हैं। यहाँ अभी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठित हुए बिना प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म की साधना हो ही नहीं सकती। इसीलिए प्राचीन काल में पहले (ब्रह्मचर्य) आश्रम में ही बिन्दु को

स्थिर करके, दूसरे (गृहस्थ) आश्रम में विवाह करके प्रवृत्ति-धर्म का पालन करने की व्यवस्था थी। वैदिक युग का वह गार्हस्थ्य धर्म ही यथार्थ प्रवृत्ति-धर्म का सामाजिक विन्यास था।

सत्त्वशुद्धि और ज्ञानोदय हुए बिना रूप-रसादि विषय-भोग सम्भोग के अन्तर्गत रहते हैं; उनसे क्रमशः भोग-त्याग होने की कोई सम्भावना नहीं है।

जिज्ञासु—स्थिररेता और जातप्रज्ञ पुरुष के सामने रूपादि विषय आने पर उसके देह के अन्दर किस प्रकार की क्रिया होती है, अब यह बात समझाइए?

वक्ता—पहले ही कहा जा चुका है कि, जैसे चुम्बक लोहे का आकर्षण करता है, वैसे ही शुद्ध वस्तु शुद्ध वस्तु का आकर्षण करती है। जिसके ज्ञान का विकास हो गया है और जिसकी शुद्ध शक्ति क्रियाशील हो गयी है उसके भीतर की क्रियाएँ साधारण मनुष्यों के भीतर की क्रियाओं से भिन्न प्रकार की होती हैं। मान लो, उनके चक्षु-इन्द्रिय द्वारा रूप का ग्रहण किया गया, अन्दर प्रविष्ट होने पर उस रूप का दैहिक यन्त्र द्वारा विश्लेषण किया गया। विश्लेषण करते ही उसका सत्त्वांश ऊपर की ओर खींचा जाकर ज्ञानी आत्मा के सामने दृश्य रूप में उपस्थित हो गया। परमात्मा द्रष्टा-मात्र हैं, भोक्ता नहीं हैं। अतएव वह शुद्ध रूप, जो द्रष्टा परमात्मा का दृश्यमात्र है, अपने-आप ही वहाँ से लौटकर योगयुक्त जीवात्मा के विशुद्ध भोग्यरूप में, अर्थात् प्रसादरूप में उसके सामने अवतीर्ण हो जाता है। यह प्रसाद-भोग वास्तविक भोग नहीं है। एक प्रकार से भोग होने पर भी, दूसरे प्रकार से यह भोग का नाशक है। यही त्याग और भोग का समन्वय है।

जब तक जीवात्मा भगवत्-प्राप्य प्राकृतिक उपहारों को भगवान् की ओर न जाने देकर अहङ्कारवश या कामना से पीड़ित होकर स्वयं ही ग्रहण करने को तैयार रहता है, तब तक परमात्मा के साथ उसका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु जब जीव काम को निरुद्ध करने में समर्थ होता है और परम पुरुष की ओर प्रवाहित होनेवाले प्रकृति के स्रोत को रोकने की चेष्टा नहीं करता, तब वे प्राकृतिक उपहार परम पुरुष के समीप जाकर उनकी दृष्टि से पवित्र होकर आशीर्वाद-रूप से उसी पर बरस पड़ते हैं।

जिज्ञासु—वस्तुतः जीव की दृष्टि और उसका लक्ष्य किस ओर रहना चाहिए? भोगलिप्सु की दृष्टि तो विषयों की ओर ही रहेगी, अर्थात् वह स्वभाव से ही बहिर्मुखी होगी। और यदि किसी कारण से कामना का निरोध हो गया तो फिर उसकी बाह्य दृष्टि रहेगी नहीं, इसलिये भोग्य वस्तु उसको न तो स्पर्श कर सकती है और न बद्ध कर सकती है। इन दोनों अवस्थाओं में ही वह भगवत्-प्रसाद को कैसे ग्रहण कर सकता है?

वक्ता—जब तक जीव की इन्द्रियाँ आदि बाहर की ओर विषयों के प्रति दौड़ती है, तब तक जीव बहिर्दृष्टि या बहिर्लक्ष्य कहलाता है। संसार के अधिकांश जीव इसी

प्रकार के हैं। जब इन्द्रिय आदि करणवर्ग, चित्त और समाहृत विषय संशोधित होते हैं तब किसी प्रकार के भोग की उपलब्धि नहीं होती। इसके बाद प्रबुद्ध भाव का उदय होने पर अर्थात् ज्ञान का उन्मेष होने पर, ये करणादि सभी वस्तुएँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। सुतरां उस समय जीव भी अन्तर्मुख हो जाता है। इस अवस्था में विक्षुब्ध प्रकृति का जो स्रोत स्वाभाविक नियम से परमात्मा की ओर बहता है, वही लौटकर उस उन्मुख जीव के शुद्ध भोग के उपकरणरूप में परिणत हो जाता है—यही प्रसाद है।

अब प्रवृत्ति-धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में तुम्हें और कुछ पूछना हो तो पूछ सकते हो।

जिज्ञासु—प्रवृत्ति-मार्ग के धर्म के सम्बन्ध में मैं जो कुछ समझ सका हूँ, इससे उसके रहस्य का कुछ-कुछ आभास मिला है, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु अब यह पूछना है कि आपने प्रवृत्ति-धर्म की साधना का जिस अवस्था से प्रारम्भ होना बतलाया है, बहुत से लोग शायद उसको निवृत्ति समझेंगे। कारण, आपके मत से जब तक बिन्दु का शोधन और चित्-शक्ति का उन्मेष नहीं होता, तब तक प्रवृत्ति-धर्म की सूचना ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में जगत् में जो सब धर्मानुष्ठान प्रचलित हैं, वे तो प्रवृत्ति-धर्म के अन्तर्गत आ ही नहीं सकते। फिर निवृत्ति या अनुत्तर धर्म की बात तो बहुत ही दूर है। वास्तव में प्रवृत्ति की पूर्णता और निवृत्ति-धर्म का प्रारम्भ कहाँ है, मैं यहाँ इस बात को जानना चाहता हूँ।

वक्ता—प्रवृत्ति और निवृत्ति में सम्पूर्ण रूप से पार्थक्य है। अतएव प्रवृत्ति को निवृत्ति मानकर भ्रम में पड़ने का कोई भी कारण नहीं है। जिस धर्म के अनुष्ठान से आत्मा की समस्त शक्तियाँ विकसित और पूर्णरूप से परितृप्त होती हैं; वही प्रवृत्ति-धर्म का परम आदर्श है। यदि चक्षु किसी ऐसे रूप को देख सके, जिसके देख लेने पर रूप-दर्शन की तृष्णा फिर कभी उदय ही न हो, मेरे मत से उसका वह रूप-दर्शन शुद्ध भोग है अथवा प्रवृत्ति-धर्म का अङ्ग है। अवश्य ही इसका क्रमिक विकास है, इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु जिस रूप के दर्शन से रूप-दर्शन की लालसा तृप्त नहीं होती, उस रूप को चाहे भगवत्-रूप ही क्यों न बतलाया जाय, यथार्थ में वह शुद्ध भोग नहीं माना जा सकता। वह सांसारिक रूप-दर्शन का ही एक प्रकार-भेदमात्र है। एकाग्र-भूमि पर आरोहण करके उसे वश में कर लेने पर जैसे निरोध अपने-आप ही वश में हो जाता है, वैसे ही रूप-रसादि का शुद्ध भागवती शक्ति के रूप में सम्भोग कर लेने पर फिर कोई भी वैषयिक भोग उसे बाँध नहीं सकते।

जिज्ञासु—अब इस समय प्रवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं पूछना है। इस सम्बन्ध में मैंने जो कुछ समझा है, मेरा वह समझना ठीक है या नहीं, इस विषय में फिर कभी आपसे बातें करूँगा। सम्प्रति, मैं निवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहता हूँ। निवृत्ति-धर्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है, साधन क्या है और निवृत्ति-धर्म का पूर्ण आदर्श किस प्रकार का है?

वक्ता—प्रवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ आलोचना हुई है, उससे निवृत्ति-धर्म को हृदयङ्गम करने का मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया है। प्रवृत्ति-धर्म का आचरण किये बिना निवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान स्वाभाविक रूप से नहीं हो सकता। आत्मा की यावतीय शक्तियों की पूर्ण तृप्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति—यह प्रवृत्ति-धर्म की पराकाष्ठा है। जब ये पूर्णता को प्राप्त हुई शक्तियाँ तृप्त होकर नित्य अचल शिवभाव के साथ एकाकार हो जाती हैं, तभी निवृत्ति का आविर्भाव होता है। प्रवृत्ति की पूर्णता में भोगशक्ति और भोग्य-वस्तु—दोनों ही विशुद्ध होकर पूर्णरूप से प्रकाशित होती हैं। परन्तु निवृत्ति में यह शक्ति और भोग्य दोनों ही अव्यक्त हो जाते हैं। भोग की पूर्णता सिद्ध होने के कारण भोग अतिक्रान्त हो जाता है। सुतरां एक ओर भोग-शक्ति तृप्त होकर शुद्ध दृक्-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है और दूसरी ओर भोग्य वस्तु शुद्ध होकर केवल सत्त्वरूप से स्थित हो जाती है। इस अवस्था का पूर्ण विकास होते ही निवृत्ति-साधना का अवसान हो जाता है। प्रवृत्ति-धर्म के अन्त में विशुद्ध परमानन्द जाग्रत् रहता है। इस परमानन्द में भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों ही शुद्ध हैं। इसी प्रकार निवृत्ति-धर्म का अवसान होने पर आनन्द का आस्वादन भी अतिक्रान्त हो जाता है। अर्थात् आनन्द पूर्ण हो जाने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अथवा भोग नहीं होता। यही विशुद्ध चैतन्य-अवस्था है। इस अवस्था में द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि—तीनों अभिन्नरूप रहते हैं।

जिज्ञासु—तब तो निवृत्ति-धर्म स्वाभाविक धर्म है, उसके लिए कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भूखे का पेट भरने पर उसमें जैसे अन्नसंग्रह की चेष्टा नहीं रहती, वह आप्तकाम होकर निश्चेष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म के पूर्ण होने पर आप्तकाम-भाव का आविर्भाव हो जाने के कारण निवृत्ति का अपने-आप ही उदय हो जाता है। अतएव निवृत्ति-धर्म की साधना नहीं है। जो स्वाभाविक है, वह तो स्वभाव के नियम से आप ही होता है, उसके लिए चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती, वरन् चेष्टा तो स्वाभाविक प्रवाह में प्रतिबन्धक होती है।

वक्ता—निवृत्ति-धर्म जैसे स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म भी स्वाभाविक ही है। तुमको अब तक जो कुछ कहा गया है उसे भलीभाँति समझ लेने पर यह बात तुम्हारी धारणा में आ जायगी कि प्रवृत्ति-धर्म का अनुष्ठान भी किसी कृत्रिम उपाय से नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि जब तक पुरुष अपने पुरुषकार को त्याग कर, अभिमान छोड़कर प्रकृति का आश्रय ग्रहण नहीं करता, तब तक प्रवृत्ति या निवृत्ति किसी भी प्राकृतिक या स्वाभाविक धर्म का अनुष्ठान नहीं होता। यौवन में जैसे भोग स्वाभाविक है, वैसे ही बुढ़ापे में त्याग भी स्वाभाविक है। भोग के मूल में त्याग न रहने से जैसे वह भोग धर्मरूप में परिणत होने के योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्याग के मूल में भोग न रहने से वह त्याग भी धर्मपदवाच्य नहीं हो सकता। स्वाभाविक या प्रकृतिगत धर्म में भोग और त्याग स्वभाव के नियम से यथासमय अपने-आप आ जाते हैं। किसी के लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती। धर्म का जो नित्य आदर्श है, अर्थात् जो

यथार्थ सनातनधर्म है, उसमें अहङ्कारमूलक कृत्रिम साधना कुछ भी नहीं रहती। प्रवृत्ति-साधन के प्रारम्भिक बिन्दु से लेकर निवृत्ति-साधन के अन्तिम बिन्दु-पर्यन्त समस्त साधनचक्र प्राकृतिक या सनातन-साधन हैं। देश, काल अथवा सांसारिक विचित्रता के कारण इस नित्य-साधन के आदर्श में किसी प्रकार भी परिवर्तन नहीं होता।

जिज्ञासु—आपने प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्म का जो स्वरूप बतलाया, यही सनातन-धर्म का रहस्य प्रतीत होता है। परन्तु जगत् में जितने ऐतिहासिक धर्म हैं—यहाँ तक कि सनातन-धर्म के नाम से जो व्यावहारिक धर्म प्रचलित हैं, उनमें से कोई भी बहिरङ्गरूप से आपके द्वारा वर्णन किये हुए प्रवृत्ति-धर्म के अन्तर्गत नहीं जान पड़ता। तब, हम लोग जगत् में जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति धर्म मानते हैं, वह क्या वस्तुतः कुछ भी नहीं है ?

वक्ता—कुछ भी नहीं है, यह किसने कहा ? जो स्वाभाविक है, वही सनातन है। जो पुरुषकार-मूलक है, वह सनातन नहीं हो सकता। तुम जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहते हो अर्थात् तुम्हारे शास्त्र में जिसे धर्म-पथ और मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है, वह एक प्रकार से पौरुष-धर्म है। क्योंकि निज में कर्त्ता हुए बिना उस धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता। मैं जिस धर्म की बात कह रहा हूँ, वह पौरुष-धर्म नहीं है, अर्थात् वह कृत्रिम धर्म नहीं है—निज में कर्त्ता बनकर उसका अनुष्ठान नहीं करना पड़ता, वस्तुतः उसका कोई भी अनुष्ठाता नहीं है—हृदय में भाव का विकास होने पर वह अपने-आप ही प्रकट होता है और वह स्रोत अपने-आप ही बढ़ता रहता है। जीव जब तक आत्म-समर्पण-पूर्वक अर्थात् व्यावहारिक समस्त धर्मों का त्याग करके एकमात्र प्रकृति की शरण नहीं लेता, तब तक प्रकृति के धर्म का विकास नहीं होता। उसे धर्म-मन्दिर के बाहर ही पड़े रहना पड़ता है।

वत्स, अभिमान रहते धर्म की योजना नहीं होती। अभिमानशील जीव नित्य प्रवृत्तिधर्म का भी आचरण करने में असमर्थ होता है। जैसे शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा एक-एक कला बढ़ता हुआ पूर्णिमा के दिन पूर्ण-भाव को प्राप्त हो जाता है और फिर कृष्ण पक्ष में उसकी वे सारी कलाएँ क्रमशः क्षीण होते-होते अन्त में वह सर्वथा कलाहीन अवस्था को प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव नित्य प्रवृत्ति-पथ पर स्थित होकर स्वभाव के आकर्षण से सर्वशक्ति-सम्पन्न और परमानन्द की अवस्था को आप ही प्राप्त हो जाता है, एवं तदनन्तर क्रमशः उसकी परिपूर्ण सर्वशक्ति उपसंहृत होने पर उसका आत्म-समर्पण पूर्णता को प्राप्त करता है। इस शुक्ल पक्ष के आदर्श के अनुसार ही सामाजिक जीवन में गार्हस्थ्य-धर्म का विकास होता है और कृष्ण पक्ष का आदर्श ही संन्यास-धर्म का मूल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अब हम पूर्णबिन्दु और शून्यबिन्दु—बिन्दु की इन दोनों अवस्थाओं को समझ सके हैं। इन दोनों बिन्दुओं के समरस होने पर प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म जब

एकाकार हो जाते हैं, तब परम धर्म का उदय होता है। इस परम धर्म का रहस्य एकमात्र परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। उन्हीं की कृपा से कोई-कोई भाग्यवान् जीव चकित की भाँति उसका आभास-मात्र पाते हैं; तुमने तो बौद्धधर्म की आलोचना की है। इससे तुम यह जानते ही हो कि नागार्जुनादि महापुरुषों ने संसार और निर्वाण को इशारे से एकरस और अद्वय ही बतलाया है। यही परम धर्म का आभास-मात्र है। कारण, प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप-विरुद्ध-स्रोतों में यहाँ समन्वय हो गया है।

जिज्ञासु—इस परम धर्म की बात अभी रहने दीजिये, क्योंकि यह अत्यन्त ही गम्भीर और दुर्दर्श है। अभी तो निवृत्ति-धर्म के सम्बन्ध में ही कुछ बातें पूछनी हैं। प्रवृत्ति-धर्म के चक्र में प्रवेश करने के लिए जैसे एक अधिकार-सम्पत्ति की आवश्यकता है, वैसे ही क्या प्रवृत्ति-धर्म की पूर्णता होने पर निवृत्ति की ओर चलने के लिए भी किसी प्रारम्भिक योग्यता की आवश्यकता है ?

वक्ता—नहीं, इसमें पृथक् योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्ति की पूर्णता होते ही निवृत्ति-पथ पर चलने की योग्यता हो गयी, यह समझ लेना चाहिए। परन्तु कोई साधक स्वाधीन रूप से इस पौर्णमासी के अन्दर ही रह सकते हैं; उधर, कोई इच्छा होने पर कृष्ण पक्ष में प्रवेश कर के सारे चक्र को समेट ले सकते हैं। परन्तु एक बात है, प्रवृत्ति-गति और निवृत्ति-गति एक ही चक्राकार गति के अन्तर्गत होने पर भी दोनों में विरोध है। गति के निरुद्ध न होने पर यह विरोध आप ही समता को प्राप्त हो जाता है।

जिज्ञासु—हम लोग जगत् में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, वह तो आपके द्वारा वर्णित प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म से पृथक् ही प्रतीत होती है। इन दोनों में क्या पार्थक्य है, जिसके लिए आप इस जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति को धर्म के नित्य-आदर्श के अन्तर्गत नहीं मानते ?

वक्ता—जगत् में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, उसे एक प्रकार से कृत्रिम और पौरुष-धर्म कहा जा सकता है। अहङ्कार की प्रेरणा से अथवा 'मैं करता हूँ'—इस बोध को रखते हुए, जो कुछ भी किया जाता है, वह सभी पुरुषकार का ही प्रकार-भेद है। प्रकृति के स्रोत में पड़े बिना प्रकृति-धर्म का उदय ही नहीं हो सकता। प्रकृति के स्रोत में प्रवृत्ति और निवृत्ति का वास्तविक विरोध नहीं है; क्योंकि एक से ही दूसरी का आविर्भाव होता है। जैसे बालक युवक होता है और युवक ही वृद्धरूप में परिणत होता है, वैसे ही प्रवृत्ति से ही अपने-आप निवृत्ति का उदय होता है। जैसे एक अखण्ड जीवन-प्रवाह में बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य सभी को स्थान है, वैसे ही नित्य स्वाभाविक धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रभृति सभी को स्थान है। इस धर्म का कोई अनुष्ठाता नहीं है। इससे यह मुक्त धर्म है। परन्तु पुरुष जब तक अपने को कर्त्ता मानकर अभिमान करता है और इस अभिमान के वश होकर सब कर्मों का सम्पादन

करता है, तब तक उसके वे सभी कर्म कृत्रिम हैं। जागतिक प्रवृत्ति कृत्रिम क्यों है, जरा विचार करने से ही यह बात समझ में आ जाती है। मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह ठीक-ठीक उसको नहीं पाता और जो कुछ पाता भी है, वह भी ठीक-ठीक नहीं पाता। सुतरां जैसे उसका चाहना अपूर्ण है, वैसे ही उसकी प्राप्ति भी अपूर्ण है। जैसे—चक्षु रूप देखने के लिये व्याकुल है। परन्तु, तुम यह निश्चय समझो कि, जीव के चक्षु की यह व्याकुलता यथार्थ व्याकुलता नहीं है। यदि सचमुच आँखें रूप के लिए व्याकुल होतीं तो निश्चय ही वह रूप के दर्शन कर कृतार्थ हो जातीं। फिर यथार्थ रूप-दर्शन करने की उसकी शक्ति ही कितनी है? वंसे किसी एक रूप या आलोक-सामान्य सौन्दर्य की आभा यदि कभी भाग्यवश उसके नेत्रों के सामने आ जाती है तो उसके भोग करने की उसमें शक्ति ही नहीं रहती। अतएव जागतिक दृष्टि से देखा जाने पर यह स्पष्ट समझ में आता है कि सांसारिक जीव ठीक-ठीक भोग करने में भी समर्थ नहीं होता। संसारी जीव किसी प्रकार के भोग का अधिकारी नहीं है। जब उसका भोग ही तृप्त नहीं होता, कल्प-कल्पान्तर तक काम्यवस्तुओं का उपभोग करने पर भी जब उसकी कामना तृप्त नहीं हो सकती, तब उसके लिये निवृत्ति का आश्रय ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है? कारण, तुमसे यह पहले ही कहा जा चुका है कि आकांक्षा के अतृप्त रहते शान्ति या निवृत्ति के मार्ग पर चलने की सम्भावना नहीं है। संयम आदि का जो आचरण किया जाता है, वह निवृत्ति-धर्म की साधना नहीं है, वह तो चित्त-शुद्धि के लिये किये जानेवाले आवश्यक उपाय-मात्र हैं। याद रखना चाहिए कि अशुद्ध-चित्त जीव नित्य धर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकता—चित्त-शुद्धि हुए बिना प्रकृति के स्रोत में पड़ने की सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए प्रवृत्ति-धर्म किंवा निवृत्ति-धर्म में कोई अधिकार नहीं होता।

यह जो नित्य-प्रवृत्ति-निवृत्ति-धर्म की बातें तुमसे कहीं, यही यथार्थ उपासना है। ज्ञान का उन्मेष होने पर ही इसका आरम्भ होता है और इसके अवसान के साथ-ही-साथ ज्ञान की पूर्णता सिद्ध होती है।

जिज्ञासु—आपकी बातों से यह समझ में आता है कि जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति अहङ्कारमूलक कर्मों का ही प्रकार-भेद है। वस्तुतः इसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहना उचित नहीं है। कारण, कर्म के मूल में अहङ्कार होता है और उपासना के मूल में स्वभाव रहता है—इसलिए इन दोनों में यथेष्ट भेद है।

वक्ता—तुमने यह ठीक ही कहा है। आज हम लोगों ने धर्म-रहस्य के एक अङ्ग की कुछ आलोचना की। अब तुम्हें और जो कुछ पूछना हो सो पूछ सकते हो।

नित्य-धर्म का व्यावहारिक रूप

जिज्ञासु—अब तक जो कुछ बातें हुई हैं उनसे यह समझ में आ गया कि धर्म का नित्यस्वरूप प्रकृति का आश्रय किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृति के आश्रय से यह धर्म पहले प्रवृत्तिरूप में और उसके पीछे निवृत्तिरूप में प्रकट होकर पूर्णता को

प्राप्त होता है। यही ऐश्वरिकधर्म का पारमार्थिक रूप है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में हम जिसे धर्म कहते हैं वह पुरुषार्थ के बिना अनुष्ठित नहीं हो सकता। अभिमान के नाश हो जाने पर व्यावहारिक धर्म के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अब मुझे यह पूछना है कि नित्यधर्म का अधिकार प्राप्त करने के लिये व्यावहारिक धर्म का अनुष्ठान किस प्रकार से होना चाहिये ? क्या सभी प्रचलित धर्मों में इस लक्ष्य का निर्देश प्राप्त हो सकता है ?

वक्ता—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पारमार्थिक धर्म एक और अभिन्न है और वही वास्तविक सनातन-धर्म है; क्योंकि वह देश, काल और पात्र की अपेक्षा न रखते हुए सर्वत्र समानरूप से प्रकाशित होता है। परन्तु व्यावहारिक धर्म सांसारिक अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ न्यूनाधिकरूप में परिवर्तित हुए बिना नहीं रहता। परन्तु इस अवश्यम्भावी परिवर्तन के होते हुए भी जो व्यावहारिक धर्म नित्यधर्म की उपलब्धि में अधिक सहायक होता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। अर्थात् जिस धर्म का आचरण करते-करते जीव अज्ञातरूप से परन्तु नियमपूर्वक आत्माभिमान और देहाध्यास का त्याग करने में समर्थ होता है, जिस धर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप जीव धीरतापूर्वक परिशुद्ध होकर नित्य-प्रवाहित प्रकृति के स्रोत में आत्मसमर्पण करने में समर्थ होता है, वही धर्म व्यावहारिक धर्मों में सर्वापेक्षा उत्कृष्ट गिने जाने योग्य है। जगत् कर्म का ही रूप है। इसलिये जगत् में अनन्त प्रकार के कर्म-वैचित्र्य का होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु वास्तविक कर्म वही है जिसके करते-करते जीव सदा के लिये कर्मजाल से छूट जाता है। इसी प्रकार जगत् में देशभेद से, कालभेद से तथा जातीय संस्कारभेद से जितने प्रकार के धर्मों का अभ्युत्थान हुआ है, वे सब एक ही भूमि में हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दर्पण जितना ही स्वच्छ होता है उतना ही अधिक उसमें प्रतिबिम्ब उद्भासित होता है, उसी प्रकार जिस लौकिक धर्म में जितना ही अधिक नित्य और पारमार्थिक धर्म के आदर्श का विकास होता है वह उतना ही उत्कृष्ट है।

जिज्ञासु—आजकल जगत् में जिन धर्मों का विशेष प्रचार है, उनमें हिन्दू, बौद्ध, जैन प्रभृति भारतीय धर्म तथा इस्लाम, ईसाई और पारसी प्रभृति वैदेशिक धर्म प्रधान हैं। आपने व्यावहारिक धर्म की श्रेष्ठता के जो निदर्शन बतलाये हैं, उसके अनुसार इन सब धर्मों में किस को सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया जा सकता है ? यही जानने की मेरी इच्छा होती है। आपके निष्पक्ष निर्णय को जानकर मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

वक्ता—मैं नाम लेकर किसी भी धर्म पर विचार करना नहीं चाहता। और कई कारणों से इस प्रकार का विचार उचित भी नहीं है। परन्तु किस प्रकार के लौकिक धर्म के आचरण से अलौकिक दिव्य धर्म का आश्रय ग्रहण करना सम्भव होता है, इसकी आलोचना अवश्य करूँगा। तुम प्राचीन, मध्य किंवा वर्तमान युग के समस्त धर्मों के प्राप्य शास्त्रीय ग्रन्थों की आलोचना करके मेरे बतलाये हुए लक्षणों के साथ

उनका मिलान कर लोगे तो फिर उनके उत्कृष्ट अथवा निष्कृष्ट होने का विचार अपने आप ही कर सकोगे।

प्रचलित धर्म में भी आदर्श और आचार की विभिन्नता सदा से देखी जाती है। किसी धर्म के दोष-गुणका विचार करते समय पहले यह देखना आवश्यक है कि उसका आदर्श क्या है ? जो लोग लोक में किसी एक धर्म का आचरण करनेवाले माने जाते हैं, परन्तु जो कार्यक्षेत्र में उस धर्म के आदर्श का सम्यक्रूप से आचरण नहीं करते, उन लोगों के इन भ्रष्ट आचरणों के आधार पर उस धर्म के गुण-दोष के विषय में सिद्धान्त स्थिर करना उचित नहीं है। व्यावहारिक धर्म की आलोचना करते समय भी इस साधारण नीति को सामने रखना होगा। ऐसा न करने से सत्यसिद्धान्त तक पहुँचना असम्भव है।

जिज्ञासु—आप जिस नीति का अवलम्बन करना चाहते हैं, यही श्रेष्ठ नीति है, क्योंकि जिस प्रकार जीवन के आदर्श द्वारा ही मनुष्य की आकांक्षा के महत्त्व का अनुमान होता है, उसी प्रकार धर्म की उत्कृष्टता भी उसके अन्दर रहनेवाले आदर्श की महत्ता के द्वारा ही निरूपित हो सकती है।

वक्ता—जिस उपाय से मनुष्य सहज में तथा अल्प समय में नित्य प्राकृतिक धर्म में प्रवेश कर सकता है, वही श्रेष्ठ उपाय है। यदि यह निश्चय हो जाय कि एकमात्र गङ्गाप्रवाह के सहारे ही समुद्र तक पहुँचना सम्भव है तो अपने निवास-स्थान से जो मार्ग अल्प समय में तथा सहज में गङ्गा के किनारे ले जाता है, वही समुद्रयात्री के लिये श्रेष्ठ मार्ग कहा जा सकता है। व्यावहारिक धर्म के विचार में भी प्रकृति का अनुसरण करके देश, काल तथा पात्र के अनुसार पुरुषार्थ को यथासम्भव प्राकृतिक स्रोत में विलीन करने की व्यवस्था किस धर्म में किस परिमाण में रहती है, यही वस्तुतः विचारणीय विषय है।

जिज्ञासु—जिन आधारों पर व्यावहारिक धर्म प्रतिष्ठित होता है, उनकी भी कुछ आलोचना धर्मतत्त्व के समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक एक-एक करके इन सभी विषयों की आलोचना करें।

वक्ता—व्यावहारिक क्षेत्र में सभी जगह अधिकार का विचार करना आवश्यक है। जिसका जैसा अधिकार है, उसके लिये उसी प्रकार के धर्म का उपदेश उत्तम फलप्रद होगा और अधिकार का तारतम्य पूर्वजन्म के कर्म, उनके संस्कार तथा योग्यता के ऊपर निर्भर करता है। उच्च अधिकार प्राप्त न होने पर उच्च पद के कर्म करने में प्रवृत्त होने से केवल वे कर्म निष्फल ही नहीं होते, बल्कि उनसे भविष्य की सिद्धि का मार्ग भी विघ्नपूर्ण हो जाता है।

जिज्ञासु—क्या इससे आप का यह तात्पर्य है कि आदर्श व्यावहारिक धर्म में अधिकार का विचार होना अत्यन्त ही आवश्यक है ?

वक्ता—इसमें सन्देह ही क्या है ? व्यष्टि और समष्टि भाव से देखने पर संसार में सर्वत्र ही अधिकार का विचार पाया जाता है और इसी पर सब प्रकार की अवस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य जिस कार्य अथवा जिस फल का अधिकारी नहीं है, उसे उस कार्य में प्रवृत्त होने अथवा उसे उस फल के भोग के लिये सुविधा देने से कभी परिणाम शुभ नहीं हो सकता। योग्यता का निर्णय किये बिना अधिकार का निर्णय नहीं किया जा सकता। योग्यता भी सब मनुष्यों में समान नहीं होती और न हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य के अथवा मनुष्य-समाज के कर्म-जीवन-सम्बन्धी अतीत इतिहास की आलोचना करने से पता लग सकता है कि इस योग्यता की विभिन्नता अपने कर्म के फल के रूप में ही उत्पन्न होती है। इसके लिये किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। इस विषमता के लिये ईश्वर अथवा बाह्य प्रकृति उत्तरदायी नहीं है। अतः प्राकृतिक नीति के अनुसार क्रमशः उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ना हो तो शिक्षा अधिकार-मूलक ही होनी चाहिये। जो अत्यन्त कठिन दार्शनिक सिद्धान्त के अनुशीलन के योग्य है उसे जिस प्रकार साधारण सरल उपदेश देने से उसकी शिक्षा का उत्कर्ष नहीं होता, इसी प्रकार ज्ञान की निम्नतम भूमि में रहनेवाले को उच्च भूमि के दुरूह तत्त्व का उपदेश देना व्यर्थ है। जिसकी जैसी पाचन शक्ति होती है उसके लिये वैसा ही आहार शरीर की पुष्टि में सहायक होता है। यह अधिकार अनेकों प्रकार से आलोचनीय है। सूक्ष्म दृष्टि से किसी की भी योग्यता का निरूपण करते समय उसके उपादान में जितनी विशेषताएँ हों उन सबको धीरता पूर्वक जानना होगा। इससे यह समझना चाहिये कि, यदि कोई व्यावहारिक धर्म अधिकार का विचार न कर सबको समान उपदेश देने की व्यवस्था करता है तो उसको सर्वांश में प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। प्रकृति के रंगमंच पर अधिकार की विषमता निश्चित दीख पड़ती है। ऐसी अवस्था में अधिकारगत वैषम्य की उपेक्षा करने से व्यावहारिक धर्म से प्राकृतिक धर्म में प्रविष्ट होने की सम्भावना कभी नहीं हो सकती।

जिज्ञासु—आपके इस उपदेश से जान पड़ता है कि स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध इत्यादि के अवस्था-भेद से प्रत्येक व्यक्ति का धर्म पृथक् रूप से निर्दिष्ट होना चाहिये। परन्तु बहुधा देखा जाता है, कि जिसे हम निकृष्ट समझते हैं, वह अनेकों उत्कृष्ट कहे जानेवाले व्यक्तियों से भी उच्च स्थान में बैठने योग्य होता है। दूसरी ओर जिसे साधारणतः उच्च स्थान दिया जाता है, योग्यता की दृष्टि से वह अनेकों साधारण लोगों की स्थिति से भी नीचे की भूमि का अधिकारी होता है। ऐसी अवस्था में अधिकार के विचार का मूल आधार क्या है, इसका पता लगाना सहज नहीं होता। इस विषय में कुछ और स्पष्ट जानने की इच्छा होती है।

वक्ता—वत्स, तुम्हारे सन्देह को मैंने कुछ-कुछ समझ लिया है, किन्तु मेरी बात को ठीक-ठीक समझने पर तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि यहाँ संशय का कोई भी कारण नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से धर्म का आचरण और प्रचार दोनों ही अधिकार-सम्पत्ति पर निर्भर करते हैं। इस विषय में भी किसी को सन्देह करने का अवकाश है,

ऐसा मैं नहीं समझता। कोई तो अखिल विश्व के अन्तराल में निहित तथा सर्वत्र व्यापक एवं अखण्ड सत्ता को ध्यान-योग के द्वारा उपलब्ध करने में समर्थ होता है, किन्तु किसी के लिये नेत्र मूँद कर एक साधारण मूर्ति का ध्यान करना भी कठिन होता है। किसी का चित्त स्वभावतः भोगोन्मुख होता है, और किसी के हृदय में वैराग्य का भाव अधिकतर प्रबल होता है। इस प्रकार से नाना वैषम्य सर्वत्र ही जगत् में देखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में एक ही प्रकार का आचार और साधन सब प्रकार की प्रकृति से युक्त मानव-समाज के लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता। इस अधिकार का विचार करना अत्यन्त ही कठिन है। केवल स्थूल दृष्टि से इस योग्यता का निरूपण नहीं किया जा सकता। ऐसे-ऐसे सूक्ष्म तत्त्व हैं जो स्थूल दृष्टि के विषय कभी नहीं हो सकते। किन्तु स्थूलदर्शी साधारण लोगों की दृष्टि में वे तत्त्व नहीं आते, इसीलिये वे उपेक्षणीय नहीं होते। अतः जिन कर्मों के संस्कार से स्थूल देह उत्पन्न होता है उनके तारतम्य के अनुसार ही स्त्री-पुरुष आदि के देहगत भेद भी उत्पन्न होते हैं।

जिज्ञासु—अतएव अधिकार का निर्णय करने के लिये केवल वर्तमान जन्म पर ही ध्यान रखना यथेष्ट नहीं है। परन्तु जगत् में ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो जन्मान्तर-रहस्य को प्रत्यक्ष कर प्रत्येक व्यक्ति के कर्म एवं पूर्व प्रज्ञा को साक्षात् रूप में प्राप्त कर सकते हैं?

वक्ता—तुम्हारा कहना ठीक है। इन्द्रियातीत विषयों को देखनेवाले योगी महापुरुष सभी युगों में दुर्लभ होते हैं। वर्तमान समय में भी इस प्रकार के पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कालधर्म के कारण यह दुर्लभता क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। किन्तु दुर्लभ होने पर भी इस घोर दुर्दिन में ऐसे पुरुषों का एकान्त अभाव नहीं होता। जिज्ञासु एवं तत्त्वान्वेषी पुरुष के लिये भगवत्कृपा से दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है, पर यहाँ इस सम्बन्ध में बात नहीं हो रही है। इन्द्रियातीत विषयों के द्रष्टा, प्रकृति पर विजय प्राप्त करनेवाले दिव्य-ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष शास्त्र के रूप में जो उपदेश दे गये हैं, उनके पीछे उत्पन्न होनेवाले श्रद्धालु पुरुषों के लिये उसका प्रतिपालन करने से ही श्रेयोमार्ग की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ मेरा केवल यही वक्तव्य है कि जिस धर्म-शास्त्र में धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में सूक्ष्मतया अधिकार और योग्यता का विचार नहीं किया गया, व्यावहारिक रूप में वह धर्म श्रेष्ठ नहीं कहला सकता।

जिज्ञासु—कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य की क्रमिक उन्नति को समझने के लिये एक ओर जहाँ वंशगत संस्कार को मानना आवश्यक है वैसे ही दूसरी ओर पारिपार्श्विक अवस्थाओं के प्रभाव को भी बिना माने काम नहीं चलता। वैज्ञानिक लोग Laws of Heredity तथा Environment के नाम से इसकी व्याख्या किया करते हैं। यदि यह सत्य है तो वर्तमान जन्म की शक्तिगत तथा संस्कारगत विशेषताओं

को सिद्ध करने के लिये जन्मान्तर स्वीकार करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। अतएव आप जो अधिकार-भेद के प्रसङ्ग में जन्मान्तरवाद खींच लाते हैं, वह नितान्त अप्रासङ्गिक जान पड़ता है।

वक्ता—यह कभी अप्रासङ्गिक नहीं है। पूर्वजन्म के न मानने से वर्तमान जन्म की विषमता तो सिद्ध होती ही नहीं—कर्मप्रवाह के आपेक्षिक मूलसूत्र का भी पता नहीं चल सकता। कर्म और जन्मान्तर तत्त्व की आलोचना करते समय इस विषय को विस्तृत रूप से समझने की चेष्टा करेंगे। परन्तु तुम्हें अभी इतना याद रखना चाहिये कि व्यक्तिगत प्राक्तन कर्म के बिना केवल वंशगत संस्कार अथवा शिक्षा संसर्ग प्रभृति पारिपार्श्विक अवस्था (परिस्थिति) के द्वारा किसी के चरित्र में विशेषता नहीं आ सकती। तुम्हें शेक्सपियर के विषय में ज्ञात है। जिस अलौकिक प्रतिभा एवं प्रज्ञा ने उसको संसार में इतने सुदीर्घ काल तक अतुलनीय बना रक्खा है वह क्या उसके अल्पशिक्षित एवं ग्राम्य भाव से युक्त पुरखों की बुद्धि सम्पत्ति के द्वारा अथवा उसकी व्यक्तिगत क्षुद्र-शिक्षा और संसर्ग के द्वारा कभी सम्भव मानी जा सकती है? अधिकार का विचार करते समय प्राक्तन कर्मों का अनुसन्धान नितान्त ही आवश्यक है। आगे चलकर जब कर्म-विज्ञान की आलोचना की जायेगी तब तुम समझ सकोगे कि सैकड़ों प्रदेशों में सैकड़ों नये-नये शरीरों के द्वारा मनुष्य-जीवन के प्रकट होने पर भी वे समस्त असंख्य विभक्त जीवन एक अखण्ड मानवजीवन का ही आंशिक प्रकाशमात्र है। सृष्टि के आदि से लेकर मुक्तिपर्यन्त प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक अविच्छिन्नधारा में प्रवाहित होता रहता है। कर्म के अनुसार विभिन्न युगों में, विभिन्न देशों में एवं विभिन्न प्रकार की योनि में मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इन समस्त विभिन्नताओं के अन्दर एक निर्दिष्ट जीवन की धारा जड़भाव एवं मोह से आच्छन्न अस्पष्ट अचेतन-राज्य से क्रमशः उन्नति करती हुई पूर्णता की ओर अग्रसर होती रहती है। जिस प्रकार यह जगत् आज कहाँ और किस रूप में है इसे ठीक-ठीक जानने के लिये, 'वह कल कहाँ और किस रूप में था,' यह जानना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को वर्तमान जन्म में प्राप्त शरीर, योग्यता, संस्कारादि का कारण जानने के लिये उसकी पूर्वावस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। एक साधारण-सा कार्य भी असंख्य परस्पर संश्लिष्ट विभिन्न जटिल शक्तिपुञ्ज के घात-प्रतिघात के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह सत्य है तो इसे अवश्य ही मानना पड़ेगा कि मनुष्य का जन्म भी विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों की परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा संघटित होता है। केवल रजोवीर्य के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिस शक्ति के द्वारा यह संयोग नियन्त्रित होता है, जिस सत्ता के प्रभाव से संयुक्त रजोवीर्य सञ्जीवित होकर प्राणमय रूप धारण करता है, जो संस्कार इस जीवभावापन्न बिन्दु में अपने को प्रकाशित करते हैं, उन सब कारणों के हुए बिना किसी भी देह की उत्पत्ति एवं विकास सम्भव नहीं है।

जीवन-पथ में चलते-चलते मनुष्य जो-जो कर्म करता है तथा जिन-जिन विचित्र सुख-दुःखों का सम्भोग करता है, उसी के सारांश से नित्य-जीवन पुष्टि लाभ करता है,

अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखने से यह बात समझ में आ सकती है। सभी मनुष्यों में यह पुष्टता समान नहीं होती। कोई सुदीर्घ काल तक कर्म करते-करते थककर तथा नाना प्रकार की तीव्र यन्त्रणाओं को भोगने पर कहीं वैराग्य अथवा निर्वेद को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जिसका जीवन अब भी अतृप्त वासना से परिपूर्ण है उसका चित्त स्वभावतः ही विषय-प्रवण तथा भोगलोलुप रहता है। मनुष्य की प्रकृति-भेद का यही कारण है। इससे समझा जा सकता है कि अल्प वयस् में वैराग्य का होना तथा वृद्ध-अवस्था में भी भोगलोलुपता का रहना दोनों एक ही प्राकृतिक शृङ्खला के अन्तर्गत हैं। देह, मन, प्राण, बुद्धि प्रभृति प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति की विभिन्नता का यही एकमात्र कारण है। अतएव केवल वर्तमान जन्म से ही अधिकार-भेद ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, इस बात को मानना ही होगा। जिस धर्म में यह प्राकृतिक अधिकार-वैचित्र्य नहीं माना गया है, वह स्वाभाविक धर्म के अनुकूल नहीं हो सकता।

जिज्ञासु—क्या जन्मान्तरमूलक अधिकार का विचार ही व्यावहारिक रूप से सनातन धर्म के निर्णय का एकमात्र निदर्शन है ?

वक्ता—नहीं, और भी अनेक प्रकार के निदर्शन हैं। उनमें से कुछ की आलोचना करके समझने की चेष्टा करेंगे। परन्तु इस अधिकार-तत्त्व के समझ लेने पर सनातन धर्म के कुछ अङ्ग अपेक्षाकृत स्पष्टभाव से समझे जा सकते हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' कालिदास का यह कथन तुमने अवश्य सुना होगा। परन्तु इसका गूढ़ रहस्य कदाचित् तुमने अब तक नहीं समझा है। तुम इससे क्या समझते हो ?

जिज्ञासु—मैं समझता हूँ कि शरीर के स्वस्थ न रहने से किसी प्रकार का धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रकार का धर्मानुष्ठान करने के लिये सबसे पहले शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना उचित है। शरीर ठीक न रहने पर वह धर्म-साधन में सहायक नहीं हो सकता, और इसलिये धर्म की अन्यान्य साधन-सम्पत्ति भी फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। कालिदास के वाक्य का यह साधारण अर्थ ही मेरी समझ में आता है, यदि इसके अतिरिक्त भी कोई तात्पर्य हो तो उसको मैं नहीं जानता।

वक्ता—तुमने जो कुछ कहा है, वह किसी अंश में ठीक है। तथापि वास्तविक सत्य का स्वरूप इसकी अपेक्षा और भी गम्भीर है। धर्म-साधन के साथ शरीर का क्या सम्बन्ध है, इस विषय में मैंने जो कुछ समझा है उसी से दो-एक बातें संक्षेप में तुमसे कहता हूँ, इन्हें समझ लेने पर सनातन धर्म के कुछ अङ्गों को तुम सहज ही समझ सकोगे। याद रक्खो कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन प्रकार के शरीर मनुष्य मात्र के हैं। परन्तु वर्तमान स्थल में शरीर शब्द से हमारा अभिप्राय स्थूल शरीर से ही होगा। तुम जानते हो कि, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज—इन चार प्रकार की योनियों के अन्तर्गत चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है। इसके अनेक कारण हैं, जिनका विस्तृत विवरण करना अभी सम्भव नहीं है। भगवान् शङ्कराचार्य विवेक-

चूडामणि में जिन तीन वस्तुओं को अत्यन्त दुर्लभ बतलाते हैं उनमें से मनुष्य-देह प्रधान है। बौद्ध धर्म में भी यही बात मानी गयी है। संसार के सब धर्मों के अन्तस्तत्त्व के ज्ञाता आचार्यों ने इसकी यथार्थता स्वीकार की है। अतएव इस मनुष्य-देह को धर्म-जीवन का उपयोगी बनाकर व्यवहार करना ही युक्तिसङ्गत है। शरीर के साथ अन्तः-करण एवं व्यावहारिक आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये चित्तशुद्धि एवं आत्म-कल्याण चाहनेवालों के लिये शरीर के तत्त्व और व्यवहार का जानना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर बिन्दु से उत्पन्न होता है, इसलिये बिन्दु की आपेक्षिक शुद्धि के बल और स्थिति के अनुसार शरीर में भेद होना अवश्यम्भावी है। जो बिन्दु नाभिचक्र को भेद करके शुद्ध और ज्योतिर्मय रूप धारण कर सहस्रदल पद्म की कर्णिका पर विष्णु पद में स्थित हो चुका है, सङ्कल्प के द्वारा उसे नीचे उतारने पर उसके द्वारा जिस शरीर की उत्पत्ति होती है, उसमें और नाभि के निम्नस्थ बिन्दु के सञ्चार से उत्पन्न शरीर-संगठन में अवश्य ही विभिन्नता होगी, इसमें सन्देह नहीं। स्वाभाविक वर्णभेद के रहस्य की आलोचना करने पर यह बात समझ में आ सकेगी। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी मनुष्य-शरीर धर्म-साधन के लिये उपयोगी होने पर भी एक प्रकार के नहीं हैं। शरीर प्रारब्ध-कर्म से उत्पन्न होता है, अतः प्रारब्ध-कर्म के तारतम्य के अनुसार स्वभावतः शरीर का भी तारतम्य संघटित होता है। यह शारीरिक विभिन्नता संस्थानगत एवं गर्भ-सञ्चार के बाद से ही आविर्भूत होती है। इसकी उपेक्षा करने पर धर्म का अनुशासन सम्भव नहीं होता। इस प्राकृतिक भेद के ऊपर ही विभिन्न आचारों की प्रतिष्ठा हुई है। जिन लोगों को सूक्ष्म तत्त्वों का पता नहीं है, वे भी जानते हैं कि शारीरिक अवस्था तथा स्थूल जगत् की विशिष्टता के अनुसार विभिन्न आचारों का प्रवर्तन हुआ है। अतएव स्थूल शरीरधारी के लिये आचार का प्रतिपालन भी गौण रूप से धर्म-साधन का ही अङ्ग है।

जिज्ञासु—क्या यही सदाचार है? सदाचार का लक्षण क्या है?

वक्ता—सत् अर्थात् साधुजन के द्वारा प्रतिपालित आचार को सदाचार कहते हैं और साधु-आचार को भी सदाचार कहा जा सकता है। दूसरों का साधु-आचरण धर्म-निर्णय का उपाय-स्वरूप होता है। परन्तु अपना साधु-आचरण साधन का एक आवश्यक अङ्ग विशेष है। यद्यपि आचार शरीर की अपेक्षा रखता है तथा धर्म का बहिरङ्ग स्वरूप है, तथापि साधक को इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। आचार की विशुद्धता से शारीरिक पवित्रता, दीर्घ आयु, आरोग्य तथा चित्त की स्थिरता आदि में सहायता मिलती है। जो लोग उच्च तत्त्वों का विचार करते हैं, परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में उनका आचरण नहीं करते, वे कभी सत्य धर्म का पता नहीं पा सकते।

जिज्ञासु—बहुतों का ऐसा विचार है कि धर्मसाधना हृदय का एक व्यापार-विशेष है, उसके साथ बाह्य आचार के अनुष्ठान का सम्बन्ध किसी प्रकार नहीं हो सकता। यदि कोई शुद्धचित्त हो, उसका आचरण चाहे जिस प्रकार का हो, उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। दूसरी ओर, यदि कोई आचारवान् होने पर भी भाव शुद्ध

रखने में समर्थ नहीं है तो उसकी कोई भी प्रशंसा नहीं कर सकता। सुनते हैं, शास्त्र में भी 'भावग्राही जर्नादनः' कहा गया है। इसलिये बाहरी आचरणों का विचार न कर जिससे भाव-शुद्धि हो वही मनुष्य को करना चाहिये। आप इस विषय में क्या निर्णय करते हैं, यह जानने की इच्छा है।

वक्ता—वत्स, तुम जो कहते हो वह एक प्रकार से ठीक है तथापि इसका अनुशासन ठीक नहीं। शरीर-शुद्धि चित्त-शुद्धि का द्वार-स्वरूप है। शरीर के शुद्ध न होने से चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। चित्त और शरीर के परस्पर पृथक् होने पर भी सांसारिक जीवन में ये दोनों इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि शरीर के बिना चित्त का कोई स्थायी संस्कार सम्भव नहीं है। इसी कारण तान्त्रिक साधना में चित्त-शुद्धि के साथ-साथ भूत-शुद्धि का भी विधान है। पञ्चभूत के शुद्ध हुए बिना चित्त निर्मल हो ही नहीं सकता। मलिन चित्त में आत्म-ज्ञान का विकास ही किस प्रकार सम्भव होगा ? जिस धर्म में शरीर के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेद का अनुसरण कर भिन्न-भिन्न आचारों की व्यवस्था निश्चित हुई है वही प्रकृत सनातन धर्म का व्यावहारिक रूप है। तुम जो कहते हो कि शुद्धचित्त व्यक्ति आचारहीन होने पर भी माननीय है एवं कलुषित प्रकृति-युक्त व्यक्ति आचारवान् होते हुए भी निन्दनीय है, यह अवश्य ही सत्य है। ऐसा क्यों होता है, यह विशेष-रूप से विचारणीय है। यदि गर्भाधान से ही समस्त संस्कार ठीक-ठीक सम्पादित हों तो उससे कुछ अंश में यह असामञ्जस्य दोष निवारित हो सकता है। पूर्वकाल में व्यवस्था भी इसी प्रकार की थी। परन्तु चित्त और शरीर इन दोनों में चित्त का आपेक्षिक प्राधान्य स्वीकार कर लेने पर भी शारीरिक संस्कार की आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती। प्रारब्ध-कर्म के तारतम्य के कारण शरीर की पृथक्ता हुआ करती है। अतएव प्राकृतिक नियमों के अनुसार कर्म के अपकर्ष के कारण वर्तमान जन्म में हीन शरीर की प्राप्ति होती है, यह बात सहज ही समझी जा सकती है। परन्तु शरीर के हीन होने पर भी चित्त की प्रकृति उच्चावस्था की हो सकती है। ऐसी अवस्था में शारीरिक धर्म का आचरण तथा शारीरिक उपादान निकृष्ट होने पर भी चित्त में उत्कृष्ट भाव का उदय होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। दूसरी ओर, विशिष्ट कर्मों के फलस्वरूप उत्कृष्ट शरीर प्राप्त करके सदाचारी होने पर भी चित्त की आपेक्षिक मलिनता के कारण चित्त की निकृष्टता अक्षुण्ण बनी रह जाती है। यहाँ यद्यपि एक प्रकार से चित्त की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है तथापि दैहिक आचार की सार्थकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने से काम नहीं चलता। प्रत्येक यन्त्र का ही एक निर्दिष्ट कार्य होता है। उसे नहीं करने से अथवा किसी कारणवश इसके स्थगित हो जाने से यन्त्र की सार्थकता जाती रहती है। मान लो, नेत्र एक यन्त्र है और दर्शन करना इसका कार्य है। दर्शन करने के लिये ही इस यन्त्र का उद्भव हुआ है। 'रूपरागाद्भवेच्चक्षुः' यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। अतएव निर्माण के पश्चात् रूपदर्शन ही इसका स्वाभाविक कार्य माना जा सकता है। यह कार्य कर सकने पर ही नेत्र-यन्त्र की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। किन्तु यदि किसी कारण से यह यन्त्र दर्शन-कार्य सम्पादन करने में समर्थ नहीं हो तो इससे दीर्घ

काल के पश्चात् इसकी केवल दर्शन-शक्ति ही नहीं नष्ट होगी, बल्कि यह यन्त्र क्रमशः विकृत होते-होते अन्त में लुप्त हो जायगा। घोर अन्धकारमय गुफा के भीतर दीर्घकाल से रहते-रहते एक जाति की मछलियाँ अन्धी होकर क्रमशः नेत्रहीन हो गयी थीं, यह बात प्राणितत्त्ववेत्ता पण्डितों को अज्ञात नहीं है। इससे समझ सकते हो कि प्रत्येक जाति के शरीर में एक स्वाभाविक स्पन्दन होता है, यही उसका छन्द है। इसकी रक्षा न कर सकने से वह अकर्मण्य होकर क्रमशः विकृत हो जाता है, तथा अधोगति को प्राप्त होता है। इसी कारण धर्मसाधन के लिये देह का विचार करना इतना आवश्यक हो जाता है. क्योंकि देह भी कार्य सिद्ध करनेवाला एक यन्त्र विशेष है। इससे ठीक-ठीक कार्य न करा सकने से प्राकृतिक नियमों के अनुसार इसका अपकर्ष अनिवार्य है। इसी कारण शरीर को धर्मसाधन का प्रथम अङ्ग कहा गया है। ऐसा न समझो कि देह की उपेक्षा करके अथवा उसे पीछे छोड़ कर तुम धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ सकोगे। शारीरिक तत्त्व को शुद्ध कर चित्त के साथ-साथ यदि उसे नहीं उठाया जायगा तो चित्त उच्च पद को पहुँच कर भी माध्याकर्षण के प्रभाव से कभी-न-कभी भूमिसात् हो ही पड़ेगा। इसमें बहुतेरे गम्भीर रहस्य भरे पड़े हैं। जो लोग अल्पदर्शी हैं वेही स्थूलरूप से मोहित होकर इसके रहस्य को समझने में समर्थ नहीं होते। प्राचीन काल में ऋषियों ने देहतत्त्व की आलोचना अत्यन्त सूक्ष्मभाव से की थी। इसीसे उन्होंने गर्भाधान से लेकर उपनयन संस्कार तक विभिन्न संस्कार-क्रियाओं की व्यवस्था करके बीजगत और गर्भगत दोषों को हटाते हुए शरीर के शुद्ध करने की प्रक्रिया का प्रचार किया था।

—: ० :—

ईश्वर में विश्वास

'कल्याण' मासिक पत्र के माननीय सम्पादक महाशय ने विशेष समारोह के साथ 'कल्याण' के ईश्वराङ्क के रूप में महायज्ञ की आयोजना की है और उसमें देश-विदेश के ज्ञानी-मानी विद्वानों को सम्मिलित होने के लिये सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किया है। यह देश के लिये अत्यन्त सौभाग्य का विषय है। वर्तमान-काल में व्यष्टि और समष्टिरूपेण जगत् की मनोवृत्ति का प्रवाह तीव्र गति से जिस प्रकार बहिर्मुख दौड़ रहा है, उसमें आत्मा, ईश्वर, यही क्यों, अतीन्द्रिय जगत् की सत्ता के सम्बन्ध में भी आलोचना करना समय का अपव्यय समझा जायगा, ऐसी सम्भावना है। ऐसी अवस्था में यदि उनके निर्देश के अनुसार ईश्वर-तत्त्व की चर्चा करने का सुयोग एवं प्रवृत्ति किसी की हो तो वह देश का कल्याण-साधन करने वाले 'कल्याण' के लिये उपयुक्त ही होगा। हम श्रीभगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे इस शुभ उद्योग में सफलता प्राप्त करें।

उन्होंने व्यक्तिगत भाव से चार प्रश्न उत्तर के लिये मेरे पास भेजे हैं। परन्तु मैं इसे व्यक्तिगत रूप में न लेकर कुछ अंशों में व्यापक रूप में ही ग्रहण करता हूँ। यद्यपि ये प्रश्न सम्पादक महाशय की ओर से ही आये हैं तथापि वस्तुतः ये किसी आध्यात्मिक तत्त्वजिज्ञासु के ही स्वाभाविक प्रश्न हैं। अतः इनका उत्तर व्यक्तिगत रूप से देना समीचोन नहीं मालूम होता। इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्ति-विशेष के प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञासु होकर प्रतिनिधिरूप से प्रश्न न उठाते तो मेरा उत्तर भी ठीक-ठीक व्यक्तिगत होता, क्योंकि इन प्रश्नों के किसी-किसी अंश का उत्तर देते समय अपने जीवन की कुछ ऐसी आभ्यन्तरीय और बाह्य घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है जो अन्तरंग रूप से व्यक्तिविशेष के प्रति किया जा सकता है। पर जिसका प्रकाश्य-रूप में लोकसमाज में कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा।

(ख) साधन-जगत् का जो निगूढ़ रहस्य है, जिसकी प्राप्ति के लिये दीर्घकाल तक सत्यस्वरूप सद्गुरु की कृपा का अवलम्बन कर तीव्र पुरुषार्थ का प्रयोग करना पड़ता है, तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुष के सामने उस रहस्य की आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचना का यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इन्हीं दो बातों को सामने रख यथासम्भव संक्षेप में अथच विशदरूप में इन चारों प्रश्नों की आलोचना करने में प्रवृत्त होता हूँ।

(१)

पहला प्रश्न यह है कि—'हम ईश्वर में विश्वास क्यों करें ?' इसका उत्तर देने के पूर्व मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओं की सत्ता तथा क्रिया को हम अनेकों कारणों से लौकिक दृष्टि से स्वीकार करने के लिये बाध्य होते हैं, उनके विषय में हमारे हृदय में विश्वास की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यहाँ 'विश्वास' शब्द से प्रश्नकर्ता का क्या उद्देश्य है, यह वही जानें। परन्तु यह निश्चित है कि जिसे विश्वास कहा जाता है उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं। इन्हीं दोनों अवस्थाओं का विश्लेषण करने से ही विश्वास के कारण के सम्बन्ध की धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी। आप्त पुरुषों के मुख से कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करने की शक्ति न रहने पर, अथवा उसके सम्बन्ध में कोई प्रवृत्ति न होने पर, वह आप्त-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वभावतः ही मन में उत्पन्न होती है। बाल्यकाल में जब बूढ़ी-दादी या दादाजी के मुख से अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, जब हृदय सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेष रूप से चित्त में सञ्चित नहीं हुए थे, उस समय कल्पना के बल से मनश्चक्षु के सामने उन सारी कहानियों में वर्णन किये हुए दृश्य मानो जीवितरूप में आँखों के सामने आ जाते थे। उस समय लौकिक ज्ञान तथा युक्ति का विकास वैसा न होने के कारण सम्भव या असम्भव का निर्णय नहीं कर पाता था। फलतः कोई भी बात मन में असम्भव नहीं जान पड़ती थी। जब दादी कहतीं कि अमुक वृक्ष पर भूत रहता है, उसे सुनकर सचमुच ही सन्ध्या के समय अथवा शून्य रात्रि में उस स्थान के पास होकर जाने में शरीर काँप उठता था। भूत है, इस बात को सुनते ही सचमुच ही भूत की सत्ता में विश्वास उत्पन्न हो जाता, युक्ति की आवश्यकता अपेक्षित न होती, और न मन में वैसी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती। बहुतेरे इसे अन्धविश्वास के नाम से पुकारेंगे; परन्तु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तों से यही बात समझ में आती है कि मनुष्य की ऐसी एक अवस्था है जब शब्द-श्रवण करते ही अर्थबोध के साथ-साथ शब्द के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में मन में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह विषय बहुत ही जटिल है; यहाँ तक कि अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न मनस्तत्त्ववेत्ताओं को भी यह सहज ही हृदयङ्गम होने का नहीं। तथापि सभी इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि इसको समझने में किसी को कोई कष्ट नहीं होता। यह जो सरल और स्वच्छ हृदय की बात कही गयी है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्ति-विशेष में इतना अधिक रह सकता है कि किसी विषय में वाक्य उच्चारण के साथ-ही-साथ उसके चित्त में उसी विषय का दृश्यरूप में तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है। कृत्रिम नखदर्पणादि प्रक्रिया में, बालक की दृष्टि के सामने शुद्ध शब्द उच्चारण करके इच्छानुसार दृश्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है; इसका भी मूलकारण यही है। वेदान्त के ग्रन्थों की आलोचना करने पर देखा जाता है कि शास्त्रों में वाक्य या शब्द से अपरोक्ष ज्ञान किस प्रकार उद्भूत हो सकता है। इसके विषय में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। शब्द-माहात्म्य से मनश्चक्षु के सामने शब्द-बोध्य अर्थ का किस प्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उस पर आलोचना करने की

आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने उस पर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रों में भी उसकी अनेक रहस्यमयी बातों का वर्णन हुआ है। सम्मोहन-क्रिया में चालक के शब्द के इशारे से सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व दृश्य देखता है, इस बात को बहुत लोग जानते होंगे।

इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि चित्त के कोमल तथा अपेक्षाकृत स्वच्छ होने पर विश्वास का बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है। इसी कारण बालक या स्त्रियाँ जितनी आसानी से विश्वास कर सकती है, तर्ककुशल पुरुष उतनी आसानी से नहीं कर सकता। यह अन्धविश्वास होने पर भी इस प्रकार की एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं।

बाल्यावस्था में गृह में या समाज में, आचार में, उपदेश में अथवा आलोचना में एवं सज्जनों के संसर्गवश कोमल हृदय में इस प्रकार के ईश्वर-विश्वास का बीज वपन हो सकता है। दूसरे देशों के सम्बन्ध में आलोचना करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हमारे देश में प्राचीन काल में शैशव-काल से ही इस प्रकार चित्त में साधारणतः ईश्वर का विश्वास बद्धमूल हो जाता था। पिता, माता एवं गुरुजनों के हृदय की वृत्तियों का प्रभाव शिशु के चित्त पर कम नहीं पड़ता है।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वास का कारण क्या है ?' तो इसका उत्तर यही है कि चित्त की बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छता के ऊपर आप्त-वाक्य का प्रभाव ही इस विश्वास का कारण है। यह अन्धविश्वास होता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि इस विश्वास के मूल में स्व-ज्ञान की उज्ज्वल दीप्ति नहीं होती। केवल यही बात नहीं, यह अज्ञान के प्रदोषालोक में ही वृद्धि एवं पुष्टि प्राप्त करता है। ज्ञान के सम्यक् उदय होने पर इस प्रकार का विश्वास यथार्थ सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित न होने से सदा के लिये समूल उखड़ जाता है। बेजड़ विश्वास युक्ति और तर्क की भयानकता को देखकर भयभीत हो उठता है और सांसारिक द्वन्द्व के प्रभाव से निस्तेज होकर अव्यक्त (प्रकृति) के गर्भ में विलीन हो जाता है। जीवन के क्रम-विकास की प्रथमावस्था में इसका उदय होने पर भी यह पीछे वर्त्तमान नहीं रह सकता। परन्तु सभी अन्धविश्वास बेजड़ नहीं होते—यदि किसी ज्ञानी महापुरुष के वचनों से शिशु के हृदय में विश्वास का बीज अंकुरित हो तो वह क्रमशः पुष्ट होकर पूर्ण बोध-रूप परिणाम को प्राप्त हो जाता है। यह विश्वास तत्काल शिशु के निजज्ञान-द्वारा प्रदीप्त न होने पर भी वस्तुतः अज्ञानमूलक नहीं होता।

इस प्रकार शैशवसुलभ विश्वास का उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता आप्तरूप में विवेचित पुरुष के वाक्य की यथार्थता पर ही निर्भर करती है। यदि किसी समय यह मालूम हो जाय कि जिसको आप्त समझा गया था, वह आप्त नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं—यदि किसी समय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि की सहायता से इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास उखड़ जाता है। मनुष्य के शैशव के सम्बन्ध में जो बात है, मानव-जाति अथवा समाज की प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में भी वही बात होती है।

सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित विश्वास में अनेकों गुण हैं। युक्ति या तर्क किये बिना ही इसकी प्रेरणा से कर्म में सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात् यथाविधि कर्म के द्वारा फल की प्राप्ति होने पर यह विश्वास दृढ़ और अचल-रूप धारण करता है। अर्थात् सरल विश्वास के द्वारा उस समय संशयादिविहीन निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होता है। तब कुतर्क अथवा नास्तिकों के कठोर युक्तिजाल से इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकार के विश्वास के ऊपर मानव-जीवन की अथवा मानव-समाज की यथार्थ उन्नति निर्भर करती है। किन्तु विश्वास के मूल में यदि किसी मिथ्या का संस्रव हो तो इससे उसके द्वारा सत्य फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा इससे यथार्थ कर्म का भी विकास नहीं होता। इस प्रकार का विश्वास कुसंस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्यदर्शन के प्रखर आलोक में, सूर्य की किरणों के स्पर्श करने पर मेघमालाओं के समान विलीन हो जाता है। जीवन-पथ में दीर्घकाल तक यह मनुष्य के चित्त में स्थान प्राप्त नहीं करता या नहीं कर सकता।

विश्वास के स्वरूप एवं उसकी अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया गया। 'हम ईश्वर में क्यों विश्वास करें ?' यह प्रश्न प्राथमिक विश्वास के सम्बन्ध में उठ सकता है और उस चरम-विश्वास के सम्बन्ध में भी उठ सकता है जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय होने पर हृदय में प्रतिष्ठित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर यही है कि शास्त्र, गुरुजन, अनुभूति-सम्पन्न महापुरुष सभी ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है, तथा जगत् के कल्याण के लिये पुनः पुनः वे उसका प्रचार भी कर गये हैं। उनके प्रामाण्यसिद्धान्त जब तक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणों के द्वारा खण्डित नहीं हो जाते तब तक चित्त की प्रकृति के अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतों के लिये स्वाभाविक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में यथार्थ उन्नति कर लेने पर किसी समय उसने जिस सरल विश्वास को सत्य समझ कर ग्रहण किया था, वह वास्तविक ही सत्य है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उसे पद-पद पर मिलता रहता है। अन्तर्जीवन के मार्ग पर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी असाधारण विभूतियों के निदर्शन जीवन में अभ्रान्त-भाव से पुनः पुनः प्रत्यक्ष होते हैं, जिनसे विचारशील पुरुष अतीन्द्रिय-जगत् एवं समस्त जगत् के अधिष्ठाता, किसी महाशक्तिसम्पन्न सत्ता को स्वीकार करने के लिये बाध्य होता है। साधारण मनुष्य का जीवन प्रायः साधारण पथ में ही प्रवाहित होता है, और उसमें उल्लेखनीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है। किन्तु किसी महाशक्तिशाली पुरुष के सहवास में आने पर उसके जीवन में ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं जो साधारण मनुष्य के ज्ञान और अनुभूति के राज्य से सर्वथा बाहर की बात है। ये घटनाएँ विविध प्रकार की होती हैं। कुछ तो केवल भाव के विकास के रूप में होती हैं, कुछ भाव के साथ बाह्य जगत् से विशिष्ट सम्बन्ध रखती हुई, और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत् के

ऊपर प्रतिष्ठित होती हैं। मैं अपने वक्तव्य को दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करके समझाने की चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रि के समय अत्यन्त दूर अज्ञात देश के जनशून्य प्रान्त में अथवा वनभूमि के बीच होकर दीर्घकाल तक चलते-चलते क्लान्त एवं हताश होकर जीवन का भरोसा छोड़कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उस एकाकी पथिक का कोई साक्षी सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँ तक कि, कुछ भी पाथेय भी नहीं है। स्थान अपरचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और दूर तक देखने पर कहीं कोई घर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखलायी पड़ता जिसे देख कर प्राण में उत्साह का सञ्चार हो; वह दिन भर भटकता-भटकता क्लान्त हो रहा है, एक प्रकार से उसे चलने की शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रि का अन्धकार फैला हुआ है, हिंस्र पशुओं के आक्रमण का भी भय बना हुआ है और साथ ही भूख से शरीर शिथिल हो रहा है। अब तक केवल स्थूल देह और स्थूल जगत् की दृष्टि से ही मैंने अवस्थाओं का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्यान्य प्रकार की अशान्ति भी हो सकती है। इस प्रकार की अवस्था में पड़कर उस मनुष्य को कैसी अनुभूति होती होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार की घोर विपत्ति के समय में, जब उसे आसन्न मृत्यु की कराल छाया सामने दृष्टिगोचर हो रही है; यदि वह पलक मारते ही यह देखता है कि एक दिव्यज्योतिर्मय मूर्ति स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्री से युक्त उसके दृष्टि-पथ में शून्य स्थान में आविर्भूत होकर उसके समस्त भय को हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—

'वत्स, तुम भयभीत क्यों हो रहे हो; देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ, तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ, भय का कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासन को सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटी में दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसी की प्रतीक्षा में बैठा हुआ है। यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्ति के लिये मनमाना भोजन पाता है, भय से त्राण पाता है, गन्तव्य स्थान का मार्ग पाता है, तथा राह का साथी पाता है, तो बताइये, इससे उसके हृदय में किस प्रकार के भावों का उदय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अथवा संशयाक्रान्त-चित्त क्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्य की विचार सीमा के परे कोई लोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मंगलमय है, जो सदा ही मनुष्य की अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपत्ति में परम स्नेही मित्र के समान आविर्भूत होकर उसकी रक्षा करती है। इस शक्ति को चाहे कोई ईश्वर कहें या किसी दूसरे ही नाम से पुकारें, उससे मुझे यहाँ कोई मतलब नहीं। परन्तु यह एक अलौकिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय, प्रेम-मय, एवं सब प्रकार से असाधारण है, इस बात को स्वीकार करना ही होगा। ऐसा होने पर वस्तुतः नामान्तर से ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली गयी। हाँ कोई स्पष्ट-भाव से ईश्वर के भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं और कोई न भी हो सकते हैं। इस प्रकार

की अनेकों घटनाएँ मनुष्य के जीवन में कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारण के सम्बन्ध-द्वारा समझायी नहीं जा सकतीं। एवं जिनका एकमात्र लक्ष्य मनुष्य का मंगल-साधन होता है।

इस प्रसंग में मैं साधक के साधन जीवन की बात नहीं कहूँगा, क्योंकि जो यथार्थ साधक हैं, साधन-राज्य में प्रवेश कर अध्यात्म पथ में चलते-चलते उनको तो भगवत्-शक्ति एवं भगवत्-सत्ता के दर्शन सैकड़ों हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सच्चे साधक हैं, वे सरल विश्वास से प्रवृत्त होने पर भी क्रमशः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियों का सञ्चय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान् में विश्वास केवल प्रारम्भिक अन्ध-विश्वास में ही आबद्ध नहीं रहता, बल्कि इन अभिज्ञता और शक्तियों के द्वारा वह विश्वास विशेष रूप से दृढ़ता को प्राप्त होता है।

सुतरां वर्तमान जीवन की साधना के फल से अथवा प्राक्तन सुकृतियों के कारण मनुष्य भगवान् की नाना विभूतियों के और करुणा के प्रत्यक्ष दर्शन कर भगवान् की कल्याणमयी सत्ता में अविचलित विश्वास करने में समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वास का मूल क्या है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। यथार्थ विश्वास क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वास के मूल में हृदय की सरलता और द्वितीय विश्वास के मूल में जीवन की विचित्र अभिज्ञता तथा भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रत्यक्ष दर्शन की अधिकता होती है।

परन्तु संसार में सभी लोग भगवान् में विश्वास कर सकेंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वास्तव-जगत् का चित्र देखने पर समझा जा सकता है कि मनुष्य-मात्र में ही भगवद्विश्वास बीजरूप से निहित होने पर भी सर्वत्र समभाव से उसकी स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषों के वाक्य आदि शुद्ध चित्त में ही विश्वासोत्पत्ति के कारण हैं। परन्तु यहाँ भी काल का विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जब तक स्थूल तथा अचिरस्थायी वस्तु की प्राप्ति में तृप्त होता है, अथवा अभाव होने पर सहायता के लिये स्थूल-जगत की ओर ही सतृष्ण दृष्टि से देखता है, तब तक अतीन्द्रिय सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जा सकता। हमारी आकांक्षाएँ यदि दृश्यमान् जगत् से ही पूर्ण हो सकती हैं तो फिर उन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अतीन्द्रिय सत्ता की ओर हमारी दृष्टि क्यों जायगी? किन्तु संसार-चक्र में घूमते-घूमते, नाना प्रकार के भोग एवं अभिज्ञताओं का सञ्चय करते-करते और नाना प्रकार की तीव्र साधनाएँ करने पर भी निरन्तर बाधा और प्रतिकूल घटनाओं से मनोरथ-सिद्धि न होने के कारण जीव जैसे एक ओर क्रमशः अपनी शक्ति की क्षुद्रता का अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्ति की अकिञ्चित्-करता को भी उपलक्ष्य करता रहता है। आकांक्षा की मात्रा बढ़ते-बढ़ते अन्त में ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकांक्षा की पूर्णता जगत् की किसी भी वस्तु के द्वारा नहीं हो सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीर्घ काल के

अनुभव के बिना ऐसी अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है तब सचमुच ही जीव अपने को निराश्रय अनुभव करता है। मनुष्य के जीवन में इस निराश्रय भाव का उदय ही एक परम पवित्र शुभ मुहूर्त्त है; क्योंकि इसी समय से जगत् की ओर से उसकी दृष्टि हट जाती है और वह जगत् के ऊपर किसी अज्ञात और अचिन्त्य शक्ति की ओर देखता है। इसके बाद आकांक्षा की मात्रा जिस परिमाण में घनीभूत होती है स्वाभाविक नियमानुसार ठीक उसी परिमाण में मनुष्य का लक्ष्य लौकिक-जगत् को छोड़कर एक अनन्त सत्ता के केन्द्र को स्पर्श करता है। अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जब तक मनुष्य के अहंभाव की प्रधानता तरह-तरह से पुष्ट होती रहती है तब तक उसके लिये अपने को एक विराट् सत्ता के आश्रित समझना तथा उस सत्ता से अपने को सत्तावान् समझना असम्भव है। संसार के घात-प्रतिघात से जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है, एवं जगत की असारता हृदयङ्गम होती है, तब जगत् के परे तथा जगत् के आत्मभूत ईश्वरीय शक्ति की क्रिया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिये जब तक मनुष्य का समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जब तक भोगाभिमुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शान्तभाव को धारण करना आरम्भ नहीं करती, तब तक यथार्थ-रूप से उसे भागवत-सत्ता में विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकार के मनुष्य भगवान् की भक्ति करते हैं, किन्तु इतना ही मात्र कहने से काम नहीं चल सकता; क्योंकि संसार में ऐसे कितने ही आर्त्त मनुष्य देखे जाते हैं जो घोर विपत्ति के समय भी भगवान् की ओर नहीं ताकते।

इधर जिनको ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा है, अर्थात् जो जिज्ञासु हैं वे सभी भगवान् की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगत् का इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनको अर्थाकांक्षी लोग भी सांसारिक अर्थी अर्थात् धनी की उपासना ही किया करते हैं, अर्थ-लाभ की आशा में भूलकर भी वे कभी जगदीश्वर की शरण ग्रहण नहीं करते और, शुष्क ज्ञानी भी ज्ञाननिष्ठ होने पर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान् के श्रीचरण में आत्मसमर्पण करने में समर्थ नहीं होते। पूर्व जन्म के सौभाग्य अथवा भगवान् की विशेष कृपा का सञ्चार हुए बिना भगवान् की ओर चित्त के लग जाने की आशा दुराशामात्र है, श्रीभगवान् ने गीता में भी 'सुकृतिनः' इस विशेषण के द्वारा समझा दिया है कि सुकृति हुए बिना केवल आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थ की आकांक्षा अथवा ज्ञान-सम्पत्ति-द्वारा ही चित्त भगवान् की ओर आकृष्ट नहीं होता।

अतएव जो भगवान् में आस्था स्थापन नहीं कर सकते उनका अभी समय पूरा नहीं हुआ है, यही समझना होगा, और जिनके चित्त में भगवद्विश्वास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जाने के कारण ही आप्तवाक्य, शिक्षा, संसर्ग प्रभृति निमित्तों के अवलम्बन से विश्वास जाग उठा है। कर्म-पथ में अग्रसर होते-होते प्रत्यक्ष ज्ञान के आविर्भाव में यह विश्वास घनीभूत हो जायगा।

(२)

दूसरा प्रश्न यह है कि, 'भगवान् में विश्वास नहीं करने से हानि क्या है।' इस प्रश्न के उत्तर में मेरा कहना यही है कि 'यदि भगवान् में विश्वास करने का कोई आध्यात्मिक मूल्य है तो यह मानना होगा कि विश्वास नहीं करने से अवश्य ही हानि होगी। परन्तु बात यह है कि विश्वास जिस प्रकार बलात् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी युक्ति या तर्क के बल से दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य जब अपने अहंभाव की सीमा को देखता है और समझता है कि किसी अचिन्त्य शक्ति के प्रतिघात से उसका पुरुषार्थ पद-पदमें क्षुण्ण होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं उसकी शक्ति भी परिमित और ससीम है, तब स्वभावतः उसका व्याकुल चित्त विश्व-ब्रह्माण्ड को लाँघ-कर एक असीम तत्त्व की ओर दौड़ता है। किन्तु जब तक प्राकृतिक क्रम-विकास के नियमानुसार इस प्रकार की अवस्था आविर्भूत नहीं होती तब तक बलपूर्वक भगवान् में विश्वास करने की चेष्टा निष्फल-प्रयास-मात्र है। यद्यपि भगवान् में विश्वास कर सकने पर मंगल सोपान में पदार्पण कर धीरे-धीरे परम मंगल के पथ पर अग्रसर होने का उपाय सहज ही हो जाता है तथापि जब तक यह स्वभावतः ही हृदय में उदित नहीं होता, तब तक अविश्वास से हानि होने पर भी उसे स्वाभाविक रूप से नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही पड़ता है। कोई भगवान् में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों क्षेत्रों में विचार कर देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही भगवान् के मंगलमय विधान के अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियम के बाहर की बात नहीं है। आज जो भाग्यवश विश्वास के सोपान पर पैर रखने के अधिकारी हो रहे हैं, यदि उनके सुदीर्घ अतीत जीवन के इतिहास का अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे। सब मनुष्य सृष्टि के आदि से ही भगवान् में विश्वासी होकर संसार-क्षेत्र में नहीं आते? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे चल कर अविश्वास में परिणत हो जाती है और अन्त में वही अविश्वास विश्वास के स्वर्णालोक में देदीप्यमान हो उठता है। जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है, वे मनुष्य के बाह्य आचार एवं स्थूल आचरण देखकर उसके चित्त की शुद्धता की मात्रा का निर्देश नहीं करते, वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है वही कल अपने भोगों के पूर्ण होने पर तथा निवृत्तिमुखी गति का पूर्वाभास प्राप्त होने पर—अनन्य भक्त के रूप में उन्नत हो उठता है। प्राचीन ईसाई-संघ के इतिहास की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि 'पाल' (Paul) एक समय ईसाइयों के घोर विद्वेषी समझे जाते थे, कालान्तर में वे ही ईसा के अन्तरंग भक्तों में गिने जाने लगे। समस्त धर्मों के इतिहास में बारम्बार इस प्रकार के वृत्तान्त मिलते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझे कि मैं अविश्वास का समर्थन कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्य के जीवन में अविश्वास का भी एक समय निर्दिष्ट रहता है। अविश्वास भी परिणाम में विश्वास का रूप धारण करता है, अतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है। किन्तु जो अदूरदर्शी हैं, वे वर्त्तमान

अवस्था को ही एकमात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि भगवान् में विश्वास नहीं करने से क्षति होने की सम्भावना है।

सुतरां व्यापकदृष्टिसम्पन्न ज्ञानी के दिव्य नेत्रों के सामने अविश्वास की भी एक मर्यादा होती है। अवश्य ही लौकिक अपूर्ण दृष्टि से अविश्वास के दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखने में आते हैं।

ईश्वर में विश्वास न करने से क्या हानि होती है', इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि परमार्थ-दृष्टि से हानि होने पर भी इस अविश्वास के भविष्यत् में उन्नति के लिये आवश्यक होने के कारण इस हानि को वस्तुतः हानि नहीं समझना चाहिये। भगवान् को न मानना यदि उनके मानने का ही पूर्वाङ्ग हो तो वह हानि सामयिक मात्र है, किन्तु परिणाम की दृष्टि से वह अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भगवान् में अविश्वास करना घोर अनर्थ का कारण है। ईसा कहते हैं—

'He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.' (Aristion's Appeddix—Mark 16–16)

अर्थात् जिसके चित्त में विश्वास उत्पन्न हो गया है तथा जो भगवत्-शक्ति द्वारा अभिषिक्त हो गया है, वह संसार से उत्तीर्ण हो जायगा; परन्तु जो अविश्वासी है उसे भयंकर दुर्गति भोगनी पड़ती है। गीता में लिखा है—'संशयात्मा विनश्यति।' इस प्रकार सभी धर्मों में विश्वास की प्रशंसा और अविश्वास की निन्दा पायी जाती है। जिनको अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भाव और विषय के भेद से चित्त की अवस्था में परिवर्तन होता है। जिसका चित्त जिस प्रकार के भाववाला होता है, वह उस प्रकार का फल प्राप्त कर सकता है। जिस किसी विषय में विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भाव से भावित हो उठता है। ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि इस पर विश्वास करके तद्भाव से भावित हो सके, चाहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वास के बल से भगवान् के साथ मनुष्य के चित्त का एक सम्बन्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उस चित्त में अज्ञात रूप से भगवत्-शक्ति नाना प्रकार से उस पर कार्य करती रहती है। सत्य में प्रतिष्ठित विश्वास के द्वारा इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्ण सत्य का बोध उत्पन्न होता रहता है। भगवान् में विश्वास कर सकने पर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमा में पड़ जाने के कारण क्रमशः उनके निकटवर्ती होता जाता है, फिर सांसारिक वासनाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। सत्य-विश्वास के प्रताप से सैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं। इसी से अविश्वास से होनेवाली हानि का अनुमान किया जा सकता है। नित्य और आनन्दमय वस्तु में विश्वास हुए बिना अमरत्व और आनन्दमय सत्ता में स्थित होने की आशा दुराशामात्र है। नित्य वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से जीव को निरन्तर संसार चक्र में घूमना पड़ता है; भला,

इससे अधिक हानि और क्या हो सकती है ? विश्वास का फल अमरत्व है और अविश्वास का फल मृत्यु-राज्य की मलिनता और अन्धकार है।

तथापि यह बात याद रखनी चाहिये कि यह लौकिक दृष्टि का ही समाधान है। दिव्य दृष्टि से मृत्यु भी अमृत की छाया होने के कारण अमंगल का कहीं लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

(३)

प्रश्नकर्ता का तीसरा प्रश्न है कि 'ईश्वर के अस्तित्व में कौन-कौन से प्रमाण हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विचार-दृष्टि से ईश्वर की सिद्धि अथवा खण्डन में जो कुछ युक्तियाँ दी जायँगी, उनमें कोई-सी भी ऐकान्तिकरूपेण सर्वत्र गृहीत नहीं हो सकती ? उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में नैयायिक-पक्ष का अवलम्बन करते हुए ईश्वर-बाधक प्रमाणों का खण्डन कर ईश्वर-साधक प्रमाणों को सुचारुरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्ती अनेक विद्वानों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस विषय की आलोचना की है। उत्पलदेव ने 'सिद्धित्रयी' नामक ग्रन्थ के 'ईश्वर-सिद्धि' नामक अंश में, तथा अभिनव गुप्ताचार्य ने 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' नामक ग्रन्थ में काश्मीर शैव आगम के प्रतिनिधि-रूप होकर ईश्वर-तत्त्व की आलोचना की है। यामुनाचार्य 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में, लोकाचार्य 'तत्त्वत्रय' नामक ग्रन्थ में, तथा वेदान्तदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभृति ने अनेकों स्थलों में श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के पक्ष को लेकर ईश्वरवाद की आलोचना की है। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ईश्वर-तत्त्व की समालोचना के प्रसंग में साधक और बाधक युक्तियों का तात्त्विक विचार किया है। पाश्चात्य देश में भी अनेक स्थलों में इस विषय की बारम्बार आलोचना हुई है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में, विशेषकर मध्ययुगीय Schoolmen आदि के दार्शनिक विचारपूर्ण शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थों में इस आलोचना के नैतिक, यौक्तिक और आगमिक उपपत्ति के अनुकूल बहुतेरी बातें लिखी गयी हैं। वर्तमान समय में भी जो मनीषी पुरुष विज्ञानवेत्ता होते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, वे भी युक्तितर्कपूर्वक अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इस विषय में ग्रन्थ रच गये हैं।

परन्तु इन सब आलोचनाओं को पढ़कर बुद्धि के परिमार्जित होने पर भी किसी को ईश्वर में तनिक-सा भी विश्वास बढ़ता है या नहीं, यह सन्देह का विषय है। प्रथम और द्वितीय प्रश्न के उत्तर में मैंने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-बल से कोई कभी ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। युक्ति के सुप्रतिष्ठित होने से उसके द्वारा ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एक आनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु युक्ति का प्रतिष्ठित होना ही कठिन है। नैयायिक जिस युक्तिद्वारा ईश्वर की सिद्धि करते हैं, मीमांसक लोग उस युक्ति को युक्ति का आभासमात्र समझते हैं। कार्य देखकर चेतनकर्ता का अनुमान करना अथवा केवल

कारणमात्र का अनुमान करना, एक विवादग्रस्त विषय है। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है।

वस्तुतः प्रयोग-कुशल शक्तिशाली पुरुष के हाथ से अस्त्र-विशेष जिस प्रकार कार्यकारी होता है उसी प्रकार सिद्धिसम्पन्न शक्तिशाली पुरुष-विशेष-द्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्थक होती है; जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति की है, तथा जो दूसरों को, प्रयोजन होने पर, अवस्था-विशेष में सन्दिग्ध विषय को प्रत्यक्षरूप से दिखला देने की क्षमता रखते हैं, उनकी दी हुई युक्ति युक्ति होने पर भी दूसरों को समझाने के लिये अधिक उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता तो बहुत दिन पूर्व ही विचार के द्वारा ईश्वर का अथवा अन्य किसी अतीन्द्रिय-सत्ता का रहस्य मीमांसित हो जाता। सुतरां मैं ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में जो युक्तियाँ उपस्थित करूँगा, उन सबको आपेक्षिक ही समझना होगा; क्योंकि अवस्था-विशेष में वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होने पर भी उनकी सारवत्ता न रहेगी।

'ईश्वर' शब्द से मेरा अभिप्राय 'संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्ता एवं अनुग्रह और निग्रह के हेतुभूत (कारण-स्वरूप) सच्चिदानन्दमय अनन्तशक्तिसमन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सत्ता में जो शक्तियाँ निहित रहती हैं, उन शक्तियों की साम्यावस्था को ही ईश्वर का 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैषम्य-काल में कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर शक्ति को अभिभूत कर प्रकाशित हो उठती है, इससे केवल उसी शक्ति की क्रिया दिखायी देती है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् रूप से सृष्टि में अनन्त शक्तियों की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टि के अन्त में किसी भी शक्ति की उपलब्धि नहीं होती, तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न भाव से एक-रस हो प्रकाशित रहते हैं। संसार में जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वर से उद्भूत है, ईश्वर में स्थित है एवं ईश्वर में ही विलीन होता है। इसलिये जब तक जगत् है, तब तक जगत् के आश्रयरूप—जिस प्रकार जलाशय तरंगों का आश्रय होता है उसी प्रकार—ईश्वर-सत्ता को अनुसन्धान-पूर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं, सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्ता से अभिन्न है, इसकी भी उपलब्धि करनी होगी। प्रलय में जगत् जिनमें विलीन हो जाता है, तथा उस समय जो अवशिष्ट रहता है, उस विशुद्ध ईश्वरीय सत्ता को भी समझना होगा। जगत् की स्थिति के समय इसके संरक्षक, नियामक, दर्शक और यहाँ तक कि भोक्ता-रूप में भी ईश्वर की सत्ता अनुसन्धान-योग्य है। जो कला और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाह-रूप में प्रवर्तित हो व्यावहारिक जगत् का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति जहाँ से होती है, वही ईश्वर है। इस प्रकार से भी सर्वशक्ति के अधिष्ठाता के रूप में भी ईश्वर के अस्तित्व की धारणा करनी होगी।

इस परिदृश्यमान जगत् की पर्यालोचना करने से पता लगता है कि लौकिक प्रत्यक्षगोचर स्थूल सत्ता के अन्तराल में एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता वर्तमान रहती है। शक्ति के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस किसी वस्तु में क्रिया हो, उसके मूल में शक्ति की प्रेरणा रहती है, इस बात को मानना ही होगा। किसी कौशल से शक्ति

का निरोध कर सकने से उसके फलस्वरूप क्रिया भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्य के शरीर में दर्शन, श्रवण प्रभृति क्रियाएँ अथवा ग्रहण, गमन, उत्सर्ग आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओं के मूल में एक शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार बाह्य-जगत् में वायु का सञ्चलन, मेघ का गर्जन, विद्युत् की दीप्ति इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। जब क्रिया के द्वारा ही शक्ति का अनुमान होता है, तब विभिन्न क्रियाओं के पार्थक्य से शक्ति के पार्थक्य को भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिन लोगों ने जड़-विज्ञान की दृष्टि से शक्ति-तत्त्व की आलोचना की है, वे जानते हैं कि एकजातीय शक्ति से अन्य-जातीय शक्ति का आविर्भाव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बन्धित हैं, ऐसी बात नहीं है, उनके मूल में एक के सिवा दूसरी शक्ति का पता नहीं लगता। एक ही महाशक्ति आधार-भेद से भिन्न-भिन्न शक्तिरूप में प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है—

'एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।'

चण्डी का यह महावचन बीसवीं शताब्दी के विज्ञान को भी सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ा है।

किन्तु इस शक्ति का स्वरूप क्या है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में विज्ञान अब तक कुछ भी समाधान नहीं कर सका है। शक्ति के अखण्ड रूप के विज्ञान के दृष्टिगत होने में अभी देर है। किन्तु उसके परिच्छिन्न रूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जगत् में यथेष्ट गवेषणा हो चुकी है। सिद्धान्त यह है कि यह शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ता के रूप में आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेकों धर्मों का विकास होता है, जिनका अस्तित्व विशुद्ध शक्ति की अवस्था में खोजने पर भी नहीं मिलता। वस्तुतः भौतिक रूप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्था मात्र है; क्योंकि शक्ति को यन्त्र द्वारा बद्ध न कर सकने पर उससे स्थूल भाव का विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकार से इस बन्धन को मुक्त कर देने पर, अर्थात् स्थूल भाव से स्थूलत्व को हटा लेने पर सत्ता विशुद्ध शक्ति के रूप में ही पर्यवसित हो जाती है। अतएव शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहने पर भी वास्तव में अद्वैत है। शक्ति की इस नियन्त्रित अवस्था को सृष्टि में हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। विशुद्ध शक्ति के स्वरूप को साधारणतः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, तथा कोई शक्तिशाली पुरुष यदि उसे दिखला भी दे तो साधारण जीव उसके तेज को सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परिणाम, विपाक प्रभृति व्यापारों से साधारण मनुष्य केवल शक्ति का अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अग्रसर होने का अधिकार साधारण मनुष्यों को तो है ही नहीं, जड़-विज्ञानवादी वैज्ञानिकों को भी नहीं होता। जो लोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाह के साथ न बहकर अपने विवेक और विचार के आश्रय से दृश्यमान वस्तु के सूक्ष्म तत्त्व को ढूंढ निकालने के लिये उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्था के अन्तराल में एक विराट् शक्तिमय अवस्था है। आस्तिक और नास्तिक, ईश्वर के विश्वासी और अविश्वासी सभी को यह

स्वीकार करना होगा; किन्तु प्रश्न यह है कि इस शक्ति का स्वरूप क्या है? यह शक्ति चैतन्य है या जड़, इसका विवेचन करने के पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्ति का कोई सम्बन्ध है या नहीं। क्योंकि, इच्छा को मध्यभूमि में न रख सकने से एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर क्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रिया से केवल शक्ति का अनुमान किया जा सकता है; किन्तु वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो तो उससे ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वैसे ही ज्ञान से इच्छा का विकास किस प्रकार होता है, इसे न जानने से, तथा इच्छा की शक्ति के रूप में उपलब्धि न होने से उससे क्रिया की उत्पत्ति होना युक्ति-द्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् महाशक्ति के क्षुद्रतम अंश के प्रभाव से विशाल जगत् की अनन्त प्रकार की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं उनके साथ इच्छा-शक्ति का क्या सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साधारण दृष्टि से सांसारिक क्रियाकलाप को इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इच्छा से जो कार्य निष्पन्न होता है, वह इच्छाकृत कार्य, तथा उससे भिन्न सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वाभाविक होते हैं। मनुष्य के देह में जो यान्त्रिक क्रियाएँ होती हैं, उनमें से अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होतीं।

किन्तु इस बात को बहुत लोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक क्रियाएँ भी विशेष चेष्टा और कौशल के द्वारा दीर्घकाल में इच्छा के अधीन हो सकती हैं। अतएव दैहिक क्रियाओं में से जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होतीं, वे भी कालक्रम से इच्छाधीन हो सकती हैं। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति यदि उस प्रकार से परिचालित एवं परिशोधित हो तो उससे देह की समस्त क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छा-द्वारा किसी भी कार्य की प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है तो फिर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि इच्छा ही क्रिया अथवा कार्य का मूल है। अवश्य ही यह दैहिक क्रिया के विषय में कहा गया है; किन्तु यदि बाह्य क्रिया का भी इस प्रकार व्यक्ति-विशेष की इच्छा-द्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो, तो बाह्य क्रिया के मूल में भी इच्छा-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्ति की मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिये इससे जितनी बाह्य क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वे भी सब क्षेत्रों में एक-सी नहीं होतीं। अर्थात् यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्ति-की तीव्रता सर्वत्र एक-सी ही होती है। अतएव जिस शक्ति से बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत् में सब प्रकार की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं वह इच्छास्वरूप ही है, यही हमारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड़-शक्तियों से हम परिचित हैं, वस्तुतः वे सभी केवल इच्छा-शक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न होता तो उन शक्तियों के विपरीत इच्छाशक्ति कार्य न कर सकती। मध्याकर्षणशक्ति, वैद्युतिक-शक्ति, आणविक आकर्षण और विकर्षण-शक्ति—ये समस्त शक्तियां विशुद्ध और संयत इच्छा के द्वारा अधीन हो

सकती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आविर्भूत इच्छा की मात्रा की अपेक्षा जिन शक्तियों की मात्रा कम होती है, वे इच्छा के द्वारा अभिभूत होती हैं। एवं जिनकी मात्रा अधिक होती है वे प्रबल होने के कारण इच्छा को अभिभूत कर रखती हैं। प्राक्तन-इच्छा ही वर्तमान काल में जड़-शक्ति के रूप में प्रकटित होती है। वर्तमान-इच्छा प्राक्तन-इच्छा की विरोधी होने के कारण जब प्रबल होती है तो प्राक्तन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड़-शक्ति का ही दूसरा नाम अदृष्ट है, एवं इच्छा-शक्ति का दूसरा नाम पुरुषार्थ है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियों में कोई भेद नहीं है। बोध-क्षेत्र में शक्ति का प्रकाश होने से यही इच्छा अथवा पुरुषार्थ के रूप में अभिव्यक्त होती है। दूसरी ओर अबोध-भूमि, अर्थात् बोध-राज्य के तल-देश से यदि शक्ति का विकास होता है तो उसी को अदृष्ट या जड़-शक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञान का आलोक क्रमशः अधिकतर विशुद्ध होकर निर्मल प्रकाश के रूप में परिणत होता है तब जान पड़ता है कि बोधराज्य के तल-देश में भी बोध रहता है, अर्थात् तब ज्ञान के विस्तार की सीमा अनन्त हो जाने के कारण अज्ञान की सत्ता कहीं ढूंढ़े नहीं मिलती। तब जान पड़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधमय क्षेत्र से उठती हैं। अतएव अभिव्यक्त शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूपा है। यही विराट् महाशक्ति, जिसे इच्छा-शक्ति या ऐश्वरिक-शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, आगम-शास्त्रों में जगदम्बा अथवा जगत्-प्रसूति के नाम से वर्णित हुई है। शिवसूत्रकार कहते है—

‘इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।’

संसार का मूलकारण अभी तक वैज्ञानिकों के दृष्टि-पथ में यथार्थरूप से नहीं आया है। आया होता तो इस कारण-रूपा शक्ति को वे इच्छा के रूप में पहचान सकते, एवं अपनी इच्छा के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध का आविष्कार कर चिन्मयधाम अथवा बोधराज्य में जाने का यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्ति को इच्छास्वरूपा न जानने के कारण वे जगत्-कार्य के मूल में चैतन्य की सत्ता का अविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं, इसके जानने का एकमात्र उपाय यही है कि जिसे हम इच्छा कहते हैं, उसे विशुद्ध और संयत करके उसके द्वारा सांसारिक शक्ति के ऊपर प्रभाव विस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इच्छा के स्फुरण से यदि बाह्यशक्ति स्तम्भित होती है, अथवा निरुद्ध शक्ति उद्रिक्त होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक ओर जैसे बाह्यशक्ति इच्छामयी है वैसे ही दूसरी ओर इच्छा भी शक्तिरूपा है। इच्छा के द्वारा अन्ततः आंशिक रूप में जो बाह्य-शक्ति के ऊपर क्रिया की जाती है यह वर्तमान काल के वैज्ञानिकों को अज्ञात नहीं हैं। जो योगी अथवा उच्च कोटि के साधक हैं वे तो इच्छा-मात्र से ही किसी भी शक्ति का चाहे जिस प्रकार उपयोग करने में समर्थ हैं; जगत् में इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचना से समझ में आ गया होगा कि इच्छा और शक्ति मूलतः अभिन्न पदार्थ हैं, एवं इनके मूल में चैतन्यमय प्रकाश नित्य-सिद्ध सत्ता अथवा परा-शक्ति के रूप में जागृत है। जिस चैतन्यरूपा अखण्ड सत्ता से वात-विक्षुब्ध समुद्र के वक्षःस्थल पर तरंगों के उद्‌गम की भाँति स्वभाव की प्रेरणा से इच्छामयी शक्ति का आविर्भाव होता है तथा इच्छा के द्वारा क्रमसृष्टि के नियमानुसार क्रिया का विकास विकास होता है वही 'ईश्वर' पदवाच्य वस्तु है। इच्छारूपा शक्ति कभी उसमें अन्त-र्लीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेष को प्राप्त होकर बाह्य-गति सम्पादन करते हुए प्रपञ्च-सृष्टि की सूचना करती है। जड़-जगत् से चिन्मय ईश्वर-सत्ता को प्राप्त होने के लिए मध्यवर्ती शक्ति अथवा इच्छा-भूमि से होकर ही जाना होगा। विज्ञान-जगत् में जब इस शक्ति का स्वरूप कुछ यथार्थरूप में प्रकाशित होगा, तब उससे मौलिक चित्-सत्ता के सम्बन्ध में उन्हें (वैज्ञानिकों को) अनुमान करने का अवसर मिलेगा। अप्रतिहत इच्छा अथवा शक्ति का चैतन्यमय आधार ही ईश्वर है।

सूक्ष्म दृष्टि से जगत् के कार्यकारण-प्रवाह की पर्यालोचना करने पर ज्ञात हो जाता है कि बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। केवल यही बात नहीं, बल्कि कार्य और कारण की मात्रा का समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी भी प्रकार के कार्य का तत्त्व समझते समय इस नीति को स्मरण रखना आवश्यक है। प्राच्य दार्शनिकों ने इसी नीति का अवलम्बन कर कर्मवाद की स्थापना की है। कर्मवाद का तात्पर्य स्थूलरूपेण यही है कि कर्म की प्रकृति और मात्रा के अनुसार तज्जनित फल का आविर्भाव होता है। अतएव कर्म-द्वारा जिस प्रकार फल का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार फल के द्वारा भी कर्म का अनुमान किया जा सकता है। प्राणि-जगत् में सुख-दुःख की विचित्र लीला को देखकर उसके कारण का अन्वेषण करने पर कर्म की इस विशेषता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-दुःख-रूप फल जिस असाधारण कारण से उत्पन्न होता है, उसे ही कर्म अथवा अदृष्ट संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि बाह्य-जगत् की कोई सत्ता सुख-दुःख का कारण नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेकों कारणों से उत्पन्न होता है। उनमें से अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणों के समूह समभाव से उपस्थित रहने पर भी असाधारण कारण के बिना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्य का मुख्य कारण है। यह सच है कि सुख-दुःख के अनेकों लौकिक कारण होते हैं, किन्तु उनसे सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकते। इसके लिये किसी असाधारण कारण की सहकारिता आवश्यक है। इसी का दार्शनिक लोग कर्म नाम से निर्देश करते है। जो सुख-दुःख भोगता है, सुख-दुःख के असाधारण कारण अथवा कर्म का उसी में रहना युक्तिसंगत है। नहीं तो कार्य और कारण का वैयधिकरण्य-दोष आ पड़ेगा। एक आदमी कर्म करे और दूसरा उसका फल भोग करे, यह कार्य-कारण-शृङ्खला से नियन्त्रित भौतिक जगत् में सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्नि में हाथ डालता है, उसी का हाथ जलता है, दूसरे का नहीं। इसी प्रकार जो

कर्त्ता होकर सत्-असत् कर्म का अनुष्ठान करता है, उसी को भोक्ता बनकर अपने सुख-दुःख-रूप फल का अनुभव करना होता है, दूसरे को नहीं। इसीलिये भोग की सामग्री के उपस्थित रहने पर भी भोग-साधक कर्म के अभाव में बहुतों के भाग्य में इच्छानुरूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। फिर बहुधा देखा जाता है कि बिना चेष्टा के, बिना प्रयास के, यहाँ तक कि इच्छा और ज्ञान के अभाव में भी, बहुतों को आशातीत भोग्य वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। बीज के बोये बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, उसी प्रकार पूर्व कर्म न होने से सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। यह जो अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड असंख्य प्रकार के जीवों को वक्षःस्थल पर धारण कर काल-स्रोत में बहते चले जा रहे हैं, तथा उनके सामने अनेक प्रकार के सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकार की विचित्रता को साथ लिये हुए वर्तमान है।

कर्म से ही फल होता है यह ठीक है, किन्तु अचेतन कर्म केवल जड़-शक्ति है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्य-सत्ता के सान्निध्य और प्रेरणा के बिना कभी परिचालित नहीं हो सकती। लौकिक जगत् में भी जड़-शक्ति का स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। पीछे कर्त्ता न हो तो करण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकते। जड़-शक्ति केवल करण या यन्त्र-मात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अग्नि में दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वधर्म से ही दाह्य वस्तु को दग्ध करती है; किन्तु किसी निर्दिष्ट वस्तु को दग्ध करने में अग्नि के प्रयोग के लिये एक चेतन पुरुष की आवश्यकता होती है। अग्नि अपने आप स्वतः प्रेरित होकर किसी निर्दिष्ट वस्तु को नहीं जला सकती। कर्म-शक्ति भी इस प्रकार अग्नि के समान जड़-शक्ति है; इसी से स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उत्पन्न होता है। अवश्य ही जिस आधार पर कर्म सञ्चित होते हैं, सुख-दुःख के भोग भी उसी आधार से होते हैं, इसके बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु स्वभाव के नियमानुसार फल के उत्पन्न होने पर भी उसका भोग्य-रूप में आविर्भाव होना किसी प्रबलतर शक्ति-द्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्म से ही फल होने पर भी उसको व्यवहार-क्षेत्र में लाने के लिये किसी इच्छाशक्ति-सम्पन्न प्रबल सत्ता की प्रेरणा आवश्यक है। जगत् के अन्तर्यामी-रूप में जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छा-शक्ति का एक मात्र अधिष्ठान है, उनके सङ्कल्प से ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्म के साक्षी और भोग के साक्षी हैं, एवं उन्हीं के ईक्षण के वश कर्म भोग-रूप में परिणत हो भोक्ता के निकट उपस्थित होता है। इसीलिये उनको भोक्ता का कर्म-फल दाता कहा जाता है। कर्मशक्ति के पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्य सत्ता कार्य करती है, यही ईश्वर हैं।

जीव जो कर्म करता है उसके मूल में भी ईश्वर-सत्ता है; एवं वह जो फलभोग करता है उसके भी मूल में वही ईश्वर-सत्ता है। मूल में इस विशुद्ध चैतन्य भाव के न रहने से एक ओर जहाँ कर्म सम्भव नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ता की प्रेरणा किस प्रकार की है, इसे दृष्टान्त द्वारा दिखाया जाता है। जिस प्रकार सूर्य के आलोक में आँखवाला पुरुष नाना प्रकार के रंगों को देखता है, इस देखने के मूल में कारण-रूप में दृश्य वस्तुओं का वैचित्र्य रहता है, एवं द्रष्टा की दृक्-शक्ति भी रहती है। परन्तु इनके होने पर भी इस प्रकार विचित्र रंग न दीख पड़ते, यदि दृश्य वस्तु उज्ज्वल आलोक से आलोकित न होती। इसी प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उनका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वर की चैतन्य सत्ता में प्रतिष्ठित न होने से कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वर को न मानकर केवल कर्म से ही फल की उत्पत्ति मानते हैं, उनके लिये भोग के वैचित्र्य को सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

जगत् में अलङ्घ्य कार्य-कारण-भाव अथवा नियति को देखकर उसके अधिष्ठाता के रूप में जिस सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर है। जिन्होंने जगत् के तत्त्व का जितना ही सूक्ष्म भाव से विश्लेषण किया है वे उतना ही स्पष्ट रूप से समझ सके हैं कि जगत् के प्रत्येक विभाग में नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अत्यन्त जटिल और दुर्बोध है। तथापि एक विभाग के नियम के साथ दूसरे विभाग के नियमों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिससे जान पड़ता है कि मूल में एक ही नियम क्षेत्र-भेद से भिन्न-भिन्न नियमों के रूप में परिणत हो गया है। समस्त जगत् में तथा ज्ञान-राज्य में इस नियमगत ऐक्य का आविष्कार ही विज्ञान की चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्र्य पूर्ण भिन्न-भिन्न ज्ञान-राज्य में एक ही मूल नियम की सत्ता एवं प्रभाव को देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की धारणा होती है कि अनन्त प्रकार के सांसारिक वैचित्र्य के पीछे एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। उसी सत्ता से जब नियमों का उद्भव होता है, तब यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह चेतन है तथा वही जगत् की एकमात्र नियामक है। अतएव जो नियमवादी हैं, उन्हें भी नामान्तर से ईश्वर की सत्ता को मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्क-स्थल में यह कहा जा सकता है कि नियम के साथ नियामक का होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं; क्योंकि यदि नियम को अनादि-रूप से स्वीकार करें तथा वह यदि सचमुच ही अलङ्घ्य-रूप में प्रमाणित हो जाय तो नियम के कर्ता या प्रवर्तयिता के रूप में नियामक के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। यह शङ्का निराधार भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तव में नियम वैसा नहीं है। साधारण ज्ञान से नियम का आदि अथवा व्यतिक्रम चाहे अनुभव में न आवे, किन्तु ज्ञान की निर्मलता के साथ-साथ क्रमशः समझ में आने लगता है कि नियम का आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अवस्था में नियम का नियमत्व ही खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं, उनकी समझ में आ सकता है कि बद्ध जीव के लिये जो नियम है, वह अधिकारी पुरुष के लिये स्वाधीन इच्छा की स्फूर्तिमात्र है। जिस अधिकारी पुरुष की इच्छा सांसारिक नियम के रूप में आत्मप्रकाश करती है वही जगत् का ईश्वर है। जड़-विज्ञान केवल नियम की सत्ता

को ही उपलब्ध कर सकता है, किन्तु जिनकी इच्छा इस नियम के रूप में प्रकाशित होती है, उनका पता उसे नहीं रहता। नियम को अनादिरूप में स्वीकार न करने का कारण यही है कि इच्छाविशेष के प्रभाव से नियम का आदि और अन्त—दोनों स्थलविशेष में उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अखण्डनीय भाव के ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टि से नियम का अनादित्व अथवा अलंघनीयत्व दोनों स्वीकार किये जा सकते हैं।

जो लोग जिज्ञासुभाव से जगत् के इतिहास का अनुसन्धान करते हैं वे जानते हैं कि सांसारिक दृष्टि से ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसी के भी क्रमिक उत्कर्ष की अवधि दृष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अव्यक्त होने पर भी आधारविशेष के अवलम्बन से अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकार का नहीं होता, अतः शक्ति का विकास भी सर्वत्र समानरूप से नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी धारणाशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाब से शक्ति का विकास होता है। अवश्य ही हम किसी निर्दिष्ट शक्ति के सम्बन्ध में यह बात नहीं कहते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रों में एक ही नियम है, किन्तु दोनों के आधार में विशेषता होती है, यही इनमें भेद है। अव्यक्त ज्ञानशक्ति जैसे अनन्त है, वैसे ही अव्यक्त क्रियाशक्ति भी अनन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया-सम्पादन में समर्थ अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रिया-शक्ति का उत्कर्ष आधारभूत उत्कर्ष के ऊपर ही निर्भर करता है। आधार यदि लिन और आवरण से आच्छन्न हो तो शक्ति का विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। आवरण के दूर होने पर शक्ति की अभिव्यक्ति में विघ्न हट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ता के सम्बन्ध से शून्य विशुद्ध उपादान में जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रकाश होता है, वह अपरिच्छिन्न, अप्रतिहत और अनन्त होता है। वस्तुतः यह ईश्वर का ही नामान्तर है। जीवमात्र के भीतर ज्ञान और क्रिया कुछ-न-कुछ अवश्य ही प्रकाशित रहती है, ऐसा न होता तो चेतन जीव जड़ से पृथक् नहीं हो सकता। यही ज्ञान-क्रिया क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आधारविशेष में पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठती है। शास्त्र में शुद्ध आधार में अभिव्यक्त पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्य का ही ईश्वर-नाम से वर्णन किया गया है।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओं का अनुसन्धानपूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व-निर्णय करने का प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम है कि बहुधा सुदूर अतीत काल की अथवा देशान्तर में हुई घटना और दृश्य के समान कभी-कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसी को प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ बिरली नहीं होती। इस प्रसङ्ग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेक प्रकार से किया गया है। इसके तत्त्व की आलोचना करने में हृदय विह्वल हो उठता है। जो दृश्य अब तक सृष्टि के राज्य में

आविर्भूत नहीं हुए, जो घटना अभी तक कहीं नहीं घटी, यदि इस प्रकार के दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक दृष्टि से बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं—अभी स्पष्टरूप से तथा यथार्थरूप से प्रत्यक्ष हो जायँ तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इनके तत्त्व की मीमांसा नहीं कर सकेगा और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता ही नहीं है—व्यावहारिक भाव से ही नहीं, बल्कि प्रतिभास-रूप में भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञान में किस प्रकार आ सकता है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। अतीत ज्ञान के सम्बन्ध में व्यक्तिगत भाव से यह बात इतनी जटिल नही है; क्योंकि चित्त में अनुभूत ज्ञान और क्रिया के संस्कार को स्वीकार करने तथा निमित्त-कारण की सहकारिता से उसमें उद्‌बोधन मान लेने पर अतीत का साक्षात्कार तो बहुत कुछ बोधगम्य हो सकता है। अवश्य ही विश्वव्यापकरूप में अतीत का ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार निहित हैं—के स्वीकार किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे एक विराट् एवं आपेक्षिक नित्यता-विशिष्ट आधार के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जो जीवात्मा के 'एकत्ववाद' के सिद्धान्त को मानते हैं, उनकी दृष्टि से यही वह व्यापक जीव है। सब देशों के और सब युगों के नाना जीव इसी के विभिन्न अंशमात्र हैं, किन्तु अतीत ज्ञान के द्वारा समष्टि जीव का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दृश्य अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्ष से ईश्वर का अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है; क्योंकि काल के प्रभाव से जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शन के समान संस्कार के उद्बोधनद्वारा नहीं हो सकता। संस्कार चित्त अथवा लिङ्ग-शरीररूप आधार में वर्तमान रहता है तथा उद्बोधक कारणों के सन्निधान से जाग्रत् होकर स्मृतिरूप में परिणत होता है। अवश्य ही आविर्भाव की विशदता से आभास-ज्ञान स्पष्टता को प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टि अपरोक्ष-अनुभूतिरूप में दिखलायी दे सकती है। किन्तु अनागत प्रत्यक्ष में चित्त अथवा लिङ्ग-शरीर की कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि नित्य कारण-भूमि से आंशिक-भाव में स्रोत निकलता है और वह कार्यरूप में परिणत हो जाता है। अनागत से वर्तमान की ओर जो शक्ति का प्रवाह है यही कारण की कार्यावस्था के प्रति उन्मुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत-अवस्था में रहती हैं, तब वह कारण के ही अन्तर्गत है। अतएव चित्त अथवा लिङ्ग-शरीर का अन्वेषण करने से कारणस्थ-भाव का पता लगने की कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोत में पड़ा है और न वर्तमान अवस्था में ही उपनीत हुआ है, इसलिये वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण चित्त-क्षेत्र में उसका कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-दर्शन में चित्त अथवा संस्कार किसी की जरा-सी भी अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि तब अनागत-दर्शन किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? महर्षि पतञ्जलि इसके उत्तर में कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमान से भिन्न नहीं है। हमारे लिये जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुष के लिये वह अनागत न होकर वर्तमान ही हो सकता है। इस युक्ति के अनुसार समझा जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है,

अर्थात् जिस ज्ञान में किसी प्रकार का आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना अनागत नहीं रह सकती। वस्तुतः जो हमारे सामने अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीत के विषय में है। जिस भूमि में अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूप में प्रकाशित होते हैं वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ काल का भेद नहीं है, घटना की पृथक्ता नहीं है, भाव की विशिष्टता नहीं है और क्रिया का तारतम्य नहीं है, यही कारण-जगत् है। इसका जो अधिष्ठाता है वही ईश्वर है। अतएव किसी अचिन्त्य कारण से क्षण मात्र के लिये ईश्वरीय सत्ता के साथ जीव-सत्ता की अभिन्नता सिद्ध होने पर जीव को उपर्युक्त भविष्य-दर्शन होना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि जीव-भूमि में जो भविष्यत् है, इस प्रकार की युक्त अवस्था में ईश्वरीय-भूमि से वही वर्तमानरूप में प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान के पहले एक निर्मल अवस्था होती है जहाँ उपर्युक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूप में सदा प्रकाशमान रहता है। इस प्रकार की एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेष के लिये कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रामाणिक भविष्यत्-दर्शन-द्वारा ईश्वरीय-सत्ता का युक्तिपूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वर का अस्तित्व मानने के लिये यह एक अभ्रान्त प्रमाण है।

किसी कार्य की उत्पत्ति में प्रधानतया उपादान और निमित्त यही दो प्रकार के सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्रूपी कार्य का विश्लेषण करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणों को स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादान से जगत् निर्मित हुआ है उसे परमाणु, त्रिगुण, माया या कला किसी भी नाम से पुकारा जाय, उसे जड़ ही मानना होगा, किन्तु चेतन के सन्निधान बिना केवल जड़ उपादान अपने-आप कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। यह चेतन सत्ता ही जगत्-सृष्टि का निमित्त-कारण है—इसी के प्रभाव से जगत् का मूल उपादान विक्षोभ को प्राप्त होकर विभिन्न कार्यों के रूप में परिणत होता है। इस अखिल जगत् का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्त के बिना ही उपादान के विक्षोभ एवं परिणाम को स्वीकार करते हैं वे विपर्यस्त स्वभाववादी हैं, क्योंकि अनुसन्धान किये बिना ही स्वभाव की शरण लेना विचार-शास्त्र की नीति के विरुद्ध है। अतएव सृष्टिप्रवाह में निमित्तरूप से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। अवश्य ही दृष्टि के और भी उत्कर्ष होने पर यह समझ में आता है कि निमित्त और उपादान में वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही चैतन्य-सत्ता अपनी इच्छा से नाना रूप धारणकर विचित्र जगत् के रूप में प्रकाशित होती है।

जगत् की ओर देखने से, सर्वत्र एवं प्रतिक्षण एक ओर परिवर्तन होता हुआ दिखलायी देता है, यह सर्ववादि-सम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टा के सामने परिवर्तन की सार्थकता है। जगद्व्यापी इस शाश्वत परिणाम का कोई नित्यद्रष्टा अवश्य है। न होने से परिवर्तन का कोई अर्थ ही न रहता। विशुद्ध व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत् के अखिल अभिनयों को निर्विकार-रूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है।

कहना नहीं होगा कि इस रूप में दृक्शक्ति ही अभिव्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ विलीन अवस्था में स्थित हैं।

(४)

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विचारशील साधारण व्यक्ति के बोधगम्य होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गयी हैं वे सभी युक्तिमात्र हैं, इस प्रकार की बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्र में दिखलायी गयी हैं एवं प्रतीच्य ईश्वर-विश्वासी पण्डितों ने भी अपने-अपने ग्रन्थ में दिखलायी हैं, वस्तुतः प्रयोजन होने पर और भी बहुतेरी युक्तियाँ दिखलायी जा सकती हैं। किन्तु इन युक्तियों के द्वारा कोई कभी ईश्वर में विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्र-वाक्य अथवा अनुभूतिसम्पन्न महापुरुष के वाक्य से ईश्वर की सत्ता के विषय में उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तःप्रदेशोन्मुख हृदय में जो अस्फुट श्रद्धा का उदय होता है, विचार के द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्ति का उद्देश्य है। किन्तु जो आगम-प्रमाण की प्रमाणता को नहीं मानते, उनके चित्त में शुष्क युक्ति के द्वारा किसी विषय में विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचार का प्रधान कार्य असम्भावना-बोध को दूर करना है अर्थात् हृदय आप्त-वचन सुनकर स्वभावतः ही जिस विषय में श्रद्धाशील होता है वह अयौक्तिक नहीं, बल्कि सम्भवनीय है, यह दिखला देने पर ही युक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रणाली द्वारा उसी श्रद्धा के विषयीभूत, महापुरुषों के उपदिष्ट एवं युक्ति द्वारा समर्थित सत्य को प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन प्रणाली में मूलतः योग ही सर्वप्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति इसी के ही एक-एक पर्वमात्र हैं। योग के अवलम्बन से जब साध्य तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष का विषयीभूत किया जाता है तब सभी संशय अपने-आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का मायिक भेद दूर होने पर विशुद्ध ज्ञान के आलोक में विशुद्ध चैतन्य-ज्योति अपने आप ही प्रतिष्ठित होकर अखण्ड स्वप्रकाश-सत्ता-रूप में स्थित होती है।

जो साधन पथ के पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वर का अस्तित्व शुष्क युक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञान की जिस भूमि से हम वर्तमान अवस्था में जगत् को देखते हैं, जब तक उस भूमि का अतिक्रम नहीं कर पाते, तब तक जगत् का अथवा अपना या तदतंत किसी सत्ता का बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा। किन्तु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारणवश चित्त में क्षणमात्र के लिये भी चित्-शक्ति सञ्चारित होकर साथ ही ज्ञान की भूमिका को परिवर्तन कर दे, तो एक ही मुहूर्त में हमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अचानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप धारण कर लेगा। इस समय हम नास्तिक और घोर अविश्वासी क्यों न हों, लोकोत्तर शक्ति के प्रभाव से एकाएक नवीन मनुष्य के रूप में परिणत हो सकते हैं। जगत् में जहाँ ईश्वर-दर्शन या सत्य-ज्ञान का उदय हुआ है वहाँ इसी प्रकार ही हुआ है, युक्ति-तर्क द्वारा स्वपक्ष और परपक्ष के विचार से कहीं नहीं हुआ। वस्तुतः मनुष्य के जीवन में ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं जिनसे मनुष्य के दृष्टिकोण का परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं लगती।

प्रश्नकर्त्ता चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि आपके व्यक्तिगत जीवन में ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिससे ईश्वर की सत्ता अथवा उसकी करुणा के प्रति विश्वास सदृढ़ हो सकता है। मैंने पहले ही कह दिया है कि मैं व्यक्तिगत अनुभूति को लोगों में प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि भलीभाँति उनको पुकारने पर उनका उत्तर मिलता है, यह निश्चित है। ऐसी-ऐसी विपत्तियों से बहुत बार उन्होंने अलौकिक उपायों से मेरी रक्षा की है, जिनका प्रतीकार लौकिक उपायों से हो ही नहीं सकता था; और जिनका स्मरण आते ही उनकी करुणा और प्रेम का भाव हृदय को अभिभूत कर डालता है। ज्ञान के राज्य में, कर्मभूमि में तथा भाव के मन्दिर में उन्हीं की मङ्गलमयी सत्ता एवं शक्ति का प्रतिनियत मैं कितने रूपों में अनुभव करता रहता हूँ, उसके वर्णन का परिशेष कभी नहीं हो सकता।

ये विषय इतने गुह्य और गोपनीय हैं कि इसके सम्बन्ध में साधारणतः किसी के साथ आलोचना करने की प्रवृत्ति नहीं होती। मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस प्रकार विश्वासशील है दूसरी ओर उसी प्रकार संशय-प्रवण है। अतएव मैंने अपने जीवन में जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी ही कठोरता के साथ सब प्रकार प्रमाण की कसौटो पर जाँचे बिना स्वयं कभी सत्यरूप में ग्रहण नहीं किया या नहीं करता हूँ। मेरे विश्वास में जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है, अतएव परीक्षा करने से उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं। प्रातिभासिक सत्ता से व्यावहारिक सत्ता को ज्ञानालोक में पृथक् करके पहचाने बिना पारमार्थिक सत्य की ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रीभगवान् की कृपा और सद्गुरु के अनुग्रह से इस क्षुद्र हृदय में प्रतिभास से व्यवहार, तथा व्यवहार से परमार्थ की ओर जाने की मार्ग कुछ मालूम हुआ है, कुछ-कुछ खुल गया है। परन्तु अपने पुरुषार्थरूप उद्यम की सहायता से जब उनकी नित्य प्रकृति अन्तर में जाग उठेगी, तब स्वभाव के स्रोत चलते-चलते, प्रत्येक स्तर में उनकी उपलब्धि करता रहूँगा। एवं सोपान-परम्परा से कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूप में नित्य योग के विकास से उनके अखण्ड सत्त्वमय, ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर अन्त में लीला-अवसान में उनके सर्वभावमय किन्तु सर्वभावातीत परमरूप में स्थित हो सकूँगा। 'गुरोः कृपैव केवलम्'।

भगवद्-विग्रह[1]

जिज्ञासु—श्रीभगवान् के देहतत्त्व के सम्बन्ध में मुझे कुछ पूछना है। आज्ञा दें तो पूछूँ।

वक्ता—अवश्य, निस्संकोच पूछ सकते हो। मैं जो कुछ जानता हूँ, तुम्हें बतलाने में त्रुटि नहीं करूँगा।

जिज्ञासु—श्रीकृष्ण के देह के सम्बन्ध में आलोचना करते समय स्वभाव से ही भगवद्-विग्रह के विषय में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि भगवान् का विग्रह है या नहीं, और है तो वह किस प्रकार का है? यही मुख्य प्रश्न है। श्रीकृष्ण यदि भगवान् के अवतार अथवा स्वयं भगवान् थे तो उनकी जिस देह को संसार के लोग प्रत्यक्ष देखते थे, उसका क्या स्वरूप था, उस देह के अतिरिक्त उनकी और कोई देह थी या नहीं, और थी तो वह किस प्रकार की थी, ऐसे बहुत से अवान्तर प्रश्नों के समाधान की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

वक्ता—वत्स, भगवान् के देह है और धाम भी है; यह वर्णन शास्त्रों में मिलता है। साथ ही 'भगवान् निराकार विशुद्ध चैतन्यमात्र हैं, उनमें किसी प्रकार के आकार का आरोप नहीं हो सकता, उनके नाम-धाम प्रभृति सभी कल्पित हैं'—यह भी शास्त्रीय सिद्धान्त है। ईश्वर साकार हैं या निराकार, इस बात को लेकर विवाद करने की आवश्यकता नहीं। जो अन्तर्दर्शी हैं, वे जानते हैं कि ईश्वर को साकार भी कहा जा सकता है और निराकार भी—पर वस्तुतः वे साकार और निराकार, इन दोनों प्रकार की कल्पनाओं से ही अतीत हैं।

जिज्ञासु—गीता में 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' कहकर श्रीकृष्ण ने अपने जन्म और कर्म दोनों को 'दिव्य' बतलाया है। अवश्य ही यह लीला-तत्त्व का विषय है। इससे मालूम होता है कि भगवान् के अवतार-रूप जन्म अथवा कर्म दोनों ही असाधारण अप्राकृत हैं। जन्म शब्द से यहाँ देहग्रहण समझना होगा।

वक्ता—भगवान् में जन्म भी नहीं है और कर्म भी नहीं है। कारण, उनके अदृष्ट (प्रारब्ध-कर्म) नहीं हैं। जीव अपने प्राक्तन कर्म-संस्कारवश तदनुरूप देह ग्रहण कर कर्म-फल का भोग करता है और नवीन कर्मों का सम्पादन करता है। भगवान् में कर्म-संस्कार न रहने के कारण वे भोग-देह ग्रहण नहीं करते एवं उनमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है, इसलिये वे किसी नवीन कर्म के सम्पादक भी नहीं बनते। वे ऐसा कर्म नहीं करते, जिससे फल उत्पन्न होता हो। भगवान् क्यों, मुक्तपुरुष भी जन्म-कर्म-रहित ही

१. यह लेख प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है।

होते हैं तथापि शास्त्रों में भगवान् के भी देह-ग्रहण के और कर्म के सम्बन्ध में वर्णन पाये जाते हैं। सुतरां, यह कहना नहीं होगा कि वे जन्म-कर्म इतर जीवों के सदृश नहीं है। इसीलिये गीता में 'दिव्य' शब्द के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया गया है। दुःखमग्न जीवों के कल्याणार्थ कभी भगवान् और कभी उनके परिकरगण देह ग्रहण कर अवतीर्ण हुआ करते हैं। उनके जीबन के कर्म साधारण जीवों के कर्म से पृथक् होते हैं—वस्तुतः, एक तरह से उनको कर्म न कहने में भी कोई क्षति नहीं है। जिसके मूल में अदृष्ट की प्रेरणा नहीं है और फल का भोग नहीं है, वह कर्म प्रचलित-कर्म-जातीय कर्म नहीं है, इसमें सन्देह ही क्या है? 'लीला' शब्द के द्वारा अनेक लोग इसी विलक्षणता को समझाया करते हैं।

जिज्ञासु—किसी-किसी का कहना है कि भगवान् के जन्म या कर्म हो ही नहीं सकते। जो सर्वव्यापक अखण्ड सत्तास्वरूप हैं, किसी भी देश, काल में जिनके अभाव की सम्भावना नहीं हैं, जो निष्क्रिय चैतन्यस्वरूप हैं और सर्वदा एकरूप हैं, उनमें जन्म और कर्म कैसे हो सकते हैं। इसी से उनका अवतार नहीं हो सकता। विचार करके देखने पर ऐसा कहना असंगत भो नहीं प्रतीत होता। इस विषय में वास्तविक सिद्धान्त क्या है, मैं उसी को जानना चाहता है।

वक्ता—वत्स, जिस दृष्टि से भेद या अभेदमूलक किसी भी वैशिष्ट्य की प्रतीति नहीं होती, वहाँ न तो कोई शङ्का है और न किसी समाधान की ही आवश्यकता है। जहाँ भेद और अभेद दोनों का ग्रास करके स्वप्रकाश तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वहाँ भी शङ्का नहीं है। जहाँ काल का विकास और माया का विस्तार है, अतएव जहाँ भेद और अभेद का परस्पर वैषम्य प्रकट हो रहा है, वहीं संशय की उत्पत्ति होती है और इसी द्वन्द्वमय अवस्था में शङ्का और समाधान हुआ करते हैं। श्रीभगवान् का जो रूप सर्वातीत है, अव्यक्त है, निरञ्जन है—यहाँ वह आलोच्य नहीं है। उनका जो सर्वात्मक और स्वप्रकाशरूप है—वह भी आलोचना से अतीत है। परन्तु जिस रूप से वे नियामक हैं और जीव नियम्य है, वे आनन्दमय हैं और जीव दुःखमग्न है, वे कर्मफलदाता और जीव कर्मफलभोक्ता है—यहाँ उसी की आलोचना करनी है। इस आनन्दमय और करुणामय रूप के हो अवतार हुआ करते हैं। जो आत्मा इस आनन्दपुर में आनन्दमय भगवत्-साधर्म्य को प्राप्त हैं, उनके भी अवतार हो सकते हैं – होते भी हैं।

जिज्ञासु—अच्छा, भगवान् का यह आनन्दमय रूप क्या नित्य है? जब वे अवतीर्ण होते हैं, तब क्या इस नित्य रूप को त्यागकर मायिक रूप ग्रहण करते हैं? यदि ऐसा ही होता है तो फिर उस परिगृहीत रूप का वैशिष्ट्य ही क्या है?

वक्ता—देखो, भगवान् का वह आनन्दमय रूप नित्य है—उसका त्याग-ग्रहण नहीं है, उदयास्त नहीं है, वह कालातीत और निर्विकार है। शास्त्रकार और महापुरुषगण उसे चिद्घन-विग्रह कहते हैं। इस रूप को सभी कोई नहीं देख सकते। जो देख पाते हैं, वे धन्य हैं। नारद श्वेतद्वीप में गये थे, नारायण को देख भी सके थे तथापि उन्होंने

नारायण के स्वरूप को नहीं देख पाया। शास्त्र में ऐसा वर्णन है। स्वयं नारायण ने कहा था कि नारद मेरे स्वरूप को नहीं देख सके, उन्होंने केवल मेरा मायिक रूप ही देख पाया है। नारद के सदृश भक्त भी सहसा जिस रूप को नहीं देख सकते, कहना नहीं होगा कि उसका दर्शन सुलभ नहीं है।

जिज्ञासु—यह तो ठीक है; भगवान् का रूप अतीन्द्रिय होने के कारण ही क्या सब उसे नहीं देख सकते ?

वक्ता—यह बात नहीं है। अतीन्द्रिय पदार्थ तो बहुत से हैं। उन सबके देखने की योग्यता हो जाने पर भी भगवद्-दर्शन का अधिकार प्राप्त नहीं होता। साधन-राज्य में धीरता के साथ प्रविष्ट होकर चलने से उन सबके अतीन्द्रिय-दर्शन भी बहुत से लोगों को न्यूनाधिक रूप में हो सकते हैं। परन्तु इससे भगवत्-साक्षात्कार की योग्यता नहीं हो जाती। देहाश्रित इन्द्रियाँ परिच्छिन्न क्षमताविशिष्ट हैं। जब ये इन्द्रियाँ साधना के प्रभाव से निर्मल होने लगती हैं, तब ये पहले की भाँति देहाधीन नहीं रहती, अर्थात् लिङ्गदेह की आपेक्षिक शुद्धता के फलस्वरूप जब लिङ्गदेह स्थूलदेह से आंशिकरूप में पृथक्भूत प्रतीत होता है, तब उससे सम्पृक्त इन्द्रियाँ भी फिर उतनी स्थूल जगत् के नियमाधीन नहीं रहतीं। हाँ, दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य ही रहता है।

अब इस विषय को भलीभाँति समझने की चेष्टा करो। चक्षु के द्वारा हम रूप देखते हैं। कहना नहीं होगा कि यह स्थूल भौतिक रूप है। इसे देखने के लिये अनेक नियमों के पालन करने की आवश्यकता होती है। दृश्यपदार्थ का स्फुट आलोक में रहना, इन्द्रिय-गोलक की निर्विकारता, दृश्यपदार्थ के परिमाणगत आत्यन्तिक अणुत्व या महत्त्व का अभाव, चक्षु और दृश्य के मध्य में किसी प्रकार के व्यवधान का न होना इत्यादि—ये सब चाक्षुष-ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। चक्षु जब तक स्थूल-देह के अधीन और उसके द्वारा अभिभूत रहता है, तब तक इन सब प्रतिबन्धकों के कारण उसके साथ बाह्यरूप का सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु इन्द्रिय और देह का परस्पर सम्बन्ध शिथिल होने पर इन्द्रियाँ बहुत कुछ स्वतन्त्र हो जाती हैं—फिर पूर्वोक्त प्रतिबन्धक उनकी गति को नहीं रोक सकते। सुतरां, उस समय विप्रकृष्ट और व्यवहित वस्तु स्पष्ट देखी जा सकती है, सूक्ष्म-वस्तु भी दृश्य होती है। साधारण मनुष्य इन्द्रिय के द्वारा जिसे नहीं देख सकता, इस प्रकार की योग्यताविशिष्ट व्यक्ति उसे देख सकता है। यह एक प्रकार का अतीन्द्रिय-दर्शन ही है।

जिज्ञासु—इन्द्रिय और देह का सम्बन्ध कैसे शिथिल होता है ?

वक्ता—यहाँ उसकी आलोचना नहीं करनी है, क्योंकि यह विषय योगतत्त्व की आलोचना का अंग है। परन्तु यह जान रखना चाहिये कि चित्तशुद्धि के फल से लिंग और देह का आपेक्षिक पार्थक्य प्रतिष्ठित होता है। तब इन्द्रियाँ भी देह से पृथक् की भाँति काम कर सकती हैं।

जिज्ञासु—आप कहना चाहते हैं कि इस प्रकार की चित्तशुद्धि से जो तथाकथित अतीन्द्रिय-दर्शन होता है, वह भी भगवत्रूप के दर्शन के अनुरूप नहीं है।

वक्ता—निश्चय ही। तुम क्या यह सोचते हो कि देवर्षि नारद अतीन्द्रिय-दर्शी नहीं थे ? तथापि वे भगवत्रूप का दर्शन नहीं कर सके। भगवत्रूप अतीन्द्रिय अवश्य है, परन्तु अतीन्द्रिय-वस्तुओं के भी स्तर हैं। इन्द्रिय के अगोचर-राज्य में जाते ही भगवद्धाम में प्रवेश नहीं हो जाता। परन्तु यह बात भी नहीं है कि भगवत्रूप इन्द्रियगोचर ही नहीं होता।

जिज्ञासु—इन सब तत्त्वों को समझना बहुत ही कठिन मालूम होता है। इन विषयों को विशेष आलोचना से पहले जीव के देह-सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा होती है। जीव-देह का रहस्य समझ में आ जाने पर भगवद्देह का रहस्य समझना सहज होगा। जीव के कितने देह हैं ?

वक्ता—साधारण तौर पर यही जान लो कि जीव के तीन देह हैं, यद्यपि इसके अन्दर भी बहुत सी सूक्ष्म बातें हैं। स्थूम, सूक्ष्म और कारण—जीव के ये तीन प्रकार की जड़ देह है। अवश्य हो इसके परे जीव का स्वरूप-देह भी है, जो चैतन्यमय है।

जिज्ञासु—क्या भगवान् के भी इसी तरह के देह हैं ?

वक्ता—भगवत्-स्वरूप ही भगवद्-देह है, वह चिदानन्दमय है, यह बात पहले कही जा चुकी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—यह त्रिविध जड़ या मायिक देह उनके नहीं हैं। जड़-देह धारण करने के लिये अभिमान चाहिये, वह भगवान् में नहीं है, सुतरां जड़ द्रव्य भगवद्-देह नहीं हो सकती। परन्तु अभिमान न होने पर भी आवश्यक होने पर वे अभिमान की रचना करके उसका आश्रय कर जड़-देह ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि यह अभिमान आगन्तुक है और ऐसी ही यह देह भी है। स्वरूपतः जीव के भी जड़-देह नहीं है। जीव का स्वरूप भी चिन्मय है। परन्तु जीव भेद-दृष्टि से भगवदंश होने के कारण आत्मविस्मृतावस्था में जड़-देह का अभिमान कर सकता है। अभिमान की निवृत्ति न होने तक जीव की जड़-देह रहेगी ही। अवश्य ही भगवत्-परिकर-भावसम्पन्न जीवों के सम्बन्ध में यह नियम सर्वदा लागू नहीं होता है। भगवान् की भाँति वे भी आहार्य या आगन्तुक अभिमान का आश्रय कर नवसृष्ट या पूर्वसृष्ट देह में अनुप्रविष्ट हो सकते हैं। साधारण जीव जो कि भगवद्धाम के साथ संसृष्ट नहीं हैं—माया के प्रभाव से आत्मविस्मृत होकर प्राकृत जगत् में पतित होते हैं और प्राकृत देह में अभिमान करते हैं। उनका अभिमान ज्ञानोदय के पूर्व क्षण तक वास्तविक होता है—आत्मज्ञान उदय होने पर वह कट जाता है, साथ-ही-साथ देह-सम्बन्ध भी टूट जाता है।

जिज्ञासु—अच्छा, वेदान्त शास्त्र में जो व्यष्टि और समष्टि भाव से स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह का विचार पाया जाता है, वह भी क्या जीव-देह है ?

वक्ता—निश्चय ही। व्यष्टि-भाव से स्थूल आदि देह का अभिमानी जीव वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ के नाम से कहा जाता है। समष्टि-भाव का अभिमान रहने से विश्व, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन नाम दिये जाते हैं। परमार्थतः दोनों ही जीव हैं। यहाँ जिसे 'ईश्वर' कहा गया है, यह भी नित्य ईश्वर नहीं हैं, कार्य ईश्वर हैं। तत्त्व-दृष्टि से ये भी जीव ही हैं। ब्रह्मादि त्रिमूर्ति इन्हीं की हैं—ये भी त्रिगुण-सम्बन्धी हैं। नित्य ईश्वर त्रिगुणातीत है—विशुद्ध या अप्राकृत सत्त्वगुण का आश्रय करके वे आत्मप्रकाश करते हैं। विशुद्ध सत्त्व नित्य वस्तु होने से परमेश्वर की उपाधिभूत देह भी नित्य और अप्राकृत है। इस विषय की क्रमशः आलोचना की जायगी।

जिज्ञासु—तब क्या भगवान् के व्यष्टि-समष्टि-विभाग नहीं हैं, उनके देह भी नहीं है ?

वक्ता—इसमें क्या सन्देह है ? अच्छा, अब तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूँ, मन लगाकर सुनो। शुद्ध जीव भगवान् का अंश है; नित्य, अव्यक्त (अतीन्द्रिय), आनन्दरूप, स्वप्रकाश, चिदात्मक, निरवयव और निर्विकार है। जीव का परिमाण अणुमात्र है—परन्तु अणु होने पर भी वह स्वगुण ज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्यापक है। ज्ञान इसके आश्रित है। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसे ही उसका ज्ञान भी नित्य, अजड़, आनन्दरूप द्रव्य-विशेष है। प्रत्येक जीव का स्वरूप जीव-भाव से पृथक् है, परन्तु वह पार्थक्य समझाया नहीं जा सकता। जब कुछ भी औपाधिक भेद नहीं रहता, तब भी वह पार्थक्य लुप्त नहीं होता। किन्तु उस स्वरूप की अभिव्यक्ति भगवान् की विशेष कृपा बिना नहीं होती।

कारण-जगत् में जो बीजभूत जीव-देह है, वही कारण-शरीर है, वह जीव का स्वरूप नहीं है। जीव का स्वरूप वस्तुतः कार्य-कारण-चक्र के भी अतीत है। कारण-देह भी एक प्रकार नित्य है—वह प्रवाह रूप से नित्य है। बीज का ध्वंस नहीं है, उत्पत्ति भी नहीं है। जिस प्रवाह से समग्र जगत् चल रहा है, वह जब तक है, तब तक यह जगत् भी है। कारण अलिङ्ग है, परन्तु इसी से लिङ्ग आविर्भूत होकर भौतिक आवरण से पुष्टि और स्थूलता को प्राप्त करता है। प्रयोजन बोध या कामना से ही कारण कार्यरूप में परिणत होता है। जब जिस मात्रा में वह प्रयोजन सिद्ध होता है और कामना निवृत्त होती है, तब उसी परिमाण में जीव मुक्त होता है। प्रयोजन और कामना पूर्ण रूप से तृप्त हो जाने पर फिर सृष्टि चक्र में रहना नहीं पड़ता। जीव जब कारण-जगत् में अपने कारण-देह में अहंबोध करता है, तब वह अपने देह (कारण) से विद्युत्-स्फुलिङ्ग के सदृश लिङ्ग-ज्योति का आविर्भाव देखता है। कारण का जो अंश निकलकर लिङ्गरूप में प्रकट होता है, वह अंश अपने उद्भव-स्थान कारण को नहीं देख सकता। इस स्वाभाविक सृष्टि के मार्ग में लिङ्ग जिस आकार को प्राप्त होता है, वह लिङ्ग का आपेक्षिक नित्य आकार है। किन्तु यह आकार भी सृष्टि-प्रवाह में सहायक है। जीव लिङ्ग-देह का थाश्रयकर अपने को तद्रूप ही समझता है। शुद्ध

लिङ्ग से एक या एकाधिक प्रभाएँ निकल कर भौतिक-क्षेत्र में आती हैं और भौतिक आच्छादन से आच्छन्न होकर स्थूल-देह के रूप में पुष्टिलाभ करती हैं। शुद्ध लिङ्ग स्वाभाविक नियम से अपनी इस सृष्टि-लीला को देखा करता है, परन्तु उसका जो अंश स्थूल-देह में बँध जाता है, वह अपने उद्भवस्थान को नहीं जान सकता। यह अज्ञान का ही प्रभाव है।

जीव स्थूल-देह में अभिमान करके अपने को देहस्वरूप हो समझता है। फिर क्रमशः साधन के बल से जब स्थूल देह से आच्छन्न लिङ्गदेह उससे कुछ मुक्ति प्राप्त करता है, तब वह समझ में आ सकता है कि स्थूल-देह जीव नहीं है और यह लिङ्ग भो विशुद्ध लिङ्ग नहीं है। कारण, उसमें स्थूल वासना रहतो है। यह लिङ्ग हीं कर्मानुसार स्थूल-देह ग्रहण करता और छोड़ता है। असंख्य बार इस प्रकार जन्म-मरण हो गया है—असंख्य प्रकार की स्थूल-देहों का ग्रहण और त्याग हो चुका है—तथापि लिङ्ग मूल में उस एक ही प्रकार का बना हुआ है। इस लिङ्ग का आकार स्थूल-भाव के अनुरूप है, परन्तु अस्थायी है, इसका कारण यही है कि यह स्थूल सम्बन्ध स्थायी नहीं है। साधना करते-करते अन्त में लिङ्ग-देह का शोधन होने पर विशुद्ध लिङ्ग का प्रतिभास होता है। विशुद्ध लिङ्ग में अभिमान के समर्पित हो जाने पर स्थूल जगत् का जन्म-मरण छूट जाता है। कारण, लिङ्ग में स्थूल वासना न रहने से भौतिक आच्छादन नहीं होता। विशुद्ध लिङ्ग का आकार अपूर्व ज्योतिर्मय, मनोनयनाभिराम, लावण्य-मण्डित और दिव्यभावापन्न है। जितनी देवभूमियाँ हैं, वे सभी विशुद्ध लिङ्ग की ही अवस्था हैं। परन्तु यहाँ से भी जीव को लौटना पड़ेगा। लिङ्ग विशुद्ध होने पर फिर वह बाहर रहना नहीं चाहता। कारण, बाहर की ओर उसका आकर्षण नहीं रह जाता। वह जिस कारण भूमि से उतरा था, फिर अपने आप ही वहीं लौट जाता है। लिङ्ग का आकार अधिकाधिक पूर्णता लाभ करने पर कारण-रूप में प्रकट होता है। कारण-देह का सौन्दर्य अवर्णनीय है। समस्त शास्त्रों में जो कामदेव या कन्दर्प की अनुपम रूप-राशि का वर्णन मिलता है, वह इस कारण-देह के मूल उत्स के सम्बन्ध में ही है। इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कहनी हैं। यहाँ इस विषय की चर्चा सङ्गत नहीं होगी, परन्तु इतना जान रखना चाहिये कि कारण-देह भी जड़-देह है। इसके ऊपर जीव का स्वरूप है, जब कारण-रूप का ही वर्णन नहीं हो सकता, तब स्वरूप का वर्णन तो कौन करेगा? भगवान् के अनुग्रह बिना इस स्वरूप की उपलब्धि का और कोई उपाय नहीं है।

जिज्ञासु—तब यह समझना चाहिये कि कारणमण्डल को अतिक्रम किये बिना, माया के अधिकार से छूटे बिना भगवद्-देह या भगवत्-स्वरूप के दर्शन नहीं किये जा सकते।

वक्ता—यही बात है। भगवान् का जो परम रूप है, जिसको शास्त्रकारों ने नित्योदितरूप कहा है, वह नित्य-मुक्तों के द्वारा ही देखा जा सकता है।

जिज्ञासु—अच्छा, पाञ्चरात्रानुयायी किसी-किसी सम्प्रदाय के द्वारा भगवान् के पञ्चविध स्वरूपों का वर्णन किया जाता है, उनमें क्या तारतम्य है ?

वक्ता—उनमें तारतम्य न होने पर भी है। जो उनका परमरूप है उसका केवल नित्य और मुक्त पुरुषगण ही अनुभव कर सकते हैं। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि जो अनादि-काल से स्वभावतः ही असङ्कुचित-ज्ञानवान् हैं, वे नित्य हैं। और जो संसार से निवृत्त होकर ज्ञान के संकोच को दूर कर सके हैं, वे मुक्त हैं। वे भी परमपद पर विराजते हैं। भगवान् का परमरूप केवल इन्हीं के ज्ञान और नेत्रों का विषय होता है। यह नित्य जिस देश में सर्वदा विराजित है, उस देश में कालकृत परिणाम नहीं है, आनन्द का अन्त नहीं है—वह देश भगवान् की नित्य-विभूतिस्वरूप है।

परन्तु भगवान् का दूसरा रूप—जो व्यूह के नाम से परिचित है—इससे पृथक् है। नित्यविभूति के बाहर लीलाविभूति में भगवान् व्यूह-रूप धारण करके अवस्थित हैं। यह रूप सृष्टि, पालन और संहार करने के लिये, संसारी जनों का संरक्षण करने के लिये और उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। वस्तुतः संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं—वासुदेव तो व्यूहमण्डल में आकर व्यूह-रूप में केवल गिने जाते हैं।

जिज्ञासु—तब तो मालूम होता है कि परमरूप और व्यूह में यथेष्ट पार्थक्य है। परमरूप जगत् के अतीत है—वहाँ सृष्टि आदि व्यापार नहीं हैं, संसार ही नहीं है, इससे संसारी जनों का उद्धार भी नहीं है। सभी कृतकृत्य होने के कारण कोई उपासक नहीं है, इसलिये अनुग्रह भी नहीं है। परन्तु व्यूह-रूप तो काल-राज्य में ही स्थित प्रतीत होता है।

वक्ता—तुमने ठीक कहा है। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज—इन छः अप्राकृत गुणों का एक ही साथ प्रादुर्भाव भगवान् के ही विग्रह में प्रकाशित होता है। इसीलिये शास्त्रों में भगवान् को षाड्गुण्य-विग्रह कहा गया है। भगवान् के जिस स्वरूप में ये छहों गुण पूर्णरूप से एक ही साथ स्थित हैं, उसी का नाम 'वासुदेव' है। ज्ञान और बल इन दो गुणों की प्रधानता से संकर्षण, ऐश्वर्य और वीर्य की प्रधानता से प्रद्युम्न और शक्ति तथा तेज के प्राधान्य से अनिरुद्ध नामक व्यूह का आविर्भाव होता है। याद रखना चाहिये कि वासुदेव-रूप ही त्रिविध विषमता को प्राप्त होकर व्यूहत्रय बन गया है। अतएव संकर्षणादि प्रत्येक विग्रह ही वस्तुतः षड्-गुणात्मक हैं, परन्तु तत्तत् कार्य-साधन के लिये उनमें केवल दो-दो गुण ही प्रधान रूप से भासते हैं। इसलिये संकर्षणादि भी भगवान् के ही स्वरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। भगवान् का परमरूप नित्योदित (नित्य वासुदेव) है, वह नित्य गणों के द्वारा सेव्य है और व्यूहादिरूप शान्तोदित (व्यूह वासुदेव) हैं। इन दोनों को एक समझकर बहुत बार व्यूह को त्रिविध कहा जाता है।

संकर्षण जीवतत्त्व के अधिष्ठाता हैं, ईश्वर के अधिष्ठान बिना जीव का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जब भगवान् की सृष्टीच्छा होती है, तब वे प्रकृति में विलीन जीवतत्त्व के अधिष्ठिता होकर प्रकृति के अन्दर से जीव को अलग करके निकाल देते हैं। इसी के साथ ही अव्याकृत-प्रकृति से नामरूप जाग्रत् हो उठता है।

प्रद्युम्न मन के अधिष्ठाता हैं। प्रद्युम्न से वीर्यद्वारा सर्वधर्मों का प्रवर्तन होता है और ऐश्वर्यद्वारा शुद्ध सृष्टि का विधान होता है। संहार प्रद्युम्न से होता है। शुद्ध सर्ग के अन्दर एक मनु के मुख से और एक-एक मनु की बाहु, ऊरु एवं पाद से सृष्टि होना ही प्रधान सृष्टि है। इन चारों मनुओं को ब्राह्मणादि प्रतिवर्ण की एक-एक युगल-मूर्तिस्वरूप समझना चाहिये। इस मनु-चतुष्टय से क्रमशः मानव, मानव-मानव और मनुष्य उत्पन्न होते हैं। ये सभी शुद्धसत्त्वस्थ, निष्काम, भगवत्-परायण और अध्यात्म-चिन्तक होते हैं।

अनिरुद्ध अनन्त जगत् के (शक्ति के द्वारा) रक्षाकर्ता एवं तत्त्वज्ञानज्ञाता हैं और (तेज के द्वारा) कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि के विधाता हैं। यही ब्रह्मा के सृष्टिकर्ता हैं। ब्रह्मा से चार प्रकार के रजोबहुल भूतसर्ग (ब्राह्मण आदि) की उत्पत्ति होती है—ये सकाम और कर्मासक्त होते हैं। अनिरुद्ध स्वयं ही अण्ड और अण्ड का कारण उत्पन्न करते हैं। एवं चेतन के अन्तर्यामी होकर अण्ड के अन्तर्गत वस्तुसमूह की सृष्टि करते हैं। इसीलिये वे अपने संकल्पबल से सारी समष्टि-सृष्टि साक्षात् रूप से और व्यष्टि-सृष्टि किसी द्वार का अवलम्बन करके करते हैं। इस अण्ड में जो बद्धात्म समष्टिरूप ब्रह्मा जन्म ग्रहण करते हैं यही उनकी साक्षात् सृष्टि का निदर्शन है। फिर उस ब्रह्मा के द्वारा जा सृष्टि होती है, वह दूसरी प्रकार की सृष्टि है।[1]

जिज्ञासु—अब भगवान् के तीसरे रूप की बात कहिये।

वक्ता—भगवान् के तीसरे रूप का नाम विभव है। उसे अनन्त होने पर भी मुख्य और गौणभेद से दो प्रकार का समझना चाहिये। भगवान् का जो प्रादुर्भाव (भगवत्-रूप से) अन्य की भाँति होकर होता है वही विभव है। मुख्य विभव साक्षात् अवतार है और गौण विभव आवेशावतार है। आवेश शक्ति का भी हो सकता है और स्वरूप का भी। स्वरूपावेश में भगवान् अपने असाधारण विग्रह के साथ चेतन-शरीर में प्रविष्ट होते हैं—जैसे परशुराम। और यदि कार्यकाल में शक्तिमात्र का ही स्फुरण होता है, तब वह शक्त्यावेश है—जेसे ब्रह्मा आदि। जो अवतार मुख्य और साक्षात् होते हैं, उनके विग्रह दिव्य और अपाकृत होते हैं, तथा स्वभाव अच्युत अर्थात् अंशी के सदृश होता है। ये अवतार मुमुक्षुगणों के लिये उपास्य हैं। दीपक से जेसे समस्वभावविशिष्ट दीपकान्तर आविर्भूत होता है, वैसे ही मुख्य अवतार जगत् की रक्षा के लिये प्रकट

---

१. कोई-कोई समझते हैं कि शुद्ध सृष्टि साक्षात् रूप से सम्पन्न होती है, परन्तु मिश्र सृष्टि किसी द्वार का अवलम्बन करके होती है। इन बातों को सब स्वीकार नहीं करते।

हुआ करते हैं। इनमें किसी का आकार मनुष्य के सदृश होता है, तो किसी का पशु के समान और किसी का स्थावर के जैसा। इसमें केवल भगवदिच्छा ही कारण है और कोई भी कारण नहीं है, कर्मादि इसमें कारण नहीं हैं।

परन्तु जो गौण अवतार होते हैं, वे मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं होते। कारण, वे स्वातन्त्र्यरूपी अहंकारयुक्त जीवों के अधिष्ठाता होते हैं। केवल भोगार्थी प्रवृत्तिमार्गी ही इनकी उपासना करते हैं। ये शक्त्यावेशावतार होते हैं। गौणावतारों में बहुत प्रकार के भेद हैं।

जिज्ञासु—अवतार का मूल तो भगवान् की इच्छा ही है।

वक्ता—हाँ, वे स्वेच्छा से ही नाना रूप धारण करते हैं, यही अवतार हैं। रूप धारण करके वे साधु-परित्राण, दुष्कृतों का विनाश और धर्मसंस्थापन करते हैं। अवतार का कारण कर्म नहीं है। जो भृगु-शाप आदि सुनने में आते हैं, वे छलमात्र हैं। वस्तुतः भगवान् लीलावश इच्छामात्र से ही अवतीर्ण होते है। कोई बाह्य कारण उनको अवतीर्ण होने के लिये विवश नहीं कर सकता।

जिज्ञासु—भगवान् का चतुर्थ रूप कैसा है ?

वक्ता—उनका चतुर्थ रूप अन्तर्यामी है। इस रूप से ये जीव के हृदय में प्रविष्ट होकर उसकी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करते हैं। अन्तर्यामी दो प्रकार के होते हैं—एक भगवान् अपने मंगलमय विग्रह के साथ जीव के सखारूप से उसके हृदय-कमल में विराजित रहते हैं। उद्देश्य है—उसकी रक्षा करना और उसके ध्येयरूप में साथ-साथ अवस्थित रहना। दूसरा, अन्तरात्मारूप से। ये जीव की सभी अवस्थाओं में—स्वर्ग, नरक यहाँ तक की गर्भावस्था में भी—उसके अन्तर में रहकर उसकी सत्ता की रक्षा और सहायता करते हैं। वे जीव का त्याग कदापि नहीं कर सकते, इसलिये उसके अन्तरात्मारूप से अवस्थान करते हैं।

इसके बाद भगवान् का पाँचवाँ रूप है—अर्चावतार, अर्चाप्रतीक। यह पुरुष के आकारविशिष्ट वाला होता है। भगवान् अनुग्रह करके अपने आश्रित भक्त जीव के अभिमतानुसार किसी भी द्रव्य को अपना विग्रह मान कर उसमें विराजने लगते हैं। इसमें देश-नियम नहीं हैं—अयोध्या, मथुरा आदि देश न होने पर भी हानि नहीं है। काल-नियम भी नहीं है, जब तक इच्छा हो, तभी तक रह सकते हैं। अधिकारी का नियम भी नहीं है—दशरथ आदि की भाँति अधिकारविशिष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। अवतार के रूप से यह रूप भिन्न और विलक्षण है। अर्चक जिस किसी स्थान में और जिस किसी भी समय उनको प्राप्त करना चाहता है, वहीं, उसी समय वह प्राप्त कर सकता है। भगवान् अर्चक के सभी अपराधों की उपेक्षा करते हैं। अर्चक जब जिस भाव से उनके स्नान, भोजन और शयनादि की व्यवस्था करता है, वे उसी को तदधीन-भाव से स्वीकार करते हैं।

स्वभावतः भगवान् प्रभु हैं, जीव उनकी आश्रित दास है। परन्तु यहाँ अर्चावतार में इस सम्बन्ध में विपरीतता हो जाती है। भगवान् अज्ञ, अशक्त, अस्वतन्त्र-वत् होकर अपार करुणावश भक्त की सारी वाञ्छा पूर्ण करते हैं। उसे मोक्ष तक दे देते हैं, इस प्रकार वे सबके बन्धु और भक्त-वत्सल हैं।

जिज्ञासु—मालूम होता है, पतित जीव की दृष्टि में इन पाँच प्रकार के रूपों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष रहता है।

वक्ता—ठीक है। परन्तु वस्तुगत भेद कहीं भी नहीं है। भक्ति के प्रभाव से स्थूलाभिमानी जीव अर्चावतार का साक्षात् कर सकते हैं। सूक्ष्मभाव में उन्नत होने पर भक्ति के बल से सविग्रह अन्तर्यामी के दर्शन भी हो सकते हैं। कारण, भाव में व्यूह-वासुदेव भी दृष्टिगोचर होते हैं। उसी के ऊपर परमरूप है। विभव साधारणतः स्थूल-जगत् में प्रकट होते हैं, कभी-कभी सूक्ष्म जगत् में भी होते हैं, किन्तु भगवान् के परमरूप के दर्शन मायातीत हुए बिना नहीं होते।

जिज्ञासु—जीव का परमरूप भी क्या इसी प्रकार का है ?

वक्ता—इसमें क्या सन्देह है। पर भगवान् के विशेष अनुग्रह बिना जीव अपने परमरूप को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उनके अनुग्रह बिना माया से उत्तीर्ण नहीं हुआ जाता। जो जीव ज्ञानयोग से प्रकृति से विमुक्त होकर कैवल्य या स्वात्मानुभव करते हैं, वे परम-रूप नहीं पाते। वे अर्चिरादिमार्ग से परमपद में पहुँच कर भगवदनु-भव नहीं पा सकते। वे केवल स्वात्मानुभव ही पाते हैं। इनकी अवस्था भक्त की दृष्टि में पति-त्यक्ता पत्नी की भाँति कृपा के योग्य होती है। ये सब जीव प्राकृत देह और ब्रह्माण्ड को छोड़ कर अवश्य चले जाते हैं परन्तु अप्राकृत देह को प्राप्त नहीं होते। कोई-कोई समझते हैं कि ये प्रकृति में ही किसी स्थान पर स्वात्मानुभव करते हैं, परन्तु ऐसा असम्भव है।

जो जीव भक्ति या प्रपत्ति का आश्रय लेकर चलते हैं वे मोक्ष पाते हैं। भक्ति साधन और साध्य-भेद से दो प्रकार की है। भक्त का उपाय भक्ति है और प्रपन्न का एकमात्र अवलम्बन स्वयं भगवान् हैं, दोनों ही प्रकृति के पार विरजा को भेद कर सूक्ष्म-देह को त्याग अमानव कर-स्पर्श के द्वारा अप्राकृत दिव्य विग्रह प्राप्त करते हैं और भगवद्धाम में प्रवेशलाभ करते हैं। मुक्त पुरुष स्वेच्छा से ही समस्त लोकों में सञ्चरण कर सकते हैं। अवश्य ही उनकी इच्छा भगवदिच्छा के अधीन होती है। जो जीव नित्य हैं, उनके ज्ञान का संकोच कदापि नहीं होता। कारण, वे कभी भगवान् के अप्रिय और विरुद्ध आचरण नहीं करते। अनादिकाल से ही उनके नाना प्रकार के अधिकार रहते हैं—इसका मूल भी भगवान् की नित्य इच्छा ही है।

जिज्ञासु—सुनते हैं, शास्त्रों में कहा है कि देवता मन्त्रात्मक हैं—उनके विग्रह नहीं हैं। कोई-कोई कहते हैं कि देवता की तरह भगवान् के भी विग्रह नहीं हैं। इधर

यह भी शास्त्रों के ही वाक्य हैं कि देवता के विग्रह हैं। आपने भी यही कहा था। इन दोनों की संगति कैसे हो सकती है ?

वक्ता—देखो, शास्त्रों में कहीं भी वास्तविक विरोध नहीं है—हो भी नहीं सकता। मीमांसकों की दृष्टि में देवता मन्त्रमय है, वेदान्तियों की दृष्टि में देवता विग्रहवान् है, परन्तु दोनों में कोई भेद नहीं है। अन्तर्दृष्टि खुल जाने पर इस तत्त्व का पता लगेगा ! वस्तुतः मन्त्र ही देवता का आकार है। यहाँ बिन्दु, नाद और कलातत्त्व की आलोचना नहीं करनी है, परन्तु इतना जान रक्खो कि बिन्दु जब विक्षुब्ध होकर नाद की सृष्टि करता है तभी उसी के साथ-साथ कला का विकास भी हुआ करता है। इसी के बाद की अवस्था में सावयव आकार की उत्पत्ति होती है। शुद्धचेतन, जो बिन्दु के अतीत अथवा बिन्दुश्लिष्ट होकर भी बिन्दु के द्वारा अस्पृष्ट है, उस समय साकाररूप में प्रतिभासित होता है। चिदाभासवश वह आकार उज्ज्वल होकर भासता है, और जगत् में उसी को देवता कहते हैं। कहना नहीं होगा कि यह नाद की ही एक अवस्था है। परन्तु इस अवस्था में नाद ज्योति-रूप में स्थित है, यही विशेषता है। वैयाकरण लोग इसी को 'पश्यन्तीवाणी' कहा करते हैं। मन्त्र-सिद्धि अथवा देव-साक्षात्कार होने पर इस प्रकाश-बहुल विशुद्ध सात्त्विक 'पश्यन्तीवाणी' का ही विकास हुआ करता है। शब्द और अर्थ वाक्य-वाच्यरूप में नित्य सम्बन्धित हैं, इसी से देवतातत्त्व में दोनों ही एकात्मभाव से स्थित रहते हैं। कभी मन्त्ररहस्य समझ सकोगे तो यह बात धारणा में आ सकेगी कि मीमांसा और वेदान्त के सिद्धान्त में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार साकार-निराकार के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (१।५।३८) में श्रीभगवान् को 'मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्' कहा गया है, इससे भी प्रतीत होता है कि मन्त्र उनकी मूर्ति है तथापि वे अमूर्त हैं, भगवान् के मन्त्र या शब्द-ब्रह्ममय रूप का वर्णन भागवत के अन्य स्थलों में भी स्पष्ट रूप से मिलता है। सिद्धावतार कपिल-देव के पिता प्रजापति कर्दम ऋषि के दीर्घकाल तपस्या करने पर भगवान् प्रसन्न होकर उनके सामने शब्द-ब्रह्मात्मक-रूप धारण करके आविर्भूत हुए थे।

तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥
(श्रीमद्भा० ३।२१।८)

रामानुज-सम्प्रदाय उनको 'पञ्चोपनिषत्तनु' कहते हैं—इसका भी अभिप्राय यही है कि शब्द-ब्रह्ममय नाद ही भगवान् का विग्रह है। वैष्णवाचार्यों ने जो विशुद्ध सत्त्व को भगवद्-देह माना है वह भी यही है। कारण, शैव और शाक्त-शास्त्रों में जिसको बिन्दु बतलाया गया है, वैष्णव भक्तों का शुद्ध सत्त्व उसके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अक्षरबिन्दु और क्षरबिन्दु—बिन्दु के ही अवस्था-भेदमात्र हैं, बिन्दु के क्षरण से ही वर्ण की उत्पत्ति होती है। साकार जगत् इस वर्ण की रचना-विशेष है। बिन्दु तत्त्व के साथ कुण्डलिनी-तत्त्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतः तुम जानते होगे कि

जागृत कुण्डलिनी से ही देवता का आविर्भाव होता है। कुण्डलिनी के जागरण का अर्थ शब्दब्रह्म का परावस्था से पश्यन्ती अवस्था में आविर्भाव है।

प्रश्न हो सकते हैं कि बिन्दु-क्षोभ-जनित रूप क्या नित्यरूप हो सकता है? बिन्दु का क्षोभ ही क्यों होता है और बिन्दु-क्षोभ के पूर्व क्या रूप नहीं था? इन सब प्रश्नों का समाधान जानना आवश्यक है। बिन्दु-क्षोभ-जनित रूप अवश्य ही नित्यरूप नहीं है—परन्तु उसकी भी आपेक्षिक नित्यता तो है ही। कल्पान्तस्थायी रूप को भी एक प्रकार से नित्य कहा जा सकता है—पर वह भी वास्तविक नित्य नहीं है। कारण प्रलयकाल में वह नहीं रहता। वस्तुतः उसकी उत्पत्ति है और विनाश भी है। सूक्ष्म भाव से निरीक्षण करने पर पता लगता है कि क्षोभ के पूर्व भी रूप था। यदि न होता तो क्षोभ ही न हो सकता और शुद्ध अवस्था में रूप का आविर्भाव होना भी सम्भव न होता। बिन्दु क्षोभ-जन्य अवयव-घटित रूप को तन्त्रशास्त्र में बैन्दवरूप कहा गया है। यह जगत् के समस्त रूपों का मूल है। परन्तु सब का आदि-रूप होने पर यह रूप अनादि-रूप नहीं है। जो रूप बिन्दु से अतीत है, परव्योम से भी अतीत है, जो किसी अचिन्त्य कारण से बिन्दु के साथ संश्लिष्ट होकर बिन्दु कला और नादरूप में परिणत हो, बैन्दवरूप का आविर्भाव कराता है, वही अनादिरूप है—वही शाक्त और चिन्मय है। भगवत्-शक्ति चिन्मयी होने के कारण इस रूप को चिद्विग्रह भी कह सकते है। परन्तु यह जान रखना चाहिये कि अभिव्यक्त जगत् की दृष्टि में यह अव्यक्त हैं, न इसका ध्यान हो सकता है और न वर्णन ही किया जा सकता है। शाक्त-रूप अक्षुब्ध-बिन्दु के सान्निध्य में रहने पर स्वप्रकाशमय नित्यरूप का स्फुरण होता है। शाक्त रूप नित्य है, बिन्दु भी नित्य है--अतएव उक्त सान्निध्य निमित्तक प्रकाशमय रूप भी नित्य हुए बिना नहीं रह सकता। जिन लोगों ने चिद्विलासमय परव्योम-तत्त्व की आलोचना की है, वे सहज ही में इस बात को समझ सकते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से होना ही स्वाभाविक है। शक्ति और बिन्दु में शक्ति चिदात्मिका है, और बिन्दु विशुद्ध सत्त्वमय-अतएव जड़ है--इस प्रकार समझने पर, प्रणवात्मक, मन्त्रात्मक अथवा नादमय रूप को नित्य चैतन्योज्ज्वल शुद्ध जड़रूप ही कहना पड़ता है। चैतन्यांश की ओर लक्ष्य करके उसे चिन्मय भी कहा जा सकता है। परन्तु याद रक्खो कि शाक्तरूप सर्वथा जड़त्वहीन है-वह नित्य और अव्यक्त है। परन्तु देवता और अधस्तन जगत् का जो आकार है, वह तो बिन्दुक्षोभ से उत्पन्न कलाद्वारा संकल्पवश गठित होने के कारण जड़ और अनित्य ही है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ ब्रह्मरूप को जो अभिव्यक्त शब्दमय कहा गया है, वहाँ उक्त व्यञ्जना के अनुसार भगवान् के ग्रहण किये हुए बैन्दव अथवा तज्जातीय ही किसी अन्य रूप को समझना चाहिये। स्वरूप को नहीं। परन्तु यदि पराशक्ति अथवा चैतन्य को भी शब्दब्रह्म समझ कर ग्रहण करने की योग्यता आ जाय तो शाक्तरूप भी शब्दमय है, यह समझा जा सकता है।

ऋषियों के अनुभव और वर्णन की विशेषताओं के कारण भगवान् के रूप के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो गये हैं। परन्तु वस्तुतः भगवत्-तत्त्व में

देह और देही का कोई पार्थक्य न होने के कारण मूल में किसी प्रकार के विकल्प को स्थान ही नहीं है। कारण, भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, इसलिये उनका विग्रह या रूप भी सच्चिदानन्दमय ही है। सुतरां उसकी नित्यता स्वभावसिद्ध है। महावाराह-पुराण में कहा है—

> सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
> हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
> परमानन्दसन्दोहाः.............................।

अन्यान्य स्थलों में भी भगवद्-विग्रह को स्पष्टरूप से नित्य और चिन्मय ही बतलाया गया है।

जिज्ञासु—अच्छा, श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् थे, श्रीमद्भागवत में कहा गया है—'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'। यदि यही बात है तो उनकी देह भी अप्राकृत और नित्यानन्द-मय ही होनी चाहिये। परन्तु नित्य देह का उन्होंने त्याग किस प्रकार किया? उनके देहत्याग का वर्णन महाभारत और पुराणों में स्पष्टरूप से मिलता है।

वक्ता—श्रीकृष्ण की देह अप्राकृत थी, इसमें सन्देह ही क्या है। अप्राकृत देह का त्याग नहीं हो सकता, परन्तु उसके त्याग का भान होता है; वह भी लोक-दृष्टि में इन्द्र-जालवत् समझना चाहिये। स्कन्दपुराण में कहा गया है—

> पृथ्वीलोकसन्त्यागो देहत्यागो हरेः स्मृतः।
> नित्यानन्दस्वरूपत्वादन्यन्नैवोपलभ्यते॥
>
> दर्शयञ्जनमोहाय महतीं मृत्तिकाकृतिम्।
> नटवद्भगवान् विष्णुः परानन्दाकृतिः स्वयम्॥

अर्थात् मर्त्यलोक-त्याग करने का नाम ही भगवान् का 'देह-त्याग' है वस्तुतः भगवद्-देह नित्यानन्दमय होने के कारण कभी त्यक्त नहीं हो सकती। जहाँ देह और देही पृथक् होते हैं, वहीं देह-त्याग की बात उठ सकती है, देह और देही अभिन्न होने पर त्याग कैसे हो सकता है? सुतरां श्रीकृष्ण ने न तो वस्तुतः देह का त्याग ही किया था और न देह का ग्रहण ही किया था। हाँ, वे मायिक या प्राकृत देह ग्रहण कर सकते हैं—करते भी हैं और उसी का त्याग होता है। कारण, वह आगन्तुक होती है।

जिज्ञासु—जो लोग श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन करते थे, वे सभी क्या उनके स्व-रूप देह के दर्शन पाते थे? ऐसा प्रतीत तो नहीं होता। क्योंकि ऐसा होता तो उनके ईश्वरत्व के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है—

> 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।'

मूढ़ लोग मुझको मनुष्यदेहाश्रित समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं।

वक्ता—सब लोग श्रीकृष्ण को नहीं पहचान सकते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो ज्ञानी और भक्त थे, जिनकी अन्तर्दृष्टि पूर्णरूप से खुल गयी थी, वे ही उनकी भगवत्ता को समझ सकते थे—श्रीकृष्ण का स्व-रूप उन्हीं के सामने प्रकट होता था। मूढ़ व्यक्ति उन्हें साधारण मनुष्य समझ कर अवज्ञा करते थे। इसका कारण यही है कि जब तक दृष्टि के ऊपर से मोह का आवरण दूर नहीं होता, अर्थात् ज्ञान-चक्षु उन्मीलित नहीं होते, तब तक दिव्य देह दृष्टिगोचर नहीं होती। केवल श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही नहीं, भगवत्—साधर्म्यप्राप्त किसी भी महापुरुष के सम्बन्ध में यही बात जाननी चाहिये।

जिज्ञासु—अच्छा, श्रीकृष्ण का वास्तविक रूप कैसा था ? वे क्या सभी के सामने एक ही रूप में प्रकट होते थे ?

वक्ता—इस सम्बन्ध में अधिक कहने के लिये स्थान नहीं है। परन्तु यह जान लो कि, श्रीकृष्ण के प्रपञ्चातीत नित्यरूप के वर्णन करने का सामर्थ्य चौदह भुवनों में किसी में भी है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। योगमाया की कृपा बिना उस रूप का दर्शन किसके भाग्य में सम्भव हो सकता है ? शास्त्रों में जो वर्णन है वह तो ध्यान की सुकरता के लिए उनके रूप का आभासमात्र है। कर्द्दम ऋषि ने जो रूप देखा था, वह चतुर्भुज था; ध्रुव, अर्जुन और अन्यान्य अनेक भक्तों ने भी यही रूप देखा था। यद्यपि सभी रूप बिल्कुल एक-से नहीं थे तथापि एक ही थे, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु यह उनकी ऐश्वर्य-भूमि का रूप है—माधुर्यमण्डल में तो उनकी द्विभुज मूर्ति ही प्रकट होती है। पद्मपुराण के निर्वाणखण्ड में कहा है कि भगवान् ने ब्रह्मा को अपने वेदगोप्य स्वरूप के दर्शन कराये थे। यह नवकिशोर नटवर मूर्ति है—गोपवेश है, कदम्ब के नीचे हाथ में वंशी लिये विराजमान् है, वर्ण मेघ के सदृश श्यामल है, पीतवसन पहने है, गले में वनमाला सुशोभित है, बदन पर स्मित हास्य है, चारों ओर गोपबालक और गोप-बालिकाएँ खड़ी हैं। ऐसा रूप अप्राकृत वृन्दावन में नित्य विराजमान है। किसकी क्षमता है जो इस अनन्त सौन्दर्य के चैतन्यमय आधार को भाषा के द्वारा विकसित कर सके ? ऐसी चेष्टा करना ही व्यर्थ है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी श्रीकृष्ण के अनन्त प्रकार के रूप और हैं, देखने की शक्ति प्राप्त होने पर किसी दिन निश्चय ही उनके दर्शन कर सकोगे। उनकी कृपा के बल से सभी कुछ हो सकता है।



भक्ति-रहस्य

वर्तमान युग में भक्ति-साधन और उसकी उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता है, ऐसा मैं नहीं समझता। प्रायः सभी विश्वास करते हैं तथा शास्त्र-वाक्य और महापुरुषों के अनुभव इस विश्वास का समर्थन करते हैं कि दुर्बल मनुष्य के लिये भगवत्प्राप्ति का, एकमात्र न होते हुए भी, प्रधान उपाय भक्ति-साधना है। परन्तु सच पूछा जाय तो भक्ति-साधना का रहस्य सबके लिये सुपरिचित नहीं है। रहस्य जाने बिना किसी को तत्त्व का माहात्म्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता। अतएव इस प्रबन्ध में भक्ति-तत्त्व के रहस्य के सम्बन्ध में अपने ज्ञान और अनुभव के अनुसार संक्षेप में कुछ कहने की चेष्टा करूँगा।

साधना के समस्त मार्गों की आलोचना को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इसके एक-एक भाग साधना की एक-एक स्थिति के द्योतक हैं। प्रथम भाग का नाम प्रवर्तक-अवस्था, द्वितीय भाग का नाम साधक-अवस्था और तृतीय भाग का नाम सिद्धावस्था है। प्रवर्त्तक-अवस्था में एक के बाद एक दो स्थितियों का विकास स्वीकृत किया गया है। उसी प्रकार साधक-अवस्था में भी दो क्रमिक स्थितियों की अभिव्यक्ति देखने में आती है। परन्तु सिद्धावस्था में इस प्रकार का कोई अवान्तर भेद नहीं पाया जाता। प्रवर्तक-अवस्था में प्रथम साधना है नाम-साधना। नाम की महिमा भारतवर्ष की भक्तमण्डली में किसी को अविदित नहीं है। वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार नाम और नामी में एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। वृक्ष के बीज के साथ जिस प्रकार वृक्षफल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार भगवान् के नाम के साथ भगवत्स्वरूप का सम्बन्ध जानना चाहिये। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, यह अप्राकृत वस्तु है और अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न है। भगवान् जिस प्रकार चिदानन्दमय हैं, उनका नाम भी उसी प्रकार चिदानन्दमय है। परन्तु नाम में चिद् और आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती, साधना के प्रभाव से क्रमशः ये अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु वे उसमें पहले से ही अव्यक्तभाव से निहित रहते हैं। नाम अनन्त शक्तियों का भंडार है। जाग्रत् महापुरुष के श्रीमुख से निकले हुए नाम की तो बात ही क्या, साधारणतः उच्चारित नाम में भी निजशक्ति विद्यमान रहती है। नाम-दाता की शक्ति के साथ योग होने पर नाम की निजी शक्ति आवरणमुक्त होकर उज्ज्वल रूप में फूट पड़ती है। वैसा न हो तो वह नाम यथार्थ नाम नहीं होता, नामाभासरूप में ही प्रकटित होता है। नाम की महिमा अनन्त है; नामाभास भी व्यर्थ नहीं जाता, उसका भी सुफल होना अनिवार्य है। वस्तुतः भगवान् का नाम अर्थात् जाग्रत् नाम कोई अपने बल से कर्तृत्वाभिमानपूर्वक नहीं उच्चारण कर सकता। जिसके ऊपर नाम की कृपा होती है, नाम स्वयं ही उसके

कण्ठ का अवलम्बन करके ध्वनित हो उठता है। जो स्वतः चैतन्यमय है, उसके लिये बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती; परन्तु नामाभास में उच्चारणकर्ता का कर्तृत्वाभिमान रहता है। तथापि दीर्घकाल तक विधिपूर्वक गुरूपदेश अथवा आन्तरिक शुद्ध प्रेरणा के अनुसार उच्चारण करते-करते नामाभास भी किसी-किसी भाग्यवान् के कण्ठ में नामरूप में परिणत होकर अपने-आप ध्वनित हो उठता है।

दीर्घकाल तक नियमितरूप में नाम-साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है, और वे पथप्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं। नाम-साधना के द्वारा चित्त-शुद्धि तथा देह-शुद्धि यथासम्भव अवश्य हो होती है; परन्तु जब तक भक्त गुरुदत्त बीज को प्राप्त कर अपने अशुद्धबीज देह को शुद्ध काया में परिणत नहीं कर पाता, तब तक वास्तविक साधना का सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृत शरीर में भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकार के अधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवत्तत्त्व की साधना सम्भव नहीं है।

बीज-साधना के फलस्वरूप क्रमशः बीज की अभिव्यक्ति तथा उसके प्रभाव से मलिन सत्ता को दूर करना सम्भव हो जाता है। पाञ्चभौतिक उपादानों का आश्रय लेकर उनसे अनुस्यूत जो हमारा अशुद्ध शरीर विद्यमान है, उसका जब तक संस्कार नहीं होता, तब तक उसके लिये प्रकृत साधन-मार्ग में प्रविष्ट होना दुष्कर है। गुरुदत्त साधना के फलस्वरूप भूत और चित्त शुद्ध अवस्था धारण करते हैं; अतएव पूर्वस्थित अशुद्ध शरीर विगलित हो जाता है और अपने-अपने भाव के अनुसार एक अभिनव शरीर का आविर्भाव होता है। यह स्वभाव का शरीर होता है, इसी का पारिभाषिक नाम है—'भावदेह'। यह देह निर्मल, अजर और अमर होता है तथा क्षुधा-पिपासा, काम-क्रोध प्रभृति प्राकृतिक धर्मों से वर्जित होता है। इस भावदेह को प्राप्त कर भक्त प्रवर्तक-अवस्था से साधक-अवस्था में उपनीत होता है। साधारणतः जगत् में जिसको साधना कहते हैं, वह प्रकृत साधना नहीं है। स्थूलदेह में अभिनिवेश या तादात्म्यबोध के रहते हुए कोई भी साधना क्यों न की जाय, वह अकृत्रिम स्वाभाविक साधना के रूप में परिगणित नहीं हो सकती। भाव का साधन ही यथार्थ साधन है। अभाव के शरीर में भाव की साधना नहीं हो सकती। अतएव प्रवर्तक-अवस्था में अभाव के शरीर को भाव के शरीर में परिणत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। नाम और मन्त्र—ये प्रारम्भिक चेष्टा में सहायक होते हैं।

जिन्होंने भक्तितत्त्व का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि क्रियारूपा भक्ति क्रमशः फलरूपा भक्ति में पर्यवसित होती है। प्रवर्तक-अवस्था में जो कुछ किया जाता है, वह क्रियाभक्ति के ही अन्तर्गत है। कोई-कोई इसे साधन-भक्ति भी कहते हैं। परन्तु वास्तविक साधन-भक्ति यह नहीं है, यह कृत्रिम साधन-भक्ति है; क्योंकि प्राकृत-देहाभिमान के रहते हुए प्रकृत साधन-भक्ति का उदय नहीं हो सकता। जिस नवधा भक्ति की बात भक्तलोग कहते हैं, तथा भक्तसम्प्रदाय में जिसका साधन देखने में

आता है, वह भी वस्तुतः प्रवर्तक-अवस्था का ही व्यापार है। इन सभी अनुष्ठानों के पीछे केवल देहात्मबोधमूलक कृत्रिम अहंभाव की क्रीड़ा विद्यमान रहती है। भाव कैसे उदित होता है, इसकी आलोचना करते समय आचार्यों ने कहा है कि भाव का प्रथम आविर्भाव कर्म अथवा कृपा से लक्षित होता है। कर्म से अर्थात् कृत्रिम साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते साधन-भक्ति भावभक्ति के रूप में परिणत हो सकती है। परन्तु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती साधन के लक्षित न होने पर भी भावभक्ति का उदय होते देखा जाता है, ऐसे स्थल में कृपा को ही मूल कारण मानना पड़ता है। यह कृपा साक्षात् भगवान् की भी हो सकती है अथवा सिद्ध भगवद्भक्त की भी। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि भक्ति के कार्य-कारणभाव का विचार करने पर कृत्रिम भक्ति-साधना को कहीं भी भक्ति का वास्तविक कारण नहीं माना जा सकता। वह क्षेत्र-विशेष में भक्ति की यथार्थ कारणरूपा भगवत्कृपा अथवा भगवद्भक्त की कृपा की अभिव्यञ्जिका है, इसलिये उसका कारणरूप में ग्रहण होता है।

भक्ति ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा है। अतएव शुद्ध भक्ति स्वरूपतः महाभाव का अंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव भावरूपा भक्ति चाहे साधनपूर्वक हो अथवा कृपापूर्वक, वह वस्तुतः महाभाव से ही स्फुरित होती है। अतएव कृत्रिम साधन-भक्ति की प्रयोजनीयता स्वीकार करने पर भी, भाव के उदय को सभी साधनद्वारा दुष्प्राप्य मानते हैं। कृत्रिम साधना के मूल में जीव रहता है; परंतु भक्ति जीव का स्वभावसिद्ध धर्म नहीं है, क्योंकि महाभाव अथवा भाव ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति होने के कारण स्वरूपशक्ति के विलास तथा भगवत्स्व-रूप के साथ संश्लिष्ट है। जीव कर्म कर सकता है, परंतु भाव को प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वरूपतः भावमय नहीं है। कर्म करते-करते भाव-जगत् से उसमें भाव का अनुप्रवेश हुआ करता है।

इस प्रकार भाव का उदय भावजगत् की प्रेरणा से होता है। मायिक शरीर भावग्रहण के लिये उपयोगी नहीं होता; अतएव इस देह में भाव का आविर्भाव नहीं होता। भाव का आविर्भाव होता है भाव धारण करने योग्य आधार में। यह आधार शुद्ध देह या भावदेह के नाम से परिचित है। अशुद्ध देह साधना के प्रभाव से शुद्ध होकर अन्त में भावदेह के रूप में प्रकट होता है। पाञ्चभौतिक प्राकृत देह का अवलम्बन कर यदि भाव का विकास हो तो भावदेह मिश्ररूप में अवस्थित हो सकता है। इस अवस्था में वह अपने पृथक् स्वरूप में कार्य करता रहता है। अथवा भाव के विकास के साथ-साथ प्राकृत देह का त्याग होने पर, विशुद्ध भावदेह भावजगत् में विराजित होता है और वहाँ कार्य करता रहता है। भाव के उदय के पूर्व यदि मृत्यु हो, अर्थात् कृत्रिम साधनभक्ति के अनुशीलन के समय बीच में हो देहत्याग हो जाय तो भावजगत् में गति प्राप्त नहीं होती। जब भाव का उदय होता है, तब समझना चाहिये कि भावदेह कार्य कर रहा है। भावदेह के कार्य करते समय प्राकृत देह जडवत्, स्थिर तथा निःसाररूप में पड़ा रहता है। भाव की तीव्रता में यह अवश्य ही समझ में आ जाता

है। यदि भाव उतना तीव्र न हो तो प्राकृत देह में उसका उतना प्रभाव देखने में नहीं आता। परंतु वस्तुतः वह स्वरूप में ठीक-ठीक कार्य करता रहता है, इसमें सन्देह नहीं।

भावदेह प्राकृतदेह के साथ योगयुक्त होने पर भी प्राकृत देह के अनुरूप नहीं होता। प्राकृत देह में जिस समय कृत्रिम साधना होती रहती है, उस समय भाव का विकास नहीं होता। अतएव इस अवस्था में बाह्य शास्त्रवाक्य गुरुवाक्य तथा तदनुसार महापुरुषों के वचन और तन्मूलक विधि-निषेध प्रभृति को मान कर चलना पड़ता है। परन्तु स्वभाव का विकास होने पर बाहर से किसी प्रकार को शिक्षा ग्रहण करने को आवश्यकता नहीं रहती। जिसका जो स्वभाव होता है, वह उसके अनुसार ही चलता है। उस समय स्वभाव ही प्रेरक होता है। उस समय स्वभाव ही गुरु, स्वभाव ही शास्त्र तथा स्वभाव का निर्देश ही विधि-निषेध होता है। बाहर से कोई नियन्त्रण करनेवाला नहीं रहता। गम्भीर आन्तर राज्य की नीरवता में बाह्य जगत् की किसी भी वस्तु का कोई स्थान नहीं होता। तथापि वहाँ भी कोई शक्ति अन्तर्यामीरूप से भीतर रह कर भक्त को परिचालित करती है। इसी को स्वभाव कहते हैं।

भावदेह बाह्य देह के अनुरूप नहीं होता। ऐसा भी हो सकता है कि बाहर से जो वृद्ध दीख पड़ते हैं, जिनके केश पक गये हैं, दाँत गिर गये हैं और दृष्टि क्षीण हो गयी है, वे अपने भावदेह में ठीक इसके विपरीत हों। हो सकता है कि उनका भावदेह उज्ज्वल, ज्योतिर्मय, किशोरवयस्क, सर्वाङ्ग-सुन्दर और माधुर्यमय हो। बाह्यदेह के साथ भावदेह का कोई योग नहीं होता। अवश्य ही प्रथमावस्था की बात कही गयी है। आगे चलकर योग प्रतिष्ठित हो सकता है। यह स्वतन्त्र विषय है। भक्त शुद्ध वात्सल्यभाव का साधक हो, अथवा सख्य, दास्य या उज्ज्वल भाव का, उसका भावदेह तदनुरूप ही होगा। स्वभावसिद्ध देह के स्वभाव का आश्रय लेकर स्वभाव की साधना चलती है। यदि कोई मातृ-भाव का साधक हो तो स्पष्ट ही देखने में आयेगा कि उसका भावदेह ठीक शिशु के आकार का हो जाता है। आकृति और प्रकृति परस्पर अनुरूप ही हुआ करती हैं। जो प्रकृतितः अर्थात् स्वभावतः शिशु हैं, और इस शिशु भाव से ही 'मा-मा' कहकर पुकारते हैं, वे आकृति से भी शिशु क्यों नहीं होंगे ? उनका बाह्य शरीर जरा-जीर्ण होने पर भी उनका भावदेह शिशु ही रहता है, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है ! शिशु को जिस प्रकार शिक्षा नहीं दी जाती कि वह किस प्रकार मा को पुकारे अथवा मा के साथ व्यवहार करे—वह अपने स्वभाव के द्वारा ही नियमित होता है, ठीक उसी प्रकार जो भक्त भावदेह में शिशु है, उसे मातृभक्ति सिखानी नहीं पड़ती। वह स्वभाव की सन्तान है, स्वभाव ही उसे परिचालित करता है। वह अपने-आप जो करेगा, वही उसका भजन है। रागात्मिका भक्ति में बाह्य शास्त्र या बाह्य नियमावली की आवश्यकता नहीं होती।

जगत् में अनन्त भाव विराजित हैं। महाभाव के एक होने पर भी खण्डभाव असंख्य हैं। प्रत्येक भाव की विशेषता है, और उसकी एक सार्थकता होती है। एक भाव के साथ दूसरे भाव की शबलता अथवा सांकर्य भावसाधक के लिये निषिद्ध है।

स्वभाव के मार्ग से इसके होने की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु जो लोग कृत्रिम भाव की भावना के द्वारा भावसाधना के मार्ग में अग्रसर होते हैं, उनसे भूल या भ्रान्ति का होना अनिवार्य है। वस्तुतः यह अकृत्रिम साधना का कृत्रिम अभिनयमात्र है। एक वृक्ष के हजारों पत्तों में जिस प्रकार साम्य के होते हुए भी प्रत्येक पत्ते में एक विशेषता रहती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाव में भी एक विशेषता होती है। भाव को मर्यादा दिये बिना भावसाधना में कोई अग्रसर नहीं हो सकता। बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य जिस प्रकार पृथक्-पृथक् होते हैं तथा उनका आचरण और तन्मूलक व्यक्ति आदि भी पृथक्-पृथक् होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक भाव के अङ्गोपाङ्ग और विलास भी पृथक्-पृथक् होते हैं। अतएव भाव के प्रति बाहर से कोई निर्देश नहीं दिया जा सकता। भावसाधक के लिये गुरु-आज्ञा की आवश्यकता नहीं। उसके अन्तःस्थित भाव की प्रेरणा ही उसको परिचालित करने के लिये पर्याप्त होती है।

एक भाव के साथ दूसरे भाव का व्यक्तिगत भेद तो है ही, इसके सिवा उनमें गुणगत तथा मात्रागत भेद भी रहते हैं।

भाव का विकास ही प्रेम है। भावसाधना करते-करते स्वभावतः ही प्रेम का आविर्भाव हो जाता है। जब तक प्रेम उदय नहीं होता, तब तक भगवान् का अपरोक्ष दर्शन नहीं हो सकता; भाव के उदय के साथ-साथ आश्रयतत्त्व को अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जब तक प्रेम का उदय नहीं होता, तब तक विषयतत्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। यद्यपि भाव अथवा प्रेम एक ही वस्तु हैं, तथापि अपक्व और पक्वभेद से दोनों अवस्थाओं में कुछ पार्थक्य है। भावजगत् में प्रवेश के साथ-साथ भक्त अपने को अर्थात् अपने विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधना का और अधिक विकास होने पर भक्ति का विषयभूत भगवत्-स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। भाव जिस प्रकार अनन्त है, उसी प्रकार भगवत्-स्वरूप भी अनन्त है; तथा प्रत्येक भाव के साथ जिस प्रकार भक्त का अपना स्वरूप संश्लिष्ट रहता है, उसी प्रकार उसके अनुरूप भगवत्-स्वरूप भी सम्बद्ध रहता है। जब तक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, इष्ट भगवत्-स्वरूप का आविर्भाव नहीं होता।

बात यह है कि प्रवर्तक-अवस्था में दो आवरण अभिन्नरूप में विद्यमान रहते हैं। इन दोनों आवरणों में से एक तो प्रमाता के निजी स्वरूप को आच्छन्न किये रहता है और दूसरा प्रमेय के स्वरूप को आच्छन्न करता है। प्रवर्तक-अवस्था के अन्त में भावदेह के विकास के साथ-साथ प्रथम आवरण कट जाता है, परंतु दूसरा आवरण तब भी रहता है। अर्थात् भक्त अपने भावदेह में जाग उठने पर ही इष्ट वस्तु को नहीं प्राप्त होता। जब तक भाव का विकास नहीं होता, तब तक पूर्वोक्त प्रमेय का आवरण उन्मुक्त नहीं होता। भाव के विकास से ही अनुसन्धान और अन्वेषण आरम्भ होता है तथा प्रमेय का आवरण कट जाने पर अन्वेषण भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब प्राप्ति हो जाती है। यही प्रेम की अवस्था है। भाव में प्रवेश के साथ-साथ अभाव के

जगत् से ज्योतिर्मय भावजगत् में प्रविष्ट होने पर अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। तब उसी स्थान से इष्ट वस्तु का अन्वेषण चलने लगता है। इस प्रकार अन्तर्जगत् में क्रमशः अधिकतर गुह्य स्थान प्राप्त होते-होते चरम अवस्था में अन्तरतम बिन्दु में प्रवेश प्राप्त होता है। तब इष्ट का स्वरूप उन्मुक्त हो जाता है और भक्त को भगवत्-साक्षात्कार सिद्ध होता है। अन्तर्जगत् में प्रवेश के पश्चात् जगत् के अन्तिम बिन्दु तक अनवच्छिन्न भाव में अग्रसर होना पड़ता है। इसी का नाम है साधना का क्रम-विकास। आवर्त्तक्रम से वृत्त के मध्यबिन्दु में स्थिति प्राप्त करने पर बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का भेद दूर हो जाता है। तब साधना की परिसमाप्ति हो जाती है। इसी का नाम रस का उदय है। इसको भक्त महाजनों ने सिद्धावस्था के नाम से निर्देश किया है।

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे धामतत्त्व का स्वरूप कुछ कुछ समझा जा सकता है। भाव के विकास के पहले धामतत्त्व अभिव्यक्त नहीं हो सकता। जब तक काया का विकास नहीं होता, तब तक उस काया की स्थिति और क्रिया के लिये उपयोगी धाम का आविर्भाव कैसे होगा ? भाव-विरहित भक्त बहिरङ्ग होने के कारण धाम के बाहर रहने के लिये बाध्य होता है। इसी से प्रवर्तक-अवस्था में धाम में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। धाम में प्रवेश प्राप्त करने के लिये शुद्ध भावदेह आवश्यक होता है। अभाव का देह अर्थात् मायिक देह अथवा अज्ञानमय देह भगवद्धाम में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं पाता। जब तक इस देह का त्याग करके शुद्ध देह ग्रहण नहीं किया जाता, तब तक धाम में प्रवेश नहीं किया जा सकता। मायिक देह का त्याग होने पर ही धाम में प्रवेश हो जायगा, ऐसी बात नहीं; क्योंकि ऐसी अवस्था भी है, जब मायिक देह निवृत्त हो जाता है, फिर भी विशुद्ध भावदेह की प्राप्ति नहीं होती। यह कैवल्य की अवस्था है। इस अवस्था में भगवद्धाम में प्रवेश की सम्भावना नहीं होती, क्योंकि यह विदेह स्थिति है। भक्तलोग इसे कैवल्य के नाम से निर्देश करते हैं। केवली जीव भगवद्धाम के बाहर विशाल प्रान्तर में सुप्तवत् विद्यमान रहता है। यह मायातीत अवस्था होते हुए भी वस्तुतः पाशविक अवस्था है। इस अवस्था में भगवद्धाम में प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता। एकमात्र भगवदनुगृहीत जीव ही धाम में प्रवेश कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

भगवद्धाम एक होने पर भी भाव के अनुसार अनन्त हैं। कुण्ठाहीन होने के कारण वैष्णवलोग इस धाम को व्यापी वैकुण्ठ कहते हैं। यह विशुद्ध सत्त्वमय है। अतः प्राकृतिक रजस्, तमस् तथा मलिन सत्त्व इस स्थान में कार्य नहीं कर सकते। जिस काल के प्रभाव में प्राकृतिक जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार ओर नाना प्रकार के परिणाम संघटित होते हैं, वह काल भगवद्धाम में कार्य नहीं कर सकता। उस स्थान में भी एक प्रकार का काल होता है। वह कालातीत काल है। वह भगवान् का लीला-सहचर है और वह भगवदिच्छा का अनुवर्ती होकर कार्य करता रहता है। ज्योतिर्मय विशुद्ध सत्त्व भगवद्धाम का उपादान है। उस धाम में लीला की उपकरणभूत अनन्त वस्तुएँ—

भोग्य, भक्त और भगवान् के लीलाविग्रह, सभी विशुद्ध सत्त्व से रचित होते हैं; यही आगम-शास्त्रों के बिन्दु का स्वरूप है तथा इस धाम का नाम है—'बैन्दव जगत् ।' विशुद्ध सत्त्व माया से सर्वांश में विलक्षण है। अर्थात् माया अशुद्ध है और यह शुद्ध है। अतएव माया अनादि और सान्त है, परंतु विशुद्ध सत्त्व सादि और अनन्त है। भगवद्धाम और भगवद्विग्रह तथा भक्त का निजी विग्रह—सभी अन्तहीन हैं।

भाव स्थायी और सञ्चारी भेद से दो प्रकार का होता है, वह पहले कहा जा चुका है। सञ्चारी भाव आविर्भूत होकर कार्य करके तिरोहित हो जाता है। परन्तु स्थायी भाव तिरोहित नहीं होता। वस्तुतः यही स्वभाव है। सञ्चारी भाव से रसास्वादन नहीं हो सकता, परन्तु स्थायी भाव से रसास्वादन की सम्भावना होती है। सञ्चारी भाव भाव-देह प्राप्त करने के पहले भी जीव हृदय में कार्य करता रहता है; परन्तु वह बीजशक्तिसम्पन्न नहीं होता, अतएव उससे फलोद्गम की सम्भावना नहीं होती। वास्तविक भक्त वही है, जो भाव की सञ्चारी अवस्था से स्थायी अवस्था में पहुँच सकता है। इसके लिये भक्तलोग नाम और मन्त्रसाधना की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। स्थायी भाव वस्तुतः भावदेह का ही नामान्तर है। भाव के विकास के साथ-साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरङ्ग हृदयकमल अष्टदलों से विभूषित है, इसलिये स्थायी भाव भी मूल अष्टभाव में विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल[1] कमल का एक-एक दल एक-एक भाव का स्वरूप है। भाव में प्रविष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत करना पड़ता है। यही भावसाधना का रहस्य है। वस्तुतः महाभाव ही भावसाधना का लक्ष्य है; परन्तु महाभाव में पहुँचने के लिये, भाव कुछ मध्यवर्ती अवस्था में होते हुए प्रस्फुटित होता जाता है। इसकी आलोचना क्रमशः की जायगी। जिन आठ अङ्गरूपी भावों की बात कही गयी है, आलङ्कारिक लोग उनका अपनी-अपनी परिभाषा के अनुसार नामकरण करते हैं; परन्तु भाव का साधक अपनी

---

१. यह गुप्त कमल है। षट्चक्र के अन्तर्गत जो द्वादशदलरूपी हृदयकमल है, उससे यह पृथक् है; क्योंकि द्वादशदल का भेद करने के बहुत पीछे आज्ञाचक्र का भेद करने पर अन्तर्लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परन्तु जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, अष्टदल में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्ययुग के बहुतेरे संत अष्टदल को एक प्रकार से सहस्रदल के साथ अभिन्न समझते थे, तथा कोई-कोई इसको सहस्रदल के अन्तर्गत मानते थे। वस्तुतः इस अष्टदल को यदि भावराज्य मान लें तो प्रचलित द्वादशदल को भाव का आभास समझा जा सकता है। इससे ज्ञान के बाद भक्ति होती है या भक्ति के बाद ज्ञान होता है—इस प्रश्न का समाधान हो जायगा। द्वादशदल के बाद लक्ष्य का उन्मेष होता है, यह प्रचलित सिद्धान्त है। इस मत से भक्ति के बाद ज्ञान का उदय होता है। परन्तु वस्तुतः लक्ष्योन्मेष के बाद जिस भाग्यवान् भक्त को अष्टदल की प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टि में ज्ञान के बाद ही भक्ति का स्थान है—यह स्वीकार करना ही होगा। भक्ति के दो भेद हैं—अपरा और परा भक्ति, अथवा साधन और साध्यभक्ति। इसे समझ लेने पर उपर्युक्त विरोध का समन्वय सहज-साध्य हो जायगा।

दृष्टिभूमि से उनको प्राप्त हो सकता है, उसके लिये दूसरों की दृष्टिभूमि का अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होता। वास्तव में तो प्रत्येक भक्त को इन आठों भावों को एक-एक करके जगाना पड़ता है, नहीं तो जिस किसी भाव को उसके चरम विकास की अवस्थापर्यन्त अभिव्यक्त (स्फुटित) नहीं किया जा सकता। कमल के विकास के लिये जिस प्रकार एक ओर जलपूर्ण सरोवर और उसके साथ पृथ्वी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर ज्योतिर्युक्त तेजोमण्डल तथा उसके साथ आकाश भी आवश्यक होता है। नीचे रस, ऊपर रविकिरण—इन दोनों का एक साथ संयोग होने पर कमल स्फुटित होता है, अन्यथा स्फुटित नहीं हो सकता। भाव के विकास के लिये भी उसी प्रकार एक ओर लक्ष्योन्मेषरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप चिदाकाश में स्थित सूर्य-मण्डल आवश्यक होता है, और दूसरो ओर रसोद्गम का मूल कारण स्थायी भाव आवश्यक होता है; क्योंकि सञ्चारी भाव का विकास नहीं होता, स्थायी भाव का ही विकास होता है।

भाव के विकास के पहले तदुपयोगी क्षेत्र-निर्माण होता है। नाम-साधना के बाद तथा मन्त्रसाधना की समाप्ति के पहले धीरे-धीरे यह क्षेत्र तैयार होता रहता है। तैयार होने के समय यह लक्षित नहीं होता; परन्तु पीछे दृष्टि के उन्मेष के साथ-साथ यह दिखलायी देने लगता है। तब यह समझ में आ जाता है कि कब और किस ढंग से उसकी रचना हुई है। यह क्षेत्र ही वस्तुतः एक कुण्ड या सरोवर है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह जलहीन सरोवर है। जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता, तब तक खेचरीभाण्ड अथवा अमृतभाण्ड से अमृत-क्षरण नहीं होता। लक्ष्योन्मेष के साथ-साथ अमृत-क्षरण प्रारम्भ हो जाता है। तब पूर्वोक्त शुद्ध कुण्ड सलिलपूर्ण सरोवर के रूप में शोभायमान होता है। किसी-किसी रहस्यविद् भक्त ने इसका काम-सरोवर के रूप में वर्णन किया है, 'काम' से यहाँ अभिप्राय शुद्ध प्रेम से है। परन्तु वस्तुतः वह तब भी प्रेमरूप में परिणत नहीं होता। उपर्युक्त लक्ष्योन्मेष भी कामसूर्य का हो उदय है। कामकला-तत्त्व के जानने-वाले इसे विशेषरूप से जानते हैं। भाव-सरोवर में पहले भाव कलिका के रूप में प्रकट होता है। पश्चात् सूर्य की किरणें उसे प्रेमकमल के रूप में विकसित कर देती हैं। जब भाव का विकास होता है, अर्थात् कमल प्रस्फुटित हो जाता है, तब वह सरोवर से ऊपर उठ आता है; वह फिर सरोवर में नहीं रहता। एक नाल अथवा मृणाल के द्वारा सरोवर के साथ उसका केवल सम्बन्ध रह जाता है। यह नाल भी जब छिन्न हो जाता है, तभी वस्तुतः भाव में प्रवेश प्राप्त होता है। अब तक जो हुआ था, वह सब आभास-मात्र था। अन्तर्जगत् में प्रवेश के पश्चात् आभास के त्याग के साथ-साथ सत्यरूप में अष्टदल की प्राप्ति होती है। इस अष्टदल की रचना अति अद्भुत होती है। अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिन्दु है, वही अष्टदल का सार है। उसी का दूसरा नाम है 'महाभाव'। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टधा विभक्त स्वरूपमात्र है; इसे महा-भाव का कायव्यूह भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि महाभाव यदि बिन्दु है, तो इन आठ भावों के साथ उसका क्या सम्बन्ध होगा? इसका उत्तर यह है कि ये आठ भाव महाभाव के स्वगत आठ अङ्गमात्र हैं। इन आठ अवयवों की समष्टि महा-

भाव का स्वरूप है। प्रत्येक भाव महाभाव के साथ संश्लिष्ट है। वस्तुतः प्रत्येक भाव का जो पूर्ण विकास है, वही महाभाव है। भाव से महाभाव की ओर जाने के दो प्रधान मार्ग हैं। एक आवर्त-क्रम से और दूसरा साक्षात् तथा सरल रूप से। आवर्तमार्ग का अवलम्बन करते समय प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा करके भाव से भावान्तर में चलते-चलते क्रमशः महाभाव में पहुँचा जाता है। इस मार्ग से महाभाव में उपस्थित होने पर महाभाव का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है; परन्तु आवर्तमार्ग से न जाकर सरल गुप्त मार्ग से भी महाभाव में पहुँचा जाता है। लेकिन इस मार्ग से महाभाव का पूर्ण स्वरूप अधिगत नहीं होता; क्योंकि इस मार्ग से बिन्दु के साथ केवल उस विशिष्ट दल का ही सम्बन्ध होता है, अन्य दल का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

इस बात को और भी स्पष्ट करके बतलाना है। माता और उसकी आठ सन्तान विद्यमान हैं। माता प्रत्येक सन्तान की जननी है। अतएव उसका सम्बन्ध आठों में से प्रत्येक के साथ समान-रूप से है। अतः यह सत्य है कि वह एक है, तथापि उसकी आठ सन्तान हैं। इस प्रकार उसका स्नेह, प्यार आदि प्रत्येक सन्तान के लिये ही प्राप्य होने के कारण आठ भागों में विभक्त हो जाता है। दूसरी ओर से, सन्तान के लिये एक माता के सिवा दूसरा कोई नहीं है। माता जानती है कि उसकी आठ सन्तान हैं, और प्रत्येक सन्तान जानती है कि उसकी एक ही माता है। सन्तान यदि अपने को आठ भाईयों में से एक मान कर माता को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो तो वह सम्पूर्ण माता को प्राप्त न करके उसके एक देश को ही प्राप्त करेगा; क्योंकि सम्पूर्ण माता को ग्रहण करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है; कारण कि वह अपने को आठ सन्तानों में से एक समझता है। यहाँ सम्पूर्ण माता को प्राप्त करने के लिये उसे आठ में से एक न बन कर आठों के समष्टि-रूप में एक बनना होगा। यह क्रमविकास का मार्ग है, अर्थात् उसकी अगली सन्तान के भाव में तथा उसके आगे उससे अगली सन्तान के भाव में और इस प्रकार क्रमशः भावान्तर में प्रवेश करते-करते अष्टम सन्तान के भाव में अपने को प्रस्फुटित कर डालना होगा। तब वह आठ सन्तानों के समष्टिभूत तथा अष्ट भावों के प्रतिनिधि-रूप में मध्यबिन्दु से महा-भावरूपिणी माता के पास पहुँचने का अधिकार प्राप्त करेगा। इस प्रकार आधार पूर्ण होने पर वह पूर्णरूप से माता को प्राप्त हो सकेगा। यह हुआ एक मार्ग। दूसरी दृष्टि से यदि सन्तान अपने को माता की आठ सन्तानों में से एक न समझ कर केवल अपने को ही माता की एकमात्र सन्तान माने तो वह पूर्वोक्त आवर्तमार्ग में पूर्णता प्राप्त नहीं करेगा; उसके लिये तो सरल मार्ग है और वह गुप्त है, इसे चाहे तो योगमाया का मार्ग कह सकते हैं। अर्थात् वह साक्षात् रूप से अपने स्थान से ही सरल मार्ग द्वारा माता को प्राप्त हो सकता है। उसे विभिन्न सन्तानों के भाव को ग्रहण करके पूर्णता की प्राप्ति नहीं करनी पड़ेगी। वह जहाँ अवस्थित है, वहीं से माता का दर्शन कर सकता है और माता को प्राप्त हो सकता है। इस मार्ग में उसको बाधा देनेवाला कोई नहीं है, कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है। वह जानता है कि एकमात्र मैं ही माता की सन्तान हूँ। और माता भी

जानती है कि वही एकमात्र मेरी सन्तान है। अतएव इस क्षेत्र में वह माता के पूर्ण स्नेह और प्यार का दावा करता है, और उसे प्राप्त भी कर लेता है। माता के इस स्नेह और प्यार में उसकी अन्य सन्तान का भाग नहीं होता। अन्य सन्तान इस बात को नहीं जानती और जान भी नहीं सकती। योगमाया के आच्छादन में माता और सन्तान का यह विचित्र सम्बन्ध और आनुषङ्गिक लीला प्रकाशित होती है। प्रत्येक सन्तान के लिये यह व्यवस्था एक ही प्रकार की होती है। परन्तु इसका विकास होने में समय लगता है। यहाँ माता को पूर्णरूप से व्यक्तिगत भाव से प्राप्त होने पर भी उसे सर्वसन्तान की जननी के रूप में समष्टि-भाव से पाना नहीं बनता। लीला-आस्वादन की यह भी एक दिशा है।

इसमें और भी अनेक रहस्य हैं। प्रथम दृष्टान्त में जो सन्तान के विषय में उल्लेख किया गया है, उसकी आवर्त-गति के मूल में आत्मलोप-अवस्था रहती है, अर्थात् प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था में जाने के साथ-साथ प्रथम अवस्था द्वितीय अवस्था में परिणत हो जाती हैं, यह जानने की बात है। इस प्रकार आवर्तन पूर्ण होने पर आगे-आगे परिणति को प्राप्त होते-होते प्रथम अवस्था ही अष्टम अवस्था में परिणत हो जाती है, यह जान लेना चाहिये। तब उस अष्टम अवस्था में पूर्ण विकास प्राप्त हो जाने के पश्चात् माता को पूर्णरूप में प्राप्त किया जाता है। परन्तु इसके सिवा समष्टि-प्राप्ति की एक और भी प्रणाली है; वह आत्मविकास है, आत्मलोप नहीं। उसके फल-स्वरूप प्रथम अवस्था में ही द्वितीय अवस्था आकर लीन हो जाती है, और उसके बाद आत्मविकास के साथ-साथ सारो अवस्थाएँ उसी में लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अष्टम सन्तान के भाव के लीन हो जाने के बाद जिस अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, वही इस मार्ग में समष्टि सन्तान-भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसके पश्चात् माता की प्राप्ति भी तदनुरूप ही होती है। वस्तुतः समष्टि मार्ग के समन्वय के द्वारा ही प्रकृत समष्टि-पथ की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार व्यष्टिभाव की प्राप्ति भी समझनी चाहिये; क्योंकि व्यष्टिभाव में स्वयं माता के आकर्षण से आकृष्ट होकर माता के समीप जाना तथा अपने आकर्षण से माता का आकृष्ट होकर आना और सन्तान को गोद में लेना—ये दो विभिन्न दिशाएँ रहती हैं। व्यष्टिभाव में भी प्रकृष्ट पथ इन दोनों भावों के समन्वय के ऊपर प्रतिष्ठित है।

इससे यह समझा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति परवर्ती सारो विकास भूमि का—चाहे वह अनुलोम-क्रम से हो या प्रतिलोम-क्रम से—अनुभव न करके भी अपने व्यक्तिगत स्थान से ही महाभाव के साथ युक्त हो सकता है। अथवा महाभाव को अपने साथ युक्त कर सकता है। लीला के आस्वादन की दिशा से व्यक्तिगत दिशा का यह एक वैशिष्ट्य है, इसे मानना पड़ेगा। मूलतः व्यक्ति का व्यक्तित्व यदि स्वीकृत हो तो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के स्थान पर अधिकार नहीं कर सकता; क्योंकि एक

व्यक्ति में जो वैशिष्ट्य होता है, वह दूसरे में नहीं हो सकता। अतएव क्रमविकास के मार्ग से जाने पर वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का मार्ग नहीं होगा—यह कहने की आवश्यकता नहीं। इस स्थल में व्यक्तित्व की रक्षा करके ही क्रमविकास मानना होगा। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव में विद्यमान रहते हुए भी समष्टि में आत्मप्रसार कर सकता है। इस प्रकार समष्टि के साथ अथवा उसके एकदेश के साथ उसको तादात्म्य की प्राप्ति भी हो सकती है; परन्तु फिर भी उसका व्यक्तिगत स्वभाव अक्षुण्ण ही रहता है। इस प्रसंग में यह भी याद रखना चाहिये कि विकासाभिमुख व्यक्तित्व का विसर्जन करने पर, यद्यपि वह विसर्जन स्थायी नहीं होता, तथापि अनिर्दिष्ट काल के लिये व्यक्तित्व का लय अनिवार्य हो जाता है। भाव से महाभाव पर्यन्त लीला-राज्य का विस्तार है। महाभाव के साथ भावातीत का योग हुए बिना लीला का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। खण्डभाव से भावातीत में ठीक तौर पर स्थिति प्राप्त नहीं होती। अतएव खण्डभाव का महाभाव के द्वारा भेद करके ही भावातीत के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

प्रचलित दृष्टान्त के द्वारा हम विषय को समझाने की चेष्टा करते हैं। हमारे परिचित भक्तिशास्त्रों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य—इन पाँच मुख्य भक्तिभावों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक भाव का एक वैशिष्ट्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। भाव के वैशिष्ट्य के अनुसार एक ओर जिस प्रकार भक्त का वैशिष्ट्य निरूपित होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भाव की परिपक्व अवस्था में आविर्भूत भगवान् का भी वैशिष्ट्य निरूपित होता है। शान्त भक्त जिस प्रकार का होता है, उसके सामने प्रकटित भगवत्स्वरूप भी तदनुरूप ही होता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि शान्तभक्ति एक है, तथापि उसमें असंख्य प्रकार-भेद हैं—इस बात को भक्तलोग स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के भेदों के अन्तर्गत फिर अवान्तर प्रकार-भेद हैं। जो जितना ही विश्लेषण कर सकेगा, वह उतने ही सूक्ष्म भेद करने में समर्थ होगा; परन्तु इन समस्त सूक्ष्म भेदों को मान लेने पर भी उसके द्वारा व्यक्तित्व की समस्या का समाधान नहीं होता। क्योंकि भेद चाहे जितने प्रकार के हों, सर्वत्र ही व्यक्तिगत भेद के लिये स्थान रहेगा। अतएव प्रश्न यह है कि एक दृष्टि से जैसे शान्त भाव अन्यनिरपेक्ष और पूर्ण है, दूसरी ओर उसी प्रकार एक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी दूसरी दृष्टि से पूर्णता के लिये भावान्तर की अपेक्षा करता है। शिशु-रूप में शिशु निरपेक्ष पूर्ण होता है; तथापि उसका एक क्रम-परिणाम है, जिसके फलस्वरूप वह बालक-रूप में, किशोर-रूप में और युवक-रूप में परिणत होता है। इसी प्रकार शान्त-भाव-रूप में शान्तभाव की एक निरपेक्ष पूर्णता है, यह सत्य है; परन्तु शान्तभाव की परिणति में दास्यभाव का विकास, दास्यभाव की परिणति में सख्यभाव का विकास इत्यादि भावों का क्रमविकास अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक-एक भाव के विकास के साथ-साथ एक-एक गुण की भी अभिव्यक्ति होती है। अतएव इस प्रणाली से महाभाव में उपस्थित होने पर सभी सम्भाव्य गुणों की

पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्राप्त हो जाती है। एक-एक भाव के अन्तर्गत अवान्तर श्रेणी-विभाग में भी इसी प्रकार क्रम-विकास निहित है। परन्तु मूल प्रश्न यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व इस समस्त विकास में भी अक्षत रहता है। व्यक्तित्व की महिमा अतुलनीय है। लीलास्वादन के अन्तर्गत रसवैचित्र्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

शान्तभाव के दृष्टान्तस्वरूप में 'क' और 'ख' को ग्रहण कीजिये। 'क' एक व्यक्ति है और 'ख' एक दूसरा व्यक्ति है। मान लीजिये कि दोनों शान्त भक्त हैं। व्यक्तिभेद के वश, 'क' और 'ख' के भाव एक पर्याय के होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। यह जो पार्थक्य है, वह अक्षुण्ण रूप में चिरकाल तक रहता है। अर्थात् शान्त-भक्ति के बाद यदि 'क' और 'ख' दोनों दास्य-भक्ति के स्तर में पहुँचते हैं, तो वैसा होने पर भी दोनों का यह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य बना ही रहेगा। इस प्रकार माधुर्यपर्यन्त क्रमोत्कर्ष प्राप्त कर लेने पर भी 'क' 'क' ही रहेगा। वह 'ख' या कोई दूसरा नहीं बन जायगा; और 'ख' भी 'ख' ही रहेगा, 'क' या कोई दूसरा नहीं बनेगा। केवल इतना ही नहीं, माधुर्य भाव के अन्तर्गत अवान्तर विभागों का भेद करके महाभाव में प्रवेश कर लेने पर भी यह व्यक्तिगत पार्थक्य लुप्त नहीं होगा। इस प्रकार समझना चाहिये कि वृत्त के अन्तर्गत प्रत्येक बिन्दु केन्द्ररूपी मध्य-बिन्दु में प्रविष्ट होने पर तथा उसके साथ अभिन्न होने पर भी अपने-अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता है। ऐसा न करने पर लीलास्वादन का माधुर्य नहीं रहता। एक जिस प्रकार एक रूप में सत्य है, उसी प्रकार वह अनन्त रूप में भी सत्य है; क्योंकि वहाँ भी तो वह एक ही तद्रूप में खेल करता है। एक में जैसे अनन्त है, वैसे ही अनन्त में एक है—यही लीला का रहस्य है।

पहले भी यह कहा जा चुका है कि भाव ह्लादिनी शक्ति के वृत्ति-विशेष का नाम है; यही भक्ति का स्वरूप है। परिपक्व अवस्था में इसी का नाम प्रेम है। यह अनन्त प्रकार का है—यह बात भी जानी गयी। परन्तु इस अनन्त प्रकार के प्रत्येक प्रकार में व्यक्तिगत अनन्तत्व रहता है। उसके बिना लीला या खेल नहीं चल सकता। इस व्यक्ति में ही स्वातन्त्र्य रहता है और इसी कारण कोई एक व्यक्ति अपने सजातीय अन्य व्यक्ति के समान नहीं होता। कुछ स्वातन्त्र्य अनिवार्य रूप से उसमें रहता है। स्वरूप-शक्ति और तटस्थ-शक्ति के संयोग से ऐसा घटित होता है; अर्थात् भक्ति या भाव ही स्वरूप-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उस भक्ति का आश्रय स्वरूप-शक्ति की वृत्ति नहीं, तटस्थ-शक्ति का कार्य है, अर्थात् जीव है। अतएव रागात्मिका भक्ति जीव की नहीं होती। जीव को तो रागानुगा भक्ति ही प्राप्त होती है। अर्थात् भाव-विशेष के जीव-विशेष में अभिव्यक्त होने पर उसे जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, अन्य जीव में उसी भावविशेष के अभिव्यक्त होने पर उसे ठीक वही वैशिष्ट्य नहीं प्राप्त होता। यही व्यक्तित्व की महिमा है। इसी के कारण लीला लीला है; अन्यथा वह अनुकरणात्मक कृत्रिम अभिनयमात्र होता।

जीवरूपी अणु भाव का आश्रय है; परन्तु देह केस म्बन्धकाल में जीव अन्तः-करण के साथ विजड़ित होकर प्रकाशित होता है। चाहे जिस कारण से हो, सांसारिक

अवस्था में जीव और अन्तःकरण तादात्म्यसूत्र में आबद्ध हैं। अतएव भाव का अवतरण जीव में होने पर भी वह प्रथम अवस्था में अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में प्रतिफलित होता है; परन्तु वस्तुतः वह अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर वह समस्त देह को अनुप्राणित करता है। लौकिक भाव का यही नियम है। परन्तु प्रवर्तक अवस्था में देह और अन्तःकरण शुद्ध होने पर जब उसके बाद स्वभाव का विकास हो जाता है, तब इस प्रकार स्थूलदेह के साथ सांकर्य सम्भव नहीं होता; क्योंकि उस समय यह भाव स्थूलदेह से पृथक् भावदेह के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह भावदेह भावरूपी या शुद्ध सत्तात्मक कार्य एवं चिदणुस्वरूप जीवरूपी प्राण—इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप होता है।

भाव अथवा भक्तिसाधना की चरम परिणति में एक ओर रस की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर महाभाव का विकास होता है। रस का जो विशुद्धतम और पूर्णतम स्वरूप है, उसकी प्राप्ति अथवा उपलब्धि महाभाव के विकास के बिना नहीं हो सकती। परन्तु महाभाव का विकास भाव की विशिष्ट अभिव्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है। भाव के नाना प्रकार के भेद हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन समस्त भेदों के अन्तर्गत एक पारस्परिक क्रमानुगत सम्बन्ध है—यह भी ठीक है और प्रत्येक भाव स्वतन्त्र और परस्पर निरपेक्ष है—यह भी सत्य है। सृष्टिकालीन जीव के स्वरूपगत वैशिष्ट्य के कारण इस प्रकार का भेद होता है।

भाव क्रम-विकास के फल से हो या अक्रमविकास के फल से—शान्त से मधुर में परिणाम प्राप्त हुए बिना, अथवा स्वभावसिद्ध मधुरभाव के हुए बिना, भाव से महाभाव के मार्ग को प्राप्त होने की संभावना नहीं रहती। मधुरभाव के प्राप्त होने पर भी, यदि प्रतिबन्धक दूर न किया जा सके तो भाव की गति विकास के मार्ग से महाभावतक नहीं पहुँचती; क्योंकि मधुर भाव में सामञ्जस्य और साधारणत्व प्राप्त न हो तो उसमें सामर्थ्य का उदय नहीं होता। इसका विशेष विवरण पीछे किया जायगा।

भाव-साधना की दो दिशाएँ हैं। एक में गुणवृद्धि के साथ-साथ शान्त से दास्य, दास्य से वात्सल्य इत्यादि क्रमपूर्वक पूर्ण गुणोदय के साथ माधुर्य का विकास होता है। ठीक इसी प्रकार माधुर्य प्राप्त करके सामञ्जस्य और साधारणत्व का परिहार करना आवश्यक होता है। उसके पश्चात् इसी के अनुरूप साधनक्रम का ठीक-ठीक अवलम्बन करने पर महाभाव की ओर अग्रसर होना सम्भव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिविशेष में कृपादि निमित्त से अथवा स्वभावतः उत्कर्ष विद्यमान रहने पर उपयुक्त साधन-क्रम का गुरुत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। दूसरी दिशा में, गुण-वृद्धि की चेष्टा न करके अपने गुण में आबद्ध रहना तथा अपनी भूमि में रहते हुए ही भाव को प्रेम में परिणत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। शान्तभाव शान्त रहते हुए ही प्रेम में परिणत हो सकता है। इसके लिये दास्यभाव में अथवा तदनुरूप अन्य भाव में विकास आवश्यक नहीं होता। प्रेमावस्थापर्यन्त भाव की परिपक्वता होने पर भाव के विषयभूत श्रीभगवान् के दर्शन की प्राप्ति प्रत्येक भाव के द्वारा ही हो सकती है। उसके

लिये भावान्तर का आश्रय आवश्यक नहीं होता। परन्तु यह सत्य है कि भगवान् के दर्शन होने पर भी तथा भविष्य में रस की अभिव्यक्ति और लीला में अधिकार होने पर भी उसे एक ही भाव की सीमा में बँधे रहना पड़ेगा।

पहले जिस अष्टदल कमल की बात कही गयी है, वह बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का समझना चाहिये। आभ्यन्तरीण कमल 'बिन्दु'-स्वरूप होता है, और बाह्य कमल इस बिन्दु की आठ दिशाओं के आठ दलों की समष्टि होता है। इस बाह्य कमल को भावराज्य ही समझना चाहिये, इसमें निरन्तर आठ भावों का खेल चल रहा है। वस्तुतः ये मौलिक अष्टभाव ही अष्टकालीन लीला के कालातीत आठ विभाग हैं। प्राकृतिक नियमों से इन आठ दलों की परिक्रमा पूर्ण कर लेने पर मध्यबिन्दु में प्रवेश प्राप्त होता है। मध्यविन्दु माधुर्यमय है। मध्यबिन्दु का विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि वह भी स्थूलतः आठ भागों में विभक्त है। इन आठ भागों में से प्रत्येक भाग मध्यविन्दु का अवयव ही है, जिसे 'कला' कहा जाता है। इन आठ कलाओं का नाम है 'अष्टसखी'। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद हैं। इन अष्ट भावों का जो निष्कर्ष या निर्यास है, वह यथार्थ महाबिन्दु अर्थात् महाभाव है। महाभाव में भी उत्कर्षगत तारतम्य के भेद से विकास को अवसर रहता है। इस विकास की जो चरम परिणति है, उसी को वैष्णव शास्त्रों में, विशेषतः अन्तरङ्ग महापुरुषों की अनुभूति में 'श्रीराधा-तत्त्व' नाम से वर्णन किया गया है। भाव-साधना के फलस्वरूप जीव बाह्य अष्टदलों के प्रथम दल से आवर्तित होते-होते क्रमशः महाभाव के चरम विकास तक पहुँच सकता है। उस समय पूर्णतम रस की उपलब्धि में पूर्णतम मिलन और सामरस्य होता है। बाह्य अष्टदल तथा अष्टकलारूपी भीतर के अष्टदल—इन दोनों के बीच असंख्य अवान्तर स्तर हैं। जिस रस के विषय में कहा गया है, उसकी अभिव्यक्ति भावराज्य में सर्वत्र ही हो सकती है; परन्तु भाव के अन्तर्मुखी विकास की आवश्यकता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी। अर्थात् यदि कोई भाव अपने स्वरूप में विशुद्ध रूप से स्थित हो तो उसके प्रेमरूप में परिपक्व होने पर साथ-ही-साथ अपने स्वभाव के अनुसार, भगवान् के दर्शन और रस की उपलब्धि के क्रम से, तदनुरूप लीलारस का आविर्भाव हो सकता है। परन्तु इस रस का पूर्णत्व और मधुरत्व तभी सम्भव है, जब भावों की गुणवृद्धि से होनेवाले एवं अन्यान्य प्रकार के विकास भी सम्पन्न होते रहें।



लिङ्ग-रहस्य

जिज्ञासु—पाश्चात्य पण्डित तथा पाश्चात्य विचारों से प्रभावित आजकल के कोई-कोई नवशिक्षित भारत-सन्तान भारतवर्षीय उपासना की बात चलने पर कहते हैं कि यद्यपि दर्शन और धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में भारतवर्ष में ऐसे गम्भीर तत्त्वों का आविष्कार हुआ था, जो समस्त जगत् के लिये विस्मयजनक हैं, परन्तु उपासना के सम्बन्ध में सब समय वैसी प्रशंसा नहीं की जा सकती। वे कहते हैं कि लिङ्ग-उपासना भारतवर्ष का एक कलङ्क है। उनके विचार से वर्तमान सभ्य युग में इस प्रकार की अश्लील और असभ्य-बालोचित आदिम उपासना का प्रचलित रहना उचित नहीं है। उनकी इस आलोचना पर धीरतापूर्वक विचार करने से लिङ्गोपासना के सम्बन्ध में स्वभावतः हृदय में कुछ-कुछ संशय उत्पन्न होता है। हम बाल्यकाल से ही लिङ्गरूप शिव की उपासना देखते आ रहे हैं, इसी संस्कार की दृढ़ता से इसकी अश्लीलता हमारे मन को वैसी अश्लील नहीं लगती। परन्तु पूर्वसंस्कारों को त्याग कर विचार करने से ज्ञात होता है कि विदेशीय समालोचक स्वाभाविक प्रेरणावश ही इस प्रकार की उपासना की निन्दा करते हैं। इस विषय में मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। यदि कृपा कर आप लिङ्ग-रहस्य की यथासम्भव संक्षेप में व्याख्या करें तो मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा। सम्भवतः आपकी व्याख्या से मेरे सब संशय दूर हो जायँगे। यदि कोई नया संशय उठेगा तो उसे स्पष्ट कर उसकी भी मीमांसा करा सकूँगा।

वक्ता—तुम्हारे संशय को मिटाने के लिये मैं अवश्य ही तुमसे यथाशक्ति कुछ कहूँगा। परन्तु कहने के पूर्व मैं दो-एक बातें तुमसे पूछ लेना चाहता हूँ। तुमने तो प्राचीन इतिहास की आलोचना की है; क्या तुम नहीं जानते कि पृथिवी की अधिकांश अति प्राचीन सभ्य जातियों में लिङ्ग-उपासना किसी-न-किसी रूप में प्रचलित थी? भारतवर्ष में भी प्राग्-ऐतिहासिक युग से लिङ्ग-उपासना प्रचलित है। 'मोहन-जो दड़ो' में प्राप्त प्राचीन निदर्शनों का अवलोकन करने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग ठीक आजकल के समान ही विशेष आकार के शिव-लिङ्ग की पूजा करते थे। जो उपासना या साधना एक समय जगद्व्यापक थी तथा परवर्ती युग में भी भारतवर्ष में जो भगवत्कल्प श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति असंख्य ज्ञानी और योगैश्वर्य-सम्पन्न मनीषियों के द्वारा अनुष्ठित होती आ रही है, वह अज्ञजनोचित उपहास वचनों का विषय होने योग्य कदापि नहीं है। बिना तीव्र साधना के किसी भी तत्त्व का सम्यक् रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है। किन्तु इसीलिये उसकी निन्दा करने लगना धृष्टता के सिवा और क्या हो सकता है?

जिज्ञासु—मैंने जिज्ञासुभाव से ही आपसे प्रश्न किया है, निन्दा के उद्देश्य से नहीं। लिङ्गोपासना के मूल में जो एक अश्लील भाव है, उसे क्या आप स्वीकार करना

चाहते हैं ? और यदि न कर सकते हों तो फिर सभ्य समाज में इसका किस प्रकार समर्थन किया जा सकता है ?

वक्ता—वत्स, श्लील और अश्लील का विचार नव्य-रुचि-सम्पन्न युवकों की विकृत दृष्टि के निर्णय के अनुसार नहीं हो सकता। व्यक्तिगत संस्कार तथा सामाजिक मनोभावों से संवेष्टित प्रकृति के अनुसार आपेक्षिक रूप से श्लील और अश्लील का निर्धारण हो सकता है। नग्नकाय पवित्र-चित्त छोटे-से शिशु की दृष्टि में संसार में कहीं कुछ भी अश्लील नहीं देखा जाता है। यही बात ज्ञानसम्पन्न परमहंस की दृष्टि में भी समझनी चाहिये। अन्यत्र जिसका जिस प्रकार का संस्कार होता है, वस्तुसत्ता उसके निकट उसी प्रकार प्रतिभात हुआ करती है। भगवान् की सृष्टि में अपवित्र कहलाने वाली कोई भी वस्तु नहीं है। परन्तु कलुषित-हृदय द्रष्टा अपने अन्दर की कालिमा का आरोपण कर वस्तुविशेष को अपवित्र समझ लेता है। शुद्ध चित्त से जिस ओर देखो, उसी ओर सत्य की उज्ज्वल मूर्ति देखकर आनन्द प्राप्त कर सकते हो। फिर किसी भी स्थान में सङ्कोच का कारण नहीं प्रतीत होगा। देखो, लिङ्ग और योनि—ये दो ही सृष्टि के मूल-रहस्य हैं। पुरुष और स्त्री के पारस्परिक संयोग के बिना सृष्टि प्रभृति कार्य सम्पन्न नहीं सकते। शिव और शक्ति, ईश्वर और माया, पुरुष और प्रकृति—प्रस्थान-भेद से चाहे जिस नाम को लिया जाय—सर्वत्र ही दो मूल-शक्तियों के पारस्परिक सङ्घर्ष से सृष्टि प्रभृति कार्य सम्पन्न होते हैं।

जिज्ञासु—यह जो दो शक्तियों की बात आपने कही, क्या ये ही वास्तविक मूल-शक्तियाँ हैं अथवा इनके पीछे कोई अद्वितीय शक्ति और भी है ?

वक्ता—जब तक द्वैत जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जाता तब तक इन दो शक्तियों को ही मूलशक्ति मानना पड़ता है। कार्यक्षेत्र में मूलतः यही प्रतीत होता है और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। ईरानी, यहूदी तथा अन्य किसी भी प्राचीन धर्म में यही मौलिक द्वैत स्वीकृत हुआ है। परन्तु याद रखना कि वस्तुतः इस द्वैत के मूल में नित्य अनुस्यूत-भाव से अद्वैत सत्ता ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक् रूप में उपलब्ध होते हैं, तथापि यह जान लेना चाहिये कि सृष्टि की आदि-भूत बीजावस्था में ये दोनों ही शक्तियाँ अभिन्नरूप में ही विराजमान रहती हैं। इसे चाहे ईश्वर कहो या महाशक्ति, उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उस अवस्था में एक ओर जैसे प्रकृति और पुरुष परस्पर भेद-रहित और एकाकार हैं, वैसे ही दूसरी ओर वह अद्वैत ईश्वर-सत्ता भी निरञ्जन एवं निष्कलसत्ता के साथ एकीभूत है। वह अव्यक्त अवस्था है, इसको एक ओर सृष्टि का बीज कहा जाने पर भी, दूसरी ओर यह नित्य-सृष्टि से अतीत, प्रपञ्चहीन, शान्त और निःस्पन्द शिवभावमात्र है। इसी की स्वतन्त्रता के उन्मेषवश इस अक्षोभ्य चित्-सत्ता के ऊपर वाक् और अर्थ के समान नित्य-सम्पृक्त, परन्तु भेदयुक्त, पुरुष और प्रकृतिरूप तत्त्वद्वय का आविर्भाव होता है। ये पुरुष और प्रकृति एक होते हुए भी भिन्न हैं और भिन्न होते हुए भी एक हैं, क्योंकि इनमें से एक को छोड़कर दूसरा अपनी सत्ता का संरक्षण नहीं कर सकता। पारमार्थिक दृष्टि से वह

अव्यक्त अवस्था न होने पर भी, सांसारिक दृष्टि से सृष्टि की अभिव्यक्ति न होने के कारण इसको एक प्रकार से अव्यक्त कहा जा सकता है। शास्त्र के मत से यह अलिङ्ग-अवस्था है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से निष्कल-अवस्था अलिङ्ग है; अतः इसको महालिङ्ग-अवस्था कहा जा सकता है। लिङ्ग और अलिङ्ग—इन दो शब्दों का तात्पर्य आपेक्षिक-भाव से ही समझना पड़ेगा। परिचायक चिह्न को 'लिङ्ग' कहते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति नहीं है, उसका कोई भी निदर्शन नहीं दिखलाया जा सकता। किन्तु इस अव्यक्त सत्ता से जो तेजोमय और ज्योतिर्मय तत्त्व आविर्भूत होता है, वह स्वयं आविर्भूत होता है, इसलिये उसे स्वयम्भू कहा जाता है। यही अव्यक्त अवस्था का परिचायक है। इसीलिये यह लिङ्ग-पदवाच्य है।

जिज्ञासु—आपने जो स्वयम्भूरूप लिङ्ग का परिचय दिया, उसे सुनकर मुझे तृप्ति हुई। इस लिङ्ग के अतीत अलिङ्ग-अवस्था के सम्बन्ध में अभी मुझे कुछ भी पूछना नहीं है। मेरा कहना यही है कि लिङ्ग और योनि परस्पर संश्लिष्ट होकर सांसारिक कार्यों का सम्पादन करते हैं। उसका एकांश यह लिङ्गतत्त्व है; किन्तु द्वितीय अंश या योनितत्त्व की कुछ धारणा न होने से लिङ्ग-रहस्य सम्यक्प्रकार से नहीं जाना जा सकता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि प्रसङ्गतः संक्षेप में योनिरहस्य के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें बतलाइये, जिससे प्रस्तावित विषय को मैं अच्छी तरह समझ सकूँ।

वक्ता—तुम्हारा प्रश्न बहुत ही उचित है। योनितत्त्व की धारणा न होने से लिङ्ग-रहस्य का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि यह विषय अत्यन्त जटिल है एवं सिवा अन्तःप्रविष्ट साधक के दूसरे के लिये नितान्त दुर्बोध्य है, तथापि आलोचना का विषय होने के कारण संक्षेप में दो-चार बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ।

जिस प्रकार आधार और आधेय परस्पर सम्बन्धविशिष्ट हैं, उसी प्रकार एक प्रकार से लिङ्ग एवं योनि को भी समझना चाहिये। परन्तु ध्यान रहे कि यह सादृश्य सर्वाङ्गीण नहीं है। जब आद्याशक्ति या श्रीभगवान् परम साम्यावस्था में रहते हैं, उस समय उनमें लिङ्ग या योनि—किसी प्रकार के भी द्वैत-भाव की कल्पना सम्भव नहीं है। परन्तु जहाँ अनादि द्वैतभाव प्रकाशित है, वहाँ एक के बिना दूसरे की उपलब्धि नहीं की जा सकती। तन्त्रशास्त्र में योनि को त्रिकोणरूप से एवं लिङ्ग को उसके केन्द्र-स्वरूप या मध्यबिन्दु-रूप बतलाया गया है। सृष्टि की अतीत अवस्था में वहाँ सर्वशक्ति नित्य प्रकाशमान अथवा नित्य अवगुण्ठित है, वहाँ बिन्दु, मण्डल और बिन्दु से मण्डल-पर्यन्त निःसृत किरणधारा—ये तीनों ही अभिन्नरूप से प्रकाशित होती हैं। इस अभेदात्मक सत्ता में मण्डल को योनि के एवं बिन्दु को लिङ्ग के पूर्वरूप होने की कल्पना की जा सकती है। परन्तु सृष्टि की आदिम अवस्था के समय—यद्यपि यह आदिम अवस्था भी अनादि काल से ही वर्तमान है—बिन्दु एवं उसके आवरण—इन दोनों में एक भेदाभास जाग उठता है। इसके फलस्वरूप जो आवरणरूप मण्डल बिन्दु के साथ अभिन्नरूप से वर्तमान था, वह भेद-सृष्टि से पहले त्रिरेखाङ्कित त्रिकोणसमन्वित क्षेत्ररूप से प्रकट होता है। यद्यपि बिन्दु से अनन्त किरणमालाएँ विकीर्ण होती हैं,

तथापि सङ्कुचित अवस्था के समय सृष्टि के आरम्भकाल में तीन किरणें ही प्रधानतः ग्रहण करने योग्य हैं। वे तीनों रश्मियाँ सरल रेखाओं के रूप में परस्पर समान दूरी पर रहकर तीन ओर बढ़ती हैं। महाशून्य के वक्षःस्थल पर यह विकिरण-लीला सम्पन्न होती है, इसलिये यह सर्वत्र समानभाव से ही होती है; क्योंकि उस समय आकर्षण या विकर्षण करने की कोई भी शक्ति वर्तमान नहीं है; इसलिये ये तीनों रेखाएँ परस्पर समभावापन्न ही होती हैं। एक ही मूलस्थान से निर्गत होने के कारण जब ये तीनों रेखाएँ प्राथमिक गति के निरोध के समय स्थिरता प्राप्त करती हैं, तब इनके अग्रभाग परस्पर मिलने के लिये पुनः गतिविशिष्ट हो जाते हैं, फलतः तीन बाह्य रेखाओं का विकास होता है एवं एक समबाहु और समकोण त्रिभुज का आविर्भाव होता है। उस समय ये तीन बाह्य रेखाएँ ही केन्द्रस्वरूप बिन्दु का आवरण मानी जाती हैं। कहना नहीं होगा कि यही प्रथम आवरण है। कम-से-कम बिना तीन सरल रेखाओं के किसी भी वस्तु का वेष्टन नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में इसी त्रिकोण या त्रिभुज को 'मूल त्रिकोण' कहा गया है। बिन्दु के स्पन्दन के तारतम्य के कारण इस त्रिकोण के रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, क्योंकि बाहु या कोण का परस्पर असंख्य प्रकार का वैषम्य संघटित हो सकता है। किन्तु मूल त्रिकोण साम्यभावापन्न होने से सर्वदा एक ही प्रकार का रहता है। यह मूल त्रिकोण ही विश्व की उत्पत्ति का कारण महायोनिस्वरूप है। जब इसका मध्यवर्ती बिन्दु विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगतिशील ज्योतिर्मय रेखा के रूप में परिणत होता है तब इसको उज्ज्वल प्रकाशपुञ्ज के स्तम्भरूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि यही वह पूर्ववर्णित स्वयम्भू नामक ज्योतिर्लिङ्ग है। अन्तर्दृष्टि खुल जाने पर भीतर और बाहर सभी जगह यह लीला प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है। बाइबिल और अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों में जिस अग्नि-स्तम्भ (pillar of fire) का वर्णन मिलता है, वह भी इस लिङ्ग-ज्योति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिज्ञासु—आपने जिस प्रकार वर्णन किया, उससे तो यही समझ में आता है कि योनि से ही लिङ्ग का विकास होता है। क्या यह आंशिक सत्य नहीं है ?

वक्ता—तुम्हारी धारणा निर्मूल नहीं है, परन्तु अभी तक लिङ्ग और योनि के पारस्परिक सम्बन्ध को तुम भलीभाँति हृदयङ्गम नहीं कर सके हो। इसलिये सूक्ष्म तत्त्व को अब भी तुम ग्रहण नहीं कर पाते हो। तुम्हारे सरलतापूर्वक समझने के लिये मैं विषय को और भी कुछ स्पष्ट करने की चेष्टा करता हूँ। देखो, मैंने जिस योनि के सम्बन्ध में तुमसे कहा है, उसके मूलतः एक होने पर भी द्वैत-जगत् में उसे द्विविध जानना चाहिये। एक ब्रह्मयोनि और दूसरी मातृ-योनि। इसीलिए त्रिकोण भी ऊर्ध्वमुख और अधोमुख-भेद से दो प्रकार का है। दोनों के ही केन्द्रस्थल में बिन्दु वर्तमान है। बिन्दु विक्षुब्ध होकर जब रेखारूप में गतिशील होता है, तब वह भी ऊर्ध्व और अधो भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इनमें एक का नाम ऊर्ध्वलिङ्ग और दूसरे का नाम अधोलिङ्ग है। साधारण अवस्था में जगत् के यावतीय जीव-जन्तु अधोलिङ्गविशिष्ट ही

हैं, परन्तु साधना के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के प्रबुद्ध होने पर ये ऊर्ध्वलिङ्ग के रूप में आ सकते हैं।

देखो, बिन्दु जब विसर्ग के रूप में परिणत होता है अर्थात् जब द्वैत जगत् का मूलभूत द्वन्द्व आविर्भूत होता है तब एक बिन्दु ऊपर एवं दूसरा नीचे गिर जाता है। इन दोनों बिन्दुओं की संयोजक रेखा ही अक्षरेखा या ब्रह्मसूत्र है। ऊपर का बिन्दु एक त्रिकोण का मध्यबिन्दु है, इसी प्रकार नीचे का बिन्दु भी एक दूसरे त्रिकोण का मध्य-बिन्दु है। जब ऊर्ध्व त्रिकोण एवं तन्मध्यस्थ बिन्दु विक्षुब्ध होता है तब उस बिन्दु से अधोमुखी (नीचे की ओर) शक्ति-धारा निकलती है। यही सृष्टि-अवस्था की सूचना है। इसी प्रकार जब अधःस्थित बिन्दु और त्रिकोण विक्षुब्ध होता है तब उस बिन्दु से ऊर्ध्वमुखी शक्ति-धारा निःसृत होती है। यह संहार की अवस्था है। जो शक्ति-धारा सृष्टि के समय ऊर्ध्वबिन्दु से नीचे की ओर उतर जाती है, एक त्रिकोण क्षेत्ररूप से उसे अपने वक्षःस्थल पर धारण कर लेता है। इसी के फलस्वरूप प्राकृतिक देह निर्मित होते हैं एवं अज्ञानमय प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। दूसरी ओर, जब अधोबिन्दु ऊर्ध्वलिङ्ग अवस्था को प्राप्त होकर ऊर्ध्वमुखी शक्ति का सञ्चार करता है, तब दूसरा त्रिकोण क्षेत्र-स्वरूप होकर उसको बीजरूप से धारण करता है। इसी के फलस्वरूप अप्राकृतिक या दिव्य प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। देवता का देह-निर्माण या साधक को दिव्यभाव की प्राप्ति इसी से हुआ करती है। दिव्य सृष्टि के मूल में प्राकृत सृष्टि के संहार की आवश्यकता है एवं प्राकृत सृष्टि के मूल में दिव्य सृष्टि का तिरोभाव आवश्यक है। अतएव सृष्टि और संहार—ये दोनों ही क्रियाएँ परस्पर अनुस्यूत हो रही हैं और दोनों के ही मूल में लिङ्ग एवं योनि का परस्पर संयोग विद्यमान है।

तन्त्रशास्त्र में जिस मध्यबिन्दुविशिष्ट षट्कोण का वर्णन मिलता है उसे इस ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण के परस्पर संयोग से ही उत्पन्न समझना चाहिये। मध्यबिन्दु दोनों त्रिकोण के लिये ही समान है। यह षट्कोण ही शिवशक्ति का मिलित रूप है। हिन्दू, बौद्ध और जैन—सभी सम्प्रदायों के उपासकगण किसी-न-किसी रूप में इसको स्वीकार कर चुके हैं।

देखो, मैंने यहाँ जिस योनि और लिङ्ग की बात कही है, वैदिक साधना में इसी ने यज्ञकुण्ड और यज्ञाग्नि का स्थान प्राप्त किया है। आचार्यों ने अनेकों जगह यह स्पष्ट निर्देश किया है कि कुण्ड ही प्रकृति या योनि है एवं अग्नि ही रुद्र या शिव-ज्योति है। देहतत्त्वविद् योगियों द्वारा वर्णित आधार-चक्र भी यह कुण्ड या योनिस्वरूप ही है। तन्मध्यस्थ ज्योति जब प्रकाशित होकर ब्रह्म-मार्ग पर सञ्चार करती है, तब उसी को 'लिङ्ग' कहते हैं।

जिज्ञासु—लिङ्ग कितने प्रकार के हैं और योनि कितने प्रकार की है? एवं उनके मौलिक भेद क्या-क्या हैं।

वक्ता—लिङ्ग एक होते हुए भी योनि या आधारभेद से असंख्य रूपों में आविष्कृत होता है। स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग, इतरलिङ्ग प्रभृति सारे भेद केवल एक ही लिङ्ग के विभिन्न प्रकार के विकास हैं। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि मूल योनि भी एक ही है, पर लिङ्ग की विचित्रता के कारण वह भी खण्ड-खण्ड योनियों के रूप में आविर्भूत होती है। शास्त्रों में चौरासी लाख योनियों का जो वर्णन तुमने पढ़ा है, उसका यही एकमात्र कारण है। अतएव एक दृष्टि से लिङ्ग भी एक है और योनि भी एक ही है, परन्तु दूसरी दृष्टि से देखने पर दोनों ही का वैचित्र्य अनन्त प्रकार का है। जीव-देह में जिन मूलाधारादि षट्संख्यक आधार-कमलों का वर्णन आता है, वह भी वस्तुतः योनि का ही प्रकार-भेदमात्र है। सर्वत्र ही बिन्दुरूप में लिङ्ग अनुस्यूत है। इसकी अतीत अवस्था में बिन्दु निराधार होकर अव्यक्त हो जाता है, लिङ्ग का अलिङ्ग में पर्यवसान हो जाता है एवं द्वैतभाव शान्त होकर अद्वैतभाव आविर्भूत हो जाता है। उस समय लिङ्ग और योनि में किसी प्रकार के पार्थक्य का अनुभव नहीं किया जा सकता। यही निरालम्ब या निर्विकार अवस्था है। वेदान्त-सूत्रकार ने कहा—'योनेः शरीरम्'। यह बिल्कुल सच है, क्योंकि लिङ्ग-ज्योति योनि में प्रविष्ट होकर यदि पुनरुत्थित न हो तो किसी प्रकार देह का निर्माण-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हम जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सहयोग से दर्शन-श्रवणादि भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन करते हैं, यह भी सृष्टि-कार्य का ही एक अङ्ग है। अतः इसके मूल में भी लिङ्ग-योनि का सम्बन्ध वर्तमान है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसलिये जगत् के स्वरूप का भली-भाँति विश्लेषण करने पर यह लिङ्ग और योनितत्त्व क्षुद्रतम परमाणु के गठन से लेकर बृहत्तम ब्रह्माण्ड के संस्थान तक सर्वत्र दिखलायी पड़ेगा। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये तीन प्रकार के शब्द ही त्रिकोण की तीन रेखाओं के रूप में कल्पित हैं। इन्हीं का दूसरा नाम इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है, अथवा निम्नस्तर में सत्त्व, रज और तम है। मध्यस्थ बिन्दु परा-वाक् या शब्द की तुरीय अवस्था का निदर्शन है। अतः बिन्दु-युक्त-त्रिकोण मायासहित ईश्वर अथवा शक्ति-युक्त शिव का ही नामान्तर है। यही सम्मिलित रूप से चतुर्विध वाक्-तत्त्व की समष्टि है अर्थात् शब्द-ब्रह्मस्वरूप है। इस पर यथार्थ अधिकार होने से शब्दातीत, वेद के अगोचर, अप्रमेय, निष्कल और निरञ्जन, तत्त्वातीत सत्ता का साक्षात्कार होता है। जिसको ॐकार या प्रणव कहा जाता है, वह अर्द्धमात्रायुक्त इस त्रिकोण का ही नामान्तर है। यही योगशास्त्र की कुण्डलिनी या शब्दमातृका है। इस त्रिकोणात्मक योनि की तीनों रेखाएँ जब एक सरल सम रेखा में परिणत होंगी, जब वह रेखा अर्धमात्रा में पर्यवसित हो जायगी और जब अर्धमात्रा बिन्दु में विलीन हो कर अव्यक्त हो जायगी, तब मध्यस्थ बिन्दु आवरण मुक्त होकर बिन्दु भाव से अतीत, सर्वविकल्प-रहित अद्वैत-सत्ता में विलीन हो जायगा।

लिङ्ग-रहस्य के सम्बन्ध में मैंने अभी संक्षेप से तुमको दो-चार बातें बतलायी हैं। इस समय इसकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है, परन्तु यह तुम निश्चय समझो कि गौरी पीठ पर शिवलिङ्ग उपासना में अश्लीलता रत्तीमात्र भी नहीं है।

इसके असली तत्त्व से अनभिज्ञ लोग ही इस प्रकार अश्लीलता की कल्पना कर दिल्लगी उड़ाया करते हैं। मैंने जो कुछ कहा है, उससे लिङ्ग के तत्त्व का बहुत थोड़ा सा विवेचन हुआ है। यह लिङ्गोपासना स्थूल जगत् में किस प्रकार एवं किन-किन प्राकृतिक नियमों से चली, इस विषय की आलोचना यहाँ नहीं की गयी है। लिङ्गोपासना में मृत्तिका सुवर्ण एवं रजतादि धातु प्रभृति उपादानों के भेद में क्या रहस्य है और इसकी अन्यान्य आनुषङ्गिक क्रियाओं का क्या रहस्य है, एवं देव-जगत् में विष्णु प्रभृति देवताओं की अपेक्षा शिव-तत्त्व से इसका अधिकतर घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों है—ये सब बातें इस लेख में नहीं उठायी गयी हैं। लिङ्ग-रहस्य यथार्थरूप से बुद्धिगोचर होने पर ये सब स्थूल विषय और भी सहज ही समझ में आ सकेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

—:०:—

मन्त्रविज्ञान की एक झलक

मन्त्र का स्वरूप क्या है, मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में उसका क्या स्थान है तथा मन्त्र की साधना का तात्पर्य क्या है इत्यादि प्रश्न साधारणतः तत्त्वजिज्ञासु साधकों के हृदय में उठते हैं। इनके साथ प्रासङ्गिक अन्यान्य प्रश्न भी उठते हैं। इस विषय में यदि यथार्थ उत्तर जानना हो तो मन्त्रविज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत अभिज्ञता प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

परमेश्वर सृष्टि के आदि में अपनी बहिरङ्ग शक्ति महामाया अथवा बिन्दु पर दृष्टिपात करते हैं। यह दृष्टिपात ही उसमें चैतन्यशक्ति का संचार है। दृष्टिपात से पहले महामाया सुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। विशुद्ध जड़-शक्ति का नाम महामाया है। जो अणुरूपी जीव पहले कल्प में साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदि से अशुद्ध जड़शक्ति का उल्लंघन करने में समर्थ हुए, किन्तु परमेश्वर के स्वीय स्वरूप में पहुँच नहीं सके, वे महामाया के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। उन सब जीवों की अवस्था सुषुप्ति के तुल्य है, इसमें सन्देह नहीं। माया से मुक्त होने के कारण उन सब जीवों के जैसे अशुद्ध मायिक शरीर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर नहीं रहते, वैसे ही कोई उन्नतर विशुद्ध शरीर भी नहीं रहता। वे माया से ऊपर महामाया के गर्भ में लीन रहते हैं। माया के गर्भ में स्थिति जैसी है, महामाया के गर्भ में स्थिति भी बहुत कुछ अंशों में वैसी ही है—दोनों में केवल आवरण का भेद है। अप्राकृत दिव्य-अवस्था अथवा भागवत-अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्य के विकास के बिना उसका आविर्भाव नहीं होता। वह पशुत्व से परे की अवस्था है। माया की निद्रा और महामाया की निद्रा—इन दोनों में पशुभाव रहता है। जब तक पशुत्व रहे तब तक यथार्थ जागरण होना सम्भव नहीं है।

महामाया के विश्राम-काल में उसके गर्भ में स्थित जीव सुषुप्त रहते हैं। उनके जीवत्व का हेतु पशुत्व है। चैतन्य का जब तक उन्मेष नहीं होता तब तक वह तिरोहित नहीं होता। उन सब विदेह कैवल्य-प्राप्त अशुद्ध जीवों को भगवत्ता की प्राप्ति में दो बाधाएँ हैं। एक है आत्मा का स्वरूपगत अणुत्व अथवा पशुत्व। वह है अभिन्न ज्ञान क्रियारूप चैतन्य के स्वरूप का आच्छादन। और दूसरा है महामाया का सम्बन्ध। इन दोनों आवरणों के हट जाने पर शुद्ध भगवत्ता की अभिव्यक्ति का मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टि के प्रारम्भ में महामाया में चैतन्य शक्ति का आधान होता है, तब उस शक्ति की क्रिया से महामाया विक्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती है एवं उसमें सुप्तवत् स्थित अणुरूपी जीव जाग उठते हैं। निद्राकाल में वे सब विदेह अवस्था में महामाया में लीन रहते हैं, किन्तु ज्योंही महामाया विक्षुब्ध होती है त्योंही उनकी

नींद टूट जाती है। देहसम्बन्ध के बिना कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। इसलिए महामाया में क्षोभ होने से क्षुब्ध महामाया से उन सब अणुओं के आवश्यकतानुसार शरीर आदि उत्पन्न और विकसित होते हैं। इसलिए जब वे जाग उठते हैं तब फिर उनमें कोई भी विदेह नहीं रहते। वे सब महामाया से उत्पन्न देहों को लेकर ही प्रकाश में आते हैं।

महामाया में चैतन्य शक्ति का आवेश और उन सब अणुओं में चैतन्य शक्ति का संचार एक ही बात है, क्योंकि अणु सुप्तावस्था में महामाया के साथ अभिन्न होकर ही उसमें रहते हैं।

महामाया के गर्भ में असंख्य अणु रहते हैं। महाप्रलयावस्था में वे सभी समान रूप से लीन रहने पर भी चैतन्य शक्ति के पड़ने पर सब समान रूप से प्रबुद्ध नहीं होते और हो भी नहीं सकते। किसी-किसी अणु का जागरण होता है, सबका नहीं। यद्यपि सभी अणु मल-युक्त हैं एवं चैतन्य अथवा भगवदनुग्रह की आवश्यकता यद्यपि सभी को समान रूप से है तथापि मल की परिपक्वता सबकी एक-सी नहीं है। जिनका मल जितना अधिक परिपक्व होता है उनका मल उतनी अधिक मात्रा में चैतन्य शक्ति की ओर उन्मुख होता है। मल ने अनादि काल से आत्मा को अणु रूप में परिणत कर रक्खा है। अणुत्व ही पशुत्व है—वह आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म शिवत्व अथवा पूर्ण चैतन्य है। वह ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का अभिन्न और अपरिच्छिन्न स्वरूप है। मल अनादि होने पर भी आगन्तुक है। उसके द्वारा वह स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस समय शिव-रूपी आत्मा जीव या पशुरूप में परिणत होता है। यह मल काल की शक्ति से निरन्तर परिपक्व होता रहता है। सृष्टि-काल में परिपाक के अन्य उपाय न हों, सो बात नहीं है। पर प्रलय-काल में वे उपाय काम नहीं देते हैं। परिपक्वता की ऐसी एक नियत मात्रा है जिसके प्राप्त होने पर वे सब अणु अपने आप ही चैतन्य शक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। आकाश स्थित सूर्य की किरणें समुद्र के ऊपर पड़ती हैं और कुछ दूर समुद्रतल में भी पड़ती हैं। उनके समुद्र के अन्दर पड़ने की एक सीमा है, किन्तु जो जीव बहुत नीचे हैं, उन किरणों की सीमा तक पहुँच नहीं सकते; वे आपाततः उन किरणों की क्रिया से वञ्चित रहते हैं। दूसरे पक्ष में जिन्हें उन किरणों का स्पर्श प्राप्त होता है वे उनके प्रभाव से जाग उठते हैं और अपने मल के पाक की मात्रा के अनुसार विशुद्ध शरीर प्राप्त कर शुद्ध जगत् में विचरण करते है। अतएव अपेक्षाकृत अपक्वमल जीवों की सुषुप्ति की निवृत्ति नहीं होती है। साधारणतः दूसरे कल्प में उसकी भी निवृत्ति होने की सम्भावना रहती है।

यहाँ पर हमने परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति की क्रीड़ा के दृष्टिकोण का उल्लेख नहीं किया, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्वातन्त्र्य शक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो मल की परिपक्वता के ऊपर चैतन्य शक्ति का सञ्चार निर्भर है, इस बात को सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से सत्य मानना संभव नहीं है। यहाँ पर साधारण नीति

का ही अनुसरण किया गया है। जिन जीवों का आलोक से स्पर्श होता है, यह कहा गया है, वे सब के सब पुराने जीव हैं। वे पहले संसार में पड़े थे एवं प्रत्यावर्तन द्वारा मायापर्यन्त तत्त्व का भेद कर, देह से विमुक्त होकर महामाया में 'केवली' के रूप से विलीन हुए हैं। इनके मायाराज्य का यद्यपि भेद हो चुका है तथापि पूर्ण रूप से इनका वासना से छुटकारा नहीं हुआ, क्योंकि मायातीत वासना अब भी रह गई है। मायिक वासना का विनाश करने के लिए मायिक देह ग्रहण कर मायिक जगत् में कर्म करना पड़ता है। देहग्रहण किये बिना वासना का क्षय नहीं होता। मायातीत वासना का यदि क्षय करना हो तो उसके अनुकूल शरीर धारण कर वैसा कर्म करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन है, किन्तु मायातीत वासना विशुद्ध है। कर्तृत्व के अभिमान से मायिक जगत् में कर्म होता है एवं भोक्तृत्व के अभिमान से मायिक जगत् में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्मफलभोग, इन दोनों को ही संसार कहते हैं। किन्तु जहाँ मायातीत वासना है, वहाँ कर्म के मूल में भी ठीक-ठीक अहङ्कार नहीं, एवं भोग के मूल में भी वह नहीं है। इसलिए उसको यथार्थ संसार कहना नहीं बनता। यदि संसार कहें तो उसे शुद्ध संसार कहा जा सकता है। यह मायातीत कर्म ही 'अधिकार' और मायातीत भोग ही वास्तविक भोग या 'संभोग' है। इस अधिकार और भोग से अतीत अवस्था का नाम 'लय' है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि मायातीत वासना विदेह अणु में किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत देह द्वारा ही शान्त होती है। मायिक वासना की पूर्ति मायिक उपादानों से होती है, किन्तु मायातीत वासना की पूर्ति मायिक उपादानों से कैसे होगी? इसलिए जो मायातीत उपादान आवश्यक हैं, उनका नाम महामाया है। जिस समय चैतन्य शक्ति महामाया का स्पर्श करती है, उस समय पूर्वोक्त पक्व मलवाले सब जीव जाग उठते हैं एवं विक्षुब्ध महामाया से निर्मित देह में अधिष्ठित होकर अपने-अपने कार्य के साधन में प्रवृत्त होते हैं। महामाया का नामान्तर कुण्डलिनी शक्ति हैं। पूर्वोक्त पक्व मलवाले सब जीवों के देहादि कुण्डलिनी से बने होते हैं। वे जीव उस समय जीव नहीं कहलाते है। वे लोग जीव होकर भी ईश्वरीय शक्ति से संपन्न होते हैं।

परमेश्वर की कृपादृष्टि-रूप चैतन्य शक्ति के संचार की बात पहले कही जा चुकी है। वह वस्तुतः चित्-शक्ति का ही क्रियाशक्ति के रूप में उन्मेष है। चित्-शक्ति की सक्रिय और निष्क्रिय दो अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः दो अवस्थाएँ न होने पर भी कार्यगत भेद के कारण कृत्रिमरूप से दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। निष्क्रिय अवस्था में क्रिया के अभाव से शक्ति का संचार नहीं होता, अतएव यह शक्तिसंचार वास्तव में चित्-शक्तिमयी क्रियाशक्ति का व्यापार है। इसी का दूसरा नाम दीक्षा है। स्वयं परमेश्वर ही क्रियाशक्ति के प्रवर्तक के रूप में चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्ववर्णित परिपक्व मलवाले जीव सृष्टि के आरम्भ में उक्त दीक्षा पाकर महामाया से उत्पन्न विशुद्ध शरीर प्राप्त करने पर परमेश्वर के आदिम शिष्य के रूप से शुद्ध जगत् या महामायिक जगत् में स्थित होते हैं। हम लोगों का जिस मायिक जगत् से परिचय है, उसके सृष्टि, स्थिति

आदि सब व्यापारों का चरम भार उन्हीं के ऊपर सौंपा गया है। वे जीव होकर भी ईश्वरतुल्य हैं, किन्तु नित्य सिद्ध परमेश्वर से न्यून हैं; क्योंकि उनमें शुद्ध वासना है, परमेश्वर में वासना नहीं है। समष्टिरूप से सम्पूर्ण जगत् के कल्याण की कामना ही शुद्धवासना का स्वरूप है। ऊपरी दृष्टि से किसी के मन में ऐसा विचार आ सकता है कि विशुद्ध वासना के अतीत हो सकने पर ही विशुद्ध भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, किन्तु वास्तव में वैसी बात है नहीं। वह विशुद्ध कैवल्यावस्था है, भगवदवस्था नहीं है।

सृष्टि के पहले परमेश्वर की चैतन्यमयी शक्ति पाकर जो जीव विशुद्ध देह प्राप्त करते हैं, वे सभी एक से नहीं होते। उनमें भी अवान्तर भेद रहता है। एक प्रकार से सभी को एक स्तर का अवश्य कह सकते हैं, क्योंकि सभी में चित्शक्ति का उन्मेष हुआ है। सभी शुद्ध विद्या पाकर शुद्ध राज्य के निवासी हुए हैं एवं न्यूनाधिक मात्रा में होने पर भी सभी में क्रियाशक्ति जाग्रत् है। किन्तु क्रियाशक्ति के विकास में कमी-वेशी होने कारण उनमें तारतम्य दीखता है। वास्तव में शुद्ध जगत् के चेतनवर्ग में जो विषमता दिखाई देती है, उसका कारण क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति की कमी-वेशी ही है। यह कमी-वेशी क्यों होती है, इसका पता लगाने पर ज्ञात हो सकता है कि सब अणुओं का मल समानरूप से परिपक्व नहीं होता, इसीलिए भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वर की क्रियाशक्ति को सब समानरूप से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। मल के जिस परिमाण में परिपक्व हुए बिना चित्-शक्ति का स्पर्श सहन नहीं किया जा सकता, वह शुद्ध राज्य के निवासी सभी के आयत्त या ज्ञात है, यह सत्य है; किन्तु इस परिपक्वता का तारतम्य है। तदनुसार जिसमें परिपक्वता अधिक होती है उसमें क्रियाशक्ति का आवेश अधिक मात्रा में होता है। मल के परिपक्व हुए बिना क्रियाशक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसलिए जिस अवस्था में मल पक्व नहीं होता, उसमें क्रियाशक्ति का संचार बिलकुल नहीं होता। इसीलिए मलपाक हुए बिना श्रीगुरु कदापि जीव पर अनुग्रह नहीं करते हैं।

पक्व मलवाले अणुओं में जिनका मल सबकी अपेक्षा अधिक परिपक्व होता है, क्रियाशक्ति का आवेश होने पर उनमें कर्तृत्व का उदय होता है। यह शुद्ध कर्तृत्व है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसमें अहंकार का सम्बन्ध नहीं रहता। इनके नीचे बहुत से परिपक्व मलवाले अणु पूर्वोक्त रीति से भगवत्-शक्ति को प्राप्त होते हैं और चैतन्यशक्ति प्राप्त करते हैं। उनमें क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति कर्तृत्वप्राप्त अणुओं की अपेक्षा कम होती है, इसलिए उनमें कर्तृत्व का उन्मेष न होकर करणभाव का उन्मेष होता है। जिन कई जनों में कर्तृत्व का उन्मेष होता है, वे एक प्रकार से सजातीय हैं तथापि उनमें भी एक तरह का न्यूनाधिक भाव रहता है। वैसे ही करण शक्तिमय समष्टि में भी परस्पर में उस प्रकार का न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृभाव को प्राप्त होते हैं, वे ईश्वर-तत्त्व का आश्रय लेकर रहते हैं एवं जो कारणभाव को प्राप्त होते हैं उनका अवलम्बन शुद्ध विद्यातत्त्व है। यह विद्या मायातीत ज्ञानरूप है। जो कोई जन ईश्वरतत्त्व में स्थिति लाभ करते हैं, वे ईश्वर अथवा गुरु हैं। जो विद्यातत्त्व

का अवलम्बन लेकर रहते हैं, वे मन्त्र अथवा देवता हैं। ये सब मन्त्र ईश्वर या गुरु के अधीन हैं। ये गुरु के द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीव का उद्धार करते हैं। ये स्वतः प्रेरित होकर पूर्वोक्त जीवोद्धार कार्य में प्रयत्नशील नहीं हो सकते, क्योंकि ये करण हैं, कर्त्ता नहीं है।

गुरु और देवता दोनों ही शुद्धदेहधारी हैं परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति से दोनों में अपना स्वरूप-ज्ञान जाग उठा है, 'मैं शिव हूँ' ऐसे ज्ञान का उदय दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है। पर गुरु कर्तृभाव लेकर और देवता करणभाव लेकर कार्य करते हैं। इसके अलावा अन्य दृष्टि से भी दोनों में कुछ अन्तर है। यद्यपि परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति दोनों में ही पड़ी है, तथापि व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से तारतम्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता; जो आत्मा तत्त्वभेद के क्रम से ऊर्ध्व-गति होने के कारण माया का अतिक्रम करने में समर्थ हुए हैं, वे मलपाक के कारण भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर देवता के पद पर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम मन्त्र है। आत्मिक विकास इतना हुए बिना वास्तविक देवत्व प्राप्त नहीं होता है। माया के अन्तर्गत देवता की बात हम नहीं कर रहे हैं। मायातीत देवता का एकमात्र शुद्ध ही शरीर रहता है, अशुद्ध शरीर नहीं रहता। किन्तु गुरु-अवस्था दूसरे ढंग की है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है तो चैतन्यशक्ति का अवतरण उसमें अवश्य होता है एवं मलपाक की तीव्रतावश कर्तृभाव का आवेश स्वाभाविक है। ये सब अणु दीक्षा प्राप्त कर आचार्य का अधिकार प्राप्त करते हैं। तत्त्वभेद के क्रम से आत्मिक विकास इनका चाहे जितना भी हो, उतना ही पर्याप्त है। जो जिस तत्त्व में स्थित है गुरुपद पर आरूढ़ होने पर भी उसका मायिक शरीर उसी तत्त्व का रहता है, किन्तु भगवान् के अनुग्रह से जो विशुद्ध देह या बिन्दु देह की प्राप्ति होती है वह गुरुपदवाच्य सभी आत्माओं की एक ही प्रकार की है। माया-तत्त्व का भेद न करने तक प्रत्येक गुरु के दो शरीर रहते हैं। उनमें एक गुरुदत्त शुद्ध शरीर है, जो महामाया या कुण्डलिनी के उपादान से बना है और दूसरा अपना मायिक शरीर है। यह दूसरा शरीर जीव के क्रमविकास की मात्रा के अनुसार किसी न किसी मायिक तत्त्व के आश्रय में रहता है, अर्थात् किसी का मायिक स्थूल शरीर पार्थिव रहता है, किसी का जलीय, किसी का तैजस इत्यादि। देह के विकास का मतलब है देह के उपादानों को निम्नवर्ती तत्त्व से ऊर्ध्व तत्त्व में परिणत करना। कार्य की गति कारण की ओर और कारण की गति उसके स्वकारण की ओर होती है। इस प्रकार पार्थिव शरीर जलीय शरीर में और जलीय शरीर तैजस शरीर में परिणत हो सकता है। यही शरीर का उपादानसम्बन्धी उत्कर्ष है। भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति इस तत्त्वभेदरूपी उत्कर्ष पर निर्भर नहीं है। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रमविकास से होता है। चैतन्यशक्ति का अवतरण एकमात्र मल की परि-पक्वता पर निर्भर है। इसलिए किन्ही को पृथ्वीतत्त्व का भेद न किये बिना भी भगवद-नुग्रह प्राप्त हो जाता है। लेकिन किन्हीं को मायातत्त्व का उल्लंघन करके भी वह प्राप्त नहीं होता है। शक्ति का अवतरण तत्त्वभेद पर निर्भर नहीं करता। किन्तु यह

निश्चित है कि अणु के मायातत्त्व का भेद करने पर भी जब तक मलपाक करणभाव की अभिव्यक्ति का उपयोगी नहीं होता है तब तक उसमें भगवान् की अनुग्रहशक्ति का संचार नहीं होता। उन सब अणुओं को कल्पान्तर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्योंकि देवदेह की रचना सृष्टि के समय नहीं होती, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में होती हैं। यदि मायाभेद न हुआ हो ती कोई प्रश्न ही नहीं होता। क्योंकि जब तक माया-भेद न हो तब तक किसी आत्मा में मलपाक-वश भगवान् की शक्ति का लाभ होने पर भी देवत्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। मायाभेद के बाद जो आत्मा मलपाक-वश भगवदनुग्रह प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करते हैं, उन पर कल्पान्तर में शक्ति का अवतरण होता है। उस कल्प में वे सब आत्मा महामाया में लीन रहते हैं।

इसलिए यह निश्चित है कि किसी विशेष कल्प का आत्मा समुचित मलपाक होने पर भी उसी कल्प में देवत्व-लाभ नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि मायाभेद हो जाने पर भी वह नहीं हो सकता। उसको महामाया में कल्पान्तर का आरम्भ होने तक विश्राम करना ही पड़ता है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है, गुरु में शक्ति का अवतरण ही प्रधान है; अर्थात् जितना मलपाक होने पर कर्तृत्व का आवेश दीक्षाकाल में होना सम्भव है, वह होगा ही। मायाभेद यदि न किया हो तो भी कोई क्षति नहीं है, यहाँ तक कि यदि किसी निम्नवर्ती तत्त्व में स्थिति हो तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि गुरुत्व की अभिव्यक्ति में जीव की अपने से की गई ऊर्ध्वगति की मात्रा का निर्देश आवश्यक नहीं है। ठीक-ठीक मल पाक होने पर अपने विकास के फलस्वरूप जो जहाँ हैं वहीं भगवदनुग्रह प्राप्त कर शुद्ध शरीर या आचार्य का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पर यदि उनका मायातत्त्व-भेद (अर्थात् महामाया-स्थिति) हुआ रहता है तो उनको नूतन सृष्टि का आरम्भ होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

सभी जगह यह सत्य है कि देवता गुरु के अधीन हैं। देवता स्वभावतः महा-माया के राज्य के निवासी हैं। किन्तु गुरु महामाया के राज्य के निवासी होते हुए भी साथ ही साथ माया-राज्य के निवासी भी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ पर सृष्टि-काल के गुरु की चर्चा की जा रही है, जिनके मायाशरीर और शुद्धशरीर दोनों ही हैं। सृष्टि के अतीत गुरुओं की बात यहाँ नहीं कही जा रही है—वे मायादेह-रहित और विशुद्ध बैन्दवदेहसम्पन्न हैं।

पूर्वोक्त विवरण से तत्त्वभेद करके जो ऊर्ध्वगति होती है, उसके सम्बन्ध में चर्चा की गई है। इसका यदि थोड़ा स्पष्ट करके विवेचन न किया जाय तो किसी की भी समझ में नहीं आयेगा। इसलिए संक्षेप में दो एक बातें कहता हूँ। सृष्टि से पहले सृष्टि की मूल उपादानभूत एक वस्तु रहती है। स्थूल-दृष्टि से उसकी जड़रूप में गणना की जा सकती है। उसका एक छोर (भीतरी भाग) शुद्ध है और दूसरा छोर (बाहरी भाग) अशुद्ध है। जब तक सृष्टि का उदय नहीं होता तब तक यह भीतर और बाहर का विभाग समझा नहीं जा सकता है और तो और यह अचित्स्वरूप जो मूल उपादान है वह भी ज्ञात नहीं हो सकता। किन्तु जब सृष्टि से पहले परमेश्वर की

दृष्टि शुद्ध अंश के ऊपर पड़ती है तब वह ज्योति के रूप में उज्ज्वल हो प्रकाशमान होता है। शुद्ध के बाहर अशुद्ध अंशरूप छाया या अन्धकार उस ज्योतिःस्वरूप को घेरे रहता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है और बाहर की छाया माया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इन दोनों के बीच में एक ही अचित्-सत्ता रहती है। वह क्षुब्ध होकर विभिन्न स्तरों में तत्त्व-रूप से प्रकट होती है। किन्तु ये सब तत्त्व अचित् के मूल-विभाग नहीं हैं। अचित् के मूल-विभाग पाँच कलाएँ है। इनमें शुद्धांश में दो और अशुद्ध अंश में तीन कलाएँ स्थित हैं। प्रत्येक कला अवान्तर विभाग से तत्त्च के रूप में अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्य में पाँच तत्त्व हैं एवं माया अथवा छाया के राज्य में एकतीस तत्त्व अभिव्यक्त हैं। पांच कला ही एक के बाद एक अधिकतर बहिर्मुख है। वैसे ही उनसे अभिव्यक्त हुए तत्त्व भी इन्हीं के तुल्य एक के बाद एक अधिक बहिर्मुख हैं। जहाँ बहिर्मुखता की पराकाष्ठा है, उसका नाम पृथिवी है। वैसे ही अन्तर्मुखता की चरम सीमा जहाँ है, उसका नाम शिव या महामाया है। वस्तुतः यही कुण्डलिनीस्वरूप है। ये शिव शिव के नाम से परिचित होने पर भी वास्तविक रूप से विशुद्ध जड़ वस्तु हैं। इसी का नाम आदि तत्त्व या बिन्दु है। तत्त्वातीत शिव या परमेश्वर इससे अतिरिक्त हैं।

ये तत्त्व विभिन्न स्तरों में सिलसिलेवार व्यवस्थापित हैं। विश्व में सभी जगह तत्त्वों का यह क्रमविन्यास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक तत्त्व से कतिपय भुवनों का आविर्भाव होता है। तत्त्वों के समान ये भुवन गुण, किया, शक्ति आदि के विकास के तारतम्य के अनुसार नीचे-ऊपर परस्पर श्रृङ्खला-बद्ध रहते हैं। सबसे ऊपर की भूमि से सबसे निम्नतम भूमि तक इन सब भुवनों की समष्टि को जीव विश्व के नाम से जानते हैं। जीव अपने-अपने अधिकार और योग्यता के अनुसार प्रत्येक स्तर में विद्यमान हैं। जीव सृष्टिकाल में अर्थात् विश्व में स्थिति के समय देहयुक्त होकर ही विद्यमान रहते हैं। किन्तु प्रलयावस्था में जीव का शरीर नहीं रहता। उस समय जीव माया में साक्षात् अथवा परम्परा से लीन होकर सुषुप्त के तुल्य रहते हैं। अथवा यदि किसी कौशल से मायाभेद हो गया हो तो ऐसी स्थिति में महामाया में सुषुप्त के तुल्य लीन रहते हैं। माया में जो तीस तत्त्व हैं उनमें प्रत्येक का या माया का आश्रय कर के जीव हैं या रह भी सकते हैं। उन सब तत्त्वों में जन्य-जनक-भाव अथवा निम्न-उच्च का विभाग है, यह पहले ही कह चुके हैं। उसके अनुसार तत्त्व में रहनेवाले जीव भी विभिन्न श्रेणियों के होते हैं। किन्तु यह श्रेणीविभाग तत्त्वों के आपेक्षिक उत्कर्ष के कारण है। उससे जीव के अपने उत्कर्ष का परिचय नहीं मिलता है। प्रलय जड़ की क्रिया की अपेक्षा रखता है, वह जीव की साधना के अधीन नहीं हैं। जब उपादान में बहिर्मुख प्रेरणा होती है तब सृष्टि की ओर प्रवृत्ति होती है। और जब उपादान में संकोच भाव उत्पन्न होता है तब उस प्रवृत्ति की निवृत्ति होकर केन्द्र की ओर आकर्षण बढ़ जाता है एवं चरम अवस्था में मूल उपादान के रूप से केन्द्र में स्थिति होती है।

अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार जो जीव इस मूल उपादान का अतिक्रमण कर शुद्ध विद्या के नीचे स्थित होते हैं, उनमें मलपाक के न्यूनाधिक्य से कोई-कोई

नवीन सृष्टि में देव-रूप में आविर्भूत होते हैं। इनका शरीर बैन्दव होता है। अवतरण की ओर से भी एक प्रकार के देवभाव का आविर्भाव होता है। वे स्वभावतः ही मायातीत हैं, इसीलिए वे शुद्ध होने पर भी क्रमविकास के नियम के अधीन नहीं हैं। ये लोग एक प्रकार से अव्यक्त भावापन्न हैं। दोनों ही मायातीत भूमि की बातें हैं।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। उनका रहस्य यदि समझ में आ जाय तो शास्त्र में प्रतिपादित आजान देवता, कर्म देवता आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के देवताओं का तत्त्व समझ में आ जायगा।

——

राम-नाम की महिमा

श्रीभगवान् के रूप, लीला और गुणों की भाँति ही उनका नाम भी अप्राकृत और चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्ति सम्पन्न है। नाम के प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष और भगवत्प्रेमतक की प्राप्ति हो सकती है। नामाभास को छोड़कर गुरुप्रदत्त शक्ति से सम्पन्न नाम का यदि विधिपूर्वक अभ्यास किया जाय तो उससे जीव के सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। नाम के जाग्रत् होने पर उसके प्रभाव से सद्गुरु की प्राप्ति और तदनन्तर सद्गुरु से इष्ट मन्त्र-रूपी विशुद्ध बीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के क्रम-विकास से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और देह एवं मन की सारी मलिनता दूर होकर सिद्धावस्था का उदय हो जाता है। मन्त्रसिद्धि वस्तुतः भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि के फलस्वरूप होती है। इस अवस्था में स्व-भाव की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये समस्त अभावों की निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था सिद्धावस्था के अन्तर्गत मानी जाती है; परन्तु यही भगवद्भजन की प्रारम्भिक अवस्था है। माता के गर्भ से उत्पन्न मलिन देह से यथार्थ भगवद्भजन नहीं होता। इसलिये और राजमार्ग के भगवद्भजनकी सुलभता के लिये मायिक अशुद्ध देह के उच्चस्तर पर भाव-देहकी अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। भाव-देह में जो भजन होता है, वह स्वभाव का भजन होता है, वह विधि-मार्ग की नियमबद्ध उपासना नहीं है। मन्त्र-चैतन्य के बाद, विधिमार्ग की कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

भक्त के भाव देह के विकास के साथ-साथ उसकी भावरञ्जित दृष्टि के सम्मुख इष्ट देवता का ज्योतिर्मय धाम अपने आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। इसके पश्चात् भजन के प्रभाव से भाव-रूपा भक्ति के प्रेमभक्ति में परिणत होने पर पूर्ववर्णित ज्योतिर्मय धाम में इष्ट-देवता का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रेम की अवस्था है। इसके बाद भक्त और उसके इष्ट की पृथक् सत्ता विगलित होकर दोनों के एकीभूत हो जाने पर रस की अभिव्यक्ति होती है। यही अद्वैत अवस्था है। इसी अवस्था में भक्त के स्थायी भाव के अनुरूप अनन्त प्रकार की नित्य लीलाओं का आविर्भाव हुआ करता है। यही भक्ति-साधना की सिद्धावस्था है।

श्रीभगवान् का नाम इस प्रकार रस के स्वरूप में अपने को प्रकट करता है। इसी का नाम साधना का साधारण तत्त्व है।

श्रीरामनाम श्रीभगवान् का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रों ने इसी को 'तारक-ब्रह्म' कहा है। यह प्रणव से अभिन्न है, इस बात को भी ऋषि-मुनियों ने बार-बार बतलाया है। कहा जाता है कि परम भागवत श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी को देह-त्याग के कुछ दिनों पूर्व अलौकिक भाव से श्रीमन्महावीरजी ने रामनाम का रहस्य बतलाया था। उन्होंने कहा कि विश्लेषण करने पर रामनाम

में पाँच अवयव या कलाओं की प्राप्ति होती है। इनमें प्रथम का नाम 'तारक' है और पिछले चारों नाम क्रमशः—'दण्डक', 'कुण्डल', 'अर्धचन्द्र' और 'बिन्दु' हैं। मनुष्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह को लेकर इस मायिक जगत् में विचरण करता रहता है। जब तक माया का भेद नहीं होता, तब तक महाकारण देह की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक को गुरूपदिष्ट क्रम के अनुसार स्थूल देह के समस्त तत्त्वों को नाम के प्रथम अवयव 'तारक' में लीन करना पड़ता है। स्थूल देह एवं अन्यान्य तीनों देह पाञ्चभौतिक हैं। स्थूल में अस्थि, त्वक् आदि पाँच पृथ्वी के; भेद, रक्त, रेतः आदि पाँच जल के; क्षुधा, तृष्णा आदि पाँच तेज के; दौड़ना, चलना आदि पाँच वायु के और काम, क्रोध, लोभ आदि पाँच आकाश के कार्य हैं। अन्य तीनों देहों में भी इसी प्रकार पञ्चभूतों के अंश हैं। प्रत्येक तत्त्व की पाँच प्रकृति होती है। इसी से स्थूल देह में पाँच तत्त्वों की पच्चीस प्रकृति हैं। इसी प्रकार अन्य तीनों देहों में पच्चीस प्रकृति हैं।

साधना के प्रभाव से स्थूल देह के पाँचों तत्त्व जब तारक में लीन हो जाते है, तब सूक्ष्म देह के पाँचों तत्त्वों को नाम के दूसरे अवयव 'दण्डक' में लीन करना पड़ता है। इधर पूर्वोक्त तारक भी स्थूल तत्त्वों को अपने अन्दर लेकर 'दण्डक' में लीन हो जाता है। इसके बाद कारणदेह के तत्त्व नाम के तीसरे अवयव 'कुण्डल' में लीन हो जाते हैं। साथ ही दण्डक भी कुण्डल में लीन हो जाता है। कारणदेह की निवृत्ति के पश्चात् शुद्ध सत्त्वमय महाकारण-देह को नाम के चतुर्थ अवयव 'अर्धचन्द्र' में लीन करना पड़ता है। महाकारण-देह तक जड़ का ही खेल समझना चाहिये। हाँ, महाकारण-देह जड़ होने पर भी शुद्ध है; परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण जड़ अशुद्ध हैं। महाकारण-देह के अर्धचन्द्र में लीन हो जाने के बाद 'कैवल्य' देहमात्र बच रहता है। यह विशुद्ध चित्स्वरूप ओर जड़ सम्बन्ध से रहित है। अर्धचन्द्र के बाद का नाम का पाँचवाँ अवयव या कला बिन्दुरूप से प्रसिद्ध है। बिन्दु पराशक्ति श्रीजानकीजी का स्वरूप है। बिन्दुरूपा श्रीजानकीजी का आश्रय लिये बिना कलातीत श्रीराघव का सन्धान नहीं मिल सकता। बिन्दु के अतीत रेफ ही परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। बिन्दुरूपिणी सीताजी और रेफरूपी श्रीरामचन्द्रजी में दृढ़ अनुराग जब अचल हो जाता है, तब भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। और तभी सिद्ध पञ्चरसों का आस्वादन हो सकता है, इससे पहले नहीं। शान्तरस के रसिक प्रह्लादादि, दास्य के हनुमान् आदि, सख्य के सुग्रीव-विभीषणादि, वात्सल्य के दशरथ आदि और शृङ्गार-रस के मूर्तस्वरूप जनकपुर की युवतियाँ—विशेषतः श्रीजानकीजी स्वयं हैं।

कैवल्य-देह में चित्तत्त्व का स्फुरण वर्तमान है। उसके बाद तत्त्वातीत ब्रह्म वस्तु है, जो शक्तिरूप में श्रीजानकीजी के नाम से और शक्ति के आश्रयरूप से श्रीराम के नाम से भक्तों के लिये सुपरिचित हैं। महावीर जी ने जो उपदेश दिया है, उसका तात्पर्य यही है कि बिन्दु का आश्रय लिये बिना निष्कल परब्रह्म की ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। वैसे प्रयत्न से बड़े अनर्थ की सम्भावना है।

तुलसी मेटैं रूप निज बिंदु सीय को रूप।
देखि लखै सीता हिय राघव रेफ अनूप॥
तुलसी जो तजि सीय को बिंदु रेफ में चाहु।
तौ कुंभी महँ कल्प शत जाहु जाहु पर जाहु॥

अतएव जो रामनाम के रसिक हैं, वे अर्धचन्द्रबिन्दु और रेफ को एक कर डालते हैं; पृथक् नहीं होने देते। और इस एक में ही उनके आस्वादन के लिए अचिन्त्य विचित्र लीलाएँ प्रस्फुटित हो उठती हैं।

—

जीवन का लक्ष्य

मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है ? जीवात्मा अनादि काल से प्रकृति के प्रवाह में सिवार के समान अणुरूप में नानाविध शरीर धारण करते हुए काल की गति से बह रहा है। न जाने किस जगह पहुँचने पर इस अविरत प्रवाह से छुटकारा प्राप्त होगा एवं सागर-संगम में पहुँचकर जैसे नदी कृतार्थ होती है वैसे ही मनुष्य की आत्मा अपनी परम काम्य वस्तु को प्राप्त कर चिरकाल के लिए शान्ति प्राप्त करेगी। नाना सम्प्रदायों में विविध भावों द्वारा इस लक्ष्य के निर्धारण के लिए प्रयत्न हुए हैं एवं इन प्रयत्नों द्वारा दार्शनिक साहित्य में विविध प्रकार के मतवादों की सृष्टि हुई है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि इन सभी सिद्धान्तों में कोई भी सिद्धान्त भ्रान्त नहीं है, तो भी यह सत्य है कि चरम सिद्धान्त कभी भी एक के सिवा दो नहीं होते।

जब तक ज्ञान-प्राप्ति न हो तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती एवं अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना भ्रम का निरास भी नहीं होता। किन्तु इस ज्ञान-प्राप्ति के प्रसङ्ग में ज्ञानों के भेद भी जान लेने आवश्यक हैं। जो ज्ञान बुद्धि का धर्म है उससे हम लोगों का थोड़ा बहुत आंशिक रूप में परिचय है। उसी ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि के धर्म अज्ञान की निवृत्ति होती है। किन्तु उस अज्ञान के निवृत्त होने पर भी मूल में ऐसा एक अज्ञान रह जाता है जिसके निवृत्त हुए बिना जीवन का यथार्थ कल्याण आविर्भूत नहीं हो सकता। आकाश में बादल रहने पर बादलों के मध्य में स्थित सूर्यबिम्ब दिखाई नहीं देता। सूर्य का उदय होने के बाद आकाश के मेघावृत रहने पर मेघ के हटने के साथ ही साथ सूर्य का दर्शन होता है एवं उसकी किरण और धूप की भी प्राप्ति होती है। किन्तु अर्धरात्रि में जब कि आकाश में सूर्य का प्रकाश नहीं रहता, तब आकाश में बादलों के रहने पर एवं उन बादलों के हटने पर सूर्यबिम्ब दृष्टिगोचर होगा, यह कहना संभव नहीं। ठीक उसी प्रकार बौद्ध ज्ञान के द्वारा बौद्ध अज्ञान के मिट जाने पर भी हृदय में अन्धकार रहता ही है, यदि उसके पहले हृदय से मूल अज्ञान की निवृत्ति न हुई हो। इसलिए आगमवेत्ता योगीजन कहते हैं कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति का उतना मूल्य नहीं है जितना कि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति का; अर्थात् जब तक पुरुष के स्वरूपगत अज्ञान की निवृत्ति न हो जाय तब तक वास्तव में बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा के प्राक्तन (पूर्व जन्मों के) कर्मों से देहग्रहण करने पर उस देह का अवलम्बन कर उसमें एक कृत्रिम अहं-प्रतीति का उदय होता है। इस अहं-प्रतीति का आधार है बुद्धि। उस बुद्धि में जो अज्ञान धर्मरूप से भासता है वही बौद्ध अज्ञान है एवं उसमें जो ज्ञान का उदय होता है वही बौद्ध ज्ञान है। किन्तु इसका मूल्य कितना है ? जिस अज्ञान के अभाव से आत्मा माया के अधीन होकर देहग्रहण करने के लिए बाध्य होता है उस अज्ञान की निवृत्ति न होने तक आत्मा का नैसर्गिक

शिवत्व-रूप धर्म अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उस मूल अज्ञान को पौरुष अज्ञान कह जा सकता है। इस अज्ञान की निवृत्ति के लिए जो अत्यन्त आवश्यक उपाय है, वह कर्म नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, यहाँ तक कि भक्ति भी नहीं है। इन सबकी उपायरूप में गणना होने पर भी ये बुद्धि के व्यापार हैं। बुद्धि के पहले जो हो चुका है उसे दूर करने की क्षमता इनमें से किसी में भी नहीं है। इसलिए जब तक मनुष्य के आत्मा से वह मूल अज्ञान न हट जाय तब तक मनुष्य जीवन का परम आदर्श कदापि साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। वह मूल अज्ञान आत्मा द्वारा स्वेच्छा से गृहीत आत्मसंकोच के सिवा और कुछ नहीं है। वास्तव में शिवरूपी आत्मा सब प्रकारों से संकोचरहित है—उसमें काल का संकोच न होने से वह नित्य है, देश का संकोच न होने से वह विमुख है, क्रिया का संकोच न होने से वह सर्वकर्ता है, ज्ञान का संकोच न होने से वह सर्वज्ञ है एवं आनन्द का संकोच न होने से वह नित्य-तृप्त है। यही आत्मा का शिवत्व है। किन्तु जब लीला के बहाने स्वेच्छा से आत्मा अपने को सङ्कुचित करते हैं और अभिनय के लिए जीवभाव ग्रहण करते हैं, तब उनके स्वाभाविक सभी धर्म सङ्कुचित होने को बाध्य होते हैं। तब यह परिच्छिन्न शक्तिवाले क्षुद्र आत्मा माया के अधीन होकर कर्ता का स्वांग धारण करते हैं अर्थात् कर्म जगत् में प्रवेश करते हैं एवं कर्म करना और किये हुए कर्मों का फलभोग करना, इन दो व्यापारों में लिप्त होकर एक योनि से दूसरी योनि में भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करते हैं और त्याग करते हैं। उनके संसारचक्र में परिभ्रमण का यही संक्षिप्त इतिहास है। देहसम्पन्न आत्मा की अभिमान सामग्रियों में बुद्धि एक प्रधान अङ्ग है। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उसके धर्म हैं। बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान नष्ट हो जाता है, यह सत्य है, किन्तु यह तो बहुत नीचे की बात है। इससे मूल अज्ञान के विनष्ट होने की कोई संभावना नहीं है।

इसलिए सबसे पहले जिससे मूल अज्ञान मिट जाय, उसी पर विचार करना चाहिये। पहले ही मैं कह चुका हूँ कि इस अज्ञान को मिटाने के मार्ग में कर्म, ज्ञान या भक्ति किसी की भी वैसी उपयोगिता नहीं है, क्योंकि ये सब मूल का स्पर्श ही नहीं करते। एकमात्र भगवान् की कृपा-शक्ति के द्वारा ही इस मूल अज्ञान की निवृत्ति हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं। भगवत्कृपा स्वभावसिद्ध है एवं वह अहैतुक होने पर भी आधार की योग्यता के अनुसार उसमें कार्यक्षम रूप में प्रतिबिम्बित होती है। कृपा नित्य होने पर भी जब तक जीवात्मा का मूल आवरणरूप मल परिपक्व नहीं हो जाता तब तक कृपा उसमें संचारित नहीं हो सकती। किन्तु मलपरिपक्व होने पर मलपाक के तारतम्य के अनुसार सञ्चारता हुए बिना नहीं रहती। जिसे लौकिक जगत् में दीक्षा कहते हैं, वह उसी का फल है। यह दीक्षा स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी हो सकती है, किन्तु यह है अत्यन्त आवश्यक। इसके न होने तक साधना का असर उतना अधिक नहीं होता जितना कि होना चाहिये। क्योंकि साधना बुद्धि का व्यापार है। साधना अथवा उपासना आदि से बौद्ध ज्ञान का उदय होता है और बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होती है। तब उस मुक्त हृदय में गुरु-कृपा का अर्थात् परमेश्वर के अनुग्रह का फल प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। इस अनुभव का रूप है अपने को शिवरूप में

जानना। यह अनुभव अमूलक नहीं है, क्योंकि शिवत्व के आवरण-रूपी मल की निवृत्ति होने के साथ ही साथ जिस स्वरूप का प्रकाश होता है बौद्धज्ञानजनित बौद्ध-अज्ञान की निवृत्ति के बाद हृदय में प्रकाशित हो उठता है। यही जीवन्मुक्ति की सूचना और और मानव-जीवन की परिपूर्ण सार्थकता है। देहान्त होने पर बुद्धिरूपी घड़े के फूट जाने पर आत्मा शिवरूप में विराजमान होता है, बुद्धि का प्रश्न तब फिर नहीं रहता। यह प्राप्ति किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं है। आत्मा, जो स्वयं शिवरूपी है, विस्मृत हो गया था, विस्मृति के हटने पर स्मृति का पुनः उदय होने से आत्मा शिवरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह उसका परम लाभ है। इसके लाभ के बिना केवल कैवल्य अवस्था में स्थित होकर कर्म के अतीत होने पर भी पशुत्व के निवृत्त न होने से पूर्णत्व-लाभ शेष रह जाता है। कालान्तर में उस मल को हटाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जब तक वह मल नहीं हटाया जाता तब तक आत्मा का अपना स्वरूपभूत शिवत्व अप्राप्त ही रह जाता है।



मनुष्यत्व

प्राचीन हिन्दूशास्त्र में—केवल हिन्दूशास्त्र में ही नहो, अन्यान्य देशों के धर्म-शास्त्रों में भी इतर प्राणियों के जीव-देह की अपेक्षा मानव-देह को अधिक उत्कृष्ट माना गया है। भगवान् श्रीशंकराचार्य ने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष-संश्रय—इन तीनों को अति दुर्लभ पदार्थ के रूप में वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तीनों में भी मनुष्यत्व ही प्रधान है; क्योंकि मनुष्य-देह की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति की इच्छा तथा महापुरुष या सद्‌गुरु का आश्रय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चौरासी लाख योनियों के बाद प्राकृतिक विधान से सौभाग्यवश मनुष्य-देह की प्राप्ति होती है। चौरासी लाख योनियों में स्थावर-जङ्गम सबका समावेश है। स्वेदज, उद्भिज और जरायुज—इन त्रिविध प्राणियों में जरायुज श्रेष्ठ हैं तथा जरायुजों में मनुष्य श्रेष्ठ होता है। चौरासी लाख योनियों में जो क्रम-विकास की धारा दीख पड़ती है, वह केवल प्राकृतिक क्रम का अवलम्बन करके काल-राज्य में अभिव्यक्त होती है। इन सब योनियों में ज्ञान और शक्तिगत जो तारतम्य दीख पड़ता है, उसके मूल में कर्मगत वैचित्र्य नहीं है। वह केवल प्राकृतिक व्यापार है। एक ही देह में जैसे क्रमशः बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य का विकास होता है, उसी प्रकार एक ही मूल जीवन-धारा में क्रमशः निम्न कोटि के जीव से आरम्भ करके अधिक-अधिक उत्कृष्ट जीव-जाति की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस आरोहक्रम में प्रकृति का स्वाभाविक विवर्तन ही एकमात्र नियामक होता है। जिस नियम में अव्यक्त सत्ता किसी निर्दिष्ट क्रम के प्रवाह में अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होती है, उसी नियम में आदि-जीव-स्पन्द प्रकृति के सहयोग से क्रमशः आधार के क्रमविकासमूलक अपने क्रमविकास के मार्ग में धीरे-धीरे अग्रसर होता है। एक विचित्र शक्ति प्रकृति में निहित रहती है और विशिष्ट देह में यथासमय इन सभी शक्तियों का विकास होता है।

अन्नमय कोष का विकास पहले होता है। इस विकास से ही असंख्य जीव-योनियों का अतिक्रमण संघटित होता है। क्रमशः अन्नमय कोष में प्राण शक्ति के अधिकाधिक विकास के फलस्वरूप अन्नमय कोष की पुष्टता के साथ-साथ प्राणमय कोष का भी विकास होता जाता है। प्राणमय कोष के विकास के फलस्वरूप क्रमशः अति जटिल प्राणचक्रों की अभिव्यक्ति होती है यह। प्रसिद्ध है कि आत्मसंवित् पहले प्राण में परिणत होकर देह के भीतर व्यापक भाव से क्रिया करती है। यह प्राणशक्ति की क्रिया विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होती है। परन्तु इन समस्त शक्तियों के संचालन के लिये विभिन्न मार्ग आवश्यक हैं। इन सब मार्गों को नाड़ी या शिरा कहते हैं। अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार जैसे प्राणशक्ति के विभिन्न स्तर हैं, उसी प्रकार इन नाड़ियों के भी पृथक्-पृथक् स्तर हैं। नाड़ीचक्र की यह जटिलता

क्रमशः प्राणशक्ति के विकास के साथ-साथ वर्द्धित होती है। पश्चात् ऐसा समय आता है, जब प्राणमय कोष मनोमय कोष में परिणत हो जाता है। इस परिणति के समय देह का आमूल परिवर्तन घटित होता है; क्योंकि उस समय केवल प्राणशक्ति के संचालन के मार्ग के अतिरिक्त मनोमय शक्ति के संचालन का मार्ग भी प्रकाशित होने लगता है। इसको मनोवहा नाड़ी कहते हैं। प्राणवहा नाड़ी जैसे अनेक प्रकार की होती है, उसी प्रकार मनोवहा नाडी तदपेक्षा और भी अधिक वैचित्र्य से युक्त होती है।

मनोमय कोष की अभिव्यक्ति और मनुष्य-देह की अभिव्यक्ति समकाल में सम्पादित होती है। अतएव प्राणमय कोष का पूर्ण विकास और मनोमय कोष का पूर्वाभास लेकर ही चौरासी लाख योनियों की परिसमाप्ति होती है। मनोमय कोष का विकास और मनुष्य-देह का उद्भव एक ही बात है। चौरासी लाख योनियों के अवसान की ओर पशु आदि में मानवोचित वृत्तियों का कुछ पूर्वाभास देखने को मिलता है। ये सारी वृत्तियाँ मानसिक वृत्तियों के रूप में ही प्रतीत होती हैं, परन्तु ये मन के आभास-मात्र हैं। प्रकृत मन उस समय भी अवगत नहीं होता। एकमात्र मनुष्य-देह में ही यथार्थ मनोमय कोष की स्थिति और क्रिया सम्भव है। मनुष्य-देह में विचार और विवेकशक्ति क्रमशः प्रस्फुटित होती है। शुभ और अशुभ सत् और असत्—इन दोनों की विचारपूर्वक विवेचना करने का सामर्थ्य मनुष्य में ही सम्भव है। मानव-देह में मन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अहंमति या अभिमान का उद्भव और विकास घटित होता है। मनुष्य के सिवा अन्य पशु-योनियों में यह अभिमान स्पष्ट रूप से उदित नहीं होता। इस अभिमान से व्यक्तित्व के बोध का सूत्रपात होता है तथा मैं और तुम, इन दोनों भावों के बीच भेदज्ञान का आविर्भाव सम्भव होता है। यह अभिमान क्रियमाण कर्म और उपभुज्यमान फल—दोनों ही ओर समभाव से वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् एक ओर जैसे कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न होकर अपने को कर्त्तारूप में परिचित कराता है, दूसरी ओर उसी प्रकार भोक्तृत्वाभिमान के प्रभाव से अपने को सुख-दुःख के भोक्ता के रूप में परिचित कराता है। कर्म करना और कृतकर्म का फल भोग करना, दोनों के मूल में देह के साथ तादात्म्य-बोध निहित रहता है। यह तादात्म्य-बोध अविवेक के द्वारा उत्पन्न हुआ है और यही एक ओर जैसे कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति का हेतु है, दूसरी ओर उसी प्रकार कर्मफल-भोग का भी हेतु है। यही सांसारिक जीवन का वैशिष्ट्य है।

इससे समझा जा सकता है कि जीव मनुष्य-देह में प्रकट होने के बाद से संसारी बनकर अपने-अपने संस्कार के अनुसार प्रकृति के राज्य में शुभाशुभ कर्म करता रहता है और उसका फल भोग करने के लिये कर्मानुरूप देह ग्रहण करने को बाध्य होकर लोक-लोकान्तर में अनुरूप देहों में जन्म ग्रहण करता रहता है। इसी प्रकार असंख्य जन्म बीत जाते हैं और इस जन्म-परम्परा के भीतर जीव को विभिन्न प्रकार के शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। शुभकर्मों के फलस्वरूप ऊर्ध्वलोक में गति होती है और नाना

प्रकार के देवताओं के शरीर प्राप्त होते हैं। अशुभ कर्मफल से उसी प्रकार अधोलोक में गति होती है तथा पशु आदि निम्न योनियों में पतन हो जाता है। साधारणतः मिश्रकर्म के फल से पुनः मनुष्य देह में ही जीव लौट आता है।

यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि मनुष्य निम्न स्तर के पशु-पक्षी आदि कोई देह ग्रहण करने पर भी उस देह में दीर्घकाल तक नहीं रहता। कर्मफल-भोग के पूर्ण होते ही फिर मनुष्य-देह में लौट आता है। आरोह-क्रम से जो जीव पशु-पक्षी के शरीर में जन्म लेते हैं, उनको मनुष्यदेह में साधारणतया निर्दिष्ट क्रम को भेद करके आना पड़ता है, परन्तु अवरोहक्रम में ऐसा नहीं होता; क्योंकि अवरोहक्रम में जो जन्म होता है, वह केवल कर्मफल-भोग के लिये ही होता है। भोग पूरा हो जाने पर मनुष्यदेह में जीव फिर लौट आता है। आरोहक्रम से कर्मफल-भोग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह पहले ही कहा जा चुका है। जो कर्मवादी नहीं हैं, उनके लिये पशु-पक्षी आदि के देह से पुनः मनुष्य-देह में आना जागतिक अचिन्त्य शक्ति के ऊपर निर्भर करता है और वह कब संघटित होता है, यह कहना बहुत ही कठिन है। इस विषय में अधिक विस्तार इस प्रसङ्ग में अनावश्यक है।

जिस अभाव को लेकर जीव मनुष्यदेह में जन्म लेता है, वह भोग के साथ-साथ भोगाकाङ्क्षा की वृद्धि के फलस्वरूप क्रमशः बढ़ता जाता है। अनेक जन्म बीत जाने पर एक ऐसा समय आता है, जब भोगाकाङ्क्षा क्रमशः शिथिल हो जाती है; क्योंकि जब देखा जाता है कि अनन्त प्रकार की भोग्य वस्तुओं का अनन्त प्रकार से भोग करके भी भोगाकाङ्क्षा शान्त नहीं होती, तब मन में ग्लानि उत्पन्न होती है और अस्फुट रूप में निर्वेद और वैराग्य का भाव जाग्रत् होता रहता है। तब प्रवृत्ति की ओर गति का वेग घटने लगता है तथा चित्त निवृत्तिभाव का आश्रय लेकर क्रमशः अन्तर्मुख होने की इच्छा करता है। किस की यह अवस्था कब होगी, यह बतलाना कठिन है; किन्तु जब भी यह होगी, तभी से उसके अभिनव जीवन का सूत्रपात होगा—यों जानना चाहिये। उस समय जीव को यह आभास होता है कि एक महाशक्ति इस विश्व के भीतर और बाहर कार्य कर रही है। वह प्रकृति है, उसके गुणों के द्वारा जगत् के सारे कार्य हो रहे हैं। जीव इस प्रकृति के जाल में जड़ित होकर अविवेकवश समझता है कि कार्य का कर्ता वही है। जीव का यह कर्तृत्वाभिमान मिथ्याज्ञान का कार्य है। अज्ञ जीव अपनी सामर्थ्य से कोई कर्म नहीं कर सकता, परन्तु प्रकृति के किये हुए कर्म को भ्रमवश अपना कर्म समझने लगता है। इसी के फलस्वरूप उसको संसारी बनकर नाना प्रकार के सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। आभासरूप से यह ज्ञान वैराग्य के साथ-साथ किसी-किसी के भीतर जाग उठता है। तब जीव यह समझ पाता है कि आनन्द की खोज में वह इस विराट् विश्व में जन्म-जन्मान्तर से भटकता आ रहा है। वह आनन्द उसको बाहर किसी देह में या लोक-लोकान्तर में उपलभ्य नहीं है। अतएव बारम्बार बाहर घूमकर परिक्लान्त होने की उसकी इच्छा नहीं होती। परन्तु वह आनन्द है कहाँ, इसका पता उसे नहीं होता। अस्फुटरूप से उसके हृदय में यह आनन्द का संवाद

प्रस्फुटित हो उठता है और यह भी वह जान लेता है कि यह ध्रुव सत्य है; परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये कौन-सा मार्ग ग्रहण करके, किस प्रकार अग्रसर हुआ जाय—यह उसकी समझ में नहीं आता। दिन प्रतिदिन व्याकुलता बढ़ती जाती है तथा वैराग्य भी तीव्र होता है; साथ ही इस अखण्ड विश्व में वह अपनी क्षुद्रता का भी अनुभव करता है; परन्तु जब तक मार्ग का सन्धान नहीं पाता, तब तक अग्रसर नहीं हो पाता।

यह आनन्द ही वस्तुतः उसका स्वरूप है और इसका सन्धान पाने के लिये ही उसको समस्त जीवन लगा देना उचित है, इस बात को वह समझ लेता है। भगवान् शङ्कराचार्य ने जिस मुमुक्षुत्व की बात कही है, वह इसी समय उदित होता है। जिस प्रकार चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य-देह की प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार कोटि-कोटि जन्मों के कर्मफल भोगने के बाद वैराग्य का उदय और आनन्दस्वरूप निज आत्मा का परिचय प्राप्त करके मायाजाल से मुक्त होने की आकांक्षा भी दुर्लभ है। यह आकांक्षा ही मुमुक्षा है।

इसके बाद भगवान् शङ्कराचार्य ने महापुरुष के आश्रय की बात कही है। वे महापुरुष ही सद्गुरु हैं तथा भ्रान्त जीव को स्वस्थान में लौटा कर स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने के अधिकारी हैं। आचार्य ने सद्गुरु-प्राप्ति को अत्यन्त ही दुर्लभ वस्तु माना है, यह सब सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके, उससे भी अधिक दुर्लभ वैराग्य और निवृत्तिभाव तथा मुक्ति की आकांक्षा प्राप्त करके, सद्गुरु की कृपा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अवश्यम्भावी है।

सद्गुरु को खोज करके निकालना नहीं पड़ता, परन्तु कभी-कभी अपने कर्म के क्षय के लिये अन्वेषण आवश्यक होता है। समय पूरा होने पर सद्गुरु स्वयं ही मुमुक्षु जीव को दर्शन देते हैं। सद्गुरु के बिना मार्ग का सन्धान कोई नहीं पाता। मार्ग पर चला कर ले चलने की शक्ति भी किसी में नहीं होती। तथा महालक्ष्य का साक्षात् परिचय भी दूसरों को नहीं होता। परन्तु अल्पज्ञ जीव माया से मोहित होकर दिग्भ्रान्त-रूप में भटक-भटक कर सद्गुरु का सन्धान नहीं पा सकता। सद्गुरु वस्तुतः स्वयं श्रीभगवान् हैं। उनकी अनुग्रह-शक्ति ही 'गुरुपद'वाच्य है। वे उपेय हैं, अर्थात् उपाय के सहयोग से प्राप्त होते हैं और उपाय भी वे ही स्वयं हैं। वे अपना मार्ग न दिखायें तो कौन उनको खोज निकाल सकता है। वे ही पथ हैं तथा वे ही पथ के गन्तव्य स्थान हैं। यह पथ छोटा है या बड़ा—इसको भी एकमात्र वे ही जानते हैं। उनका अनुग्रह होने पर बहुत लम्बा पथ भी छोटा हो सकता है। उनका अनुग्रह शिथिल होने पर लघु पथ भी दीर्घरूप में प्रवर्तित हो जाता है और महान् अनुग्रह के समय क्षणभर में ही पथ अदृश्य भी हो जाता है, एकमात्र स्वयंप्रकाश वे ही अखण्ड भाव से विराजमान हो जाते हैं। याद रखने की बात है कि साधारणतया एक उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरुरूपी श्रीभगवान् जीव के सामने अपनी अनुग्रह-शक्ति को प्रकाशित करते हैं। इस शक्ति-प्रकाश की धारा अखण्ड है। जीव की योग्यता विभिन्न प्रकार की होती है, अतएव विभिन्न जीवों के सामने विभिन्न भाव से इस शक्ति का प्रकाश होता है।

गुरु का प्रधान कार्य है—आश्रित शिष्य की दृष्टि का पर्दा खोल देना तथा उसको सत्य के अनावृत स्वरूप का दर्शन कराना। जीवन का आत्मस्वरूप क्या है, यह जानना आवश्यक है। क्योंकि यही सत्य का यथार्थ स्वरूप है। इस स्वरूप को दिखा देना तथा जो पथ इस स्वरूप की उपलब्धि की ओर अग्रसर होता है, उसको दिखा देना गुरु का कार्य है। परन्तु उस पथ पर चलना तथा क्रिया-कौशल, भावना अथवा संवेग के द्वारा उस पथ को पूरा करना शिष्य का काम है। गुरु की कृपा और शिष्य का आत्म-पौरुष सम्मिलित होकर असम्भव को सम्भव कर सकते हैं। शिष्य क्षणमात्र के लिये भी अपने स्वरूप को देखकर समझ सकता है कि वह आज तक अपने को जो समझता रहा है, वह नहीं है। अर्थात् यह देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी वह नहीं है। चिरकाल तक भोग-मार्ग में चलते-चलते इनको ही वह अपनी सत्ता के रूप में समझने लगा था। गुरु की कृपा से वह अब समझ जाता है कि वस्तुतः वह इनमें से कोई भी नहीं है, वह इन सब अनात्मसत्ताओं से पृथक् वस्तु है और चेतन-स्वरूप है। अब वह विज्ञानमय देह में प्रतिष्ठित हो गया है।

विवेक उत्पन्न होने तथा देह के प्रथम आविर्भाव के बाद सुदीर्घकाल तक क्रम-विकास के पथ से विभिन्न स्तरों से होते हुए इसे अग्रसर होना पड़ता है। जीवदेह क्रमशः अभिव्यक्त होकर मनुष्य-देह में जब तक परिणत नहीं होता, तब तक यह प्रश्न उठता ही नहीं कि वह कौन है और उसका स्वरूप क्या है। मनुष्य-देह प्राप्त होने पर भी देहादि के अभिमान से युक्त होने के कारण अपने यथार्थ स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न ही उसके चित्त में नहीं उठता। सुदीर्घकाल तक कर्मफल-भोग करने के बाद अन्त में अवसाद-ग्रस्त होकर जब वह जीवन की निष्फलता का अनुभव करता है, तब वस्तुतः 'मैं क्या हूँ'—इस प्रश्न का उदय होता है। उसके बाद जब तक यह प्रश्न जड़ नहीं जमा लेता, तब तक इसका समाधान प्राप्त नहीं होता। पश्चात् गुरु-कृपा से संशय, भ्रम आदि दूर होकर 'सोऽहं' रूप में अर्थात् 'मैं ही वह परम पदार्थ हूँ'—इस रूप में प्रत्यक्षतः उस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है।

मनुष्य-देह वस्तुतः समस्त विश्व का प्रतीक है। नीचे, ऊपर, बीच में—जहाँ जो कुछ है, सबका सार ग्रहण करके यह शरीर रचा गया है। इसलिये कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है और जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वस्तुतः सभी कुछ विश्व रूप है। केवल अपना स्वरूप विस्मृत हो जाने के कारण मनुष्य अपने को विश्वरूप में पहचान नहीं सकता। मनुष्य केवल विश्वरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्व से भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाश-स्वरूप भी है—एक ही साथ दोनों है। इस कारण पूर्णत्व की अभिव्यक्ति मनुष्य में ही सम्भव है। पशु-पक्षी के देह में जैसे पूर्णत्व का अभिज्ञान नहीं होता, वैसे ही देव-देह में भी नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकार के देह भोग-देह के अन्तर्गत हैं। कुण्डलिनी-शक्ति निद्रित रहने पर भी एकमात्र मनुष्य के देह में ही विराजती है तथा एकमात्र

मनुष्य-देह में ही वह जाग्रत होती है, यहाँ तक कि मनुष्य-देह में ही उसका पूर्ण जागरण सम्भव होता है। देवताओं में जो पुण्य-कर्म के फल से भोग और ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित हैं, वे अपूर्ण हैं। यहाँ तक कि जो देवता कर्म के सम्बन्ध के बिना भी आजान देवता के रूप में सृष्टि के आदि से प्रतिष्ठित हैं, वे भी विशेष-विशेष अधिकारों से सम्पन्न होने के कारण पूर्णत्व से वञ्चित हैं। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड ऐश्वर्य, अखण्ड भाव—ये सब एकमात्र मनुष्य-देह में ही अवस्थाविशेष में व्यक्त हो सकते हैं। मनुष्य के सिवा अन्य किसी योनि में पूर्णत्व के मार्ग पर आरूढ़ होना सम्भव नहीं। इसी से शास्त्र कहते हैं कि देव-गण भी मनुष्य शरीर की स्तुति किया करते हैं।

पूर्णज्ञान को समझने के लिये अज्ञान के स्वरूप को समझना आवश्यक है। जिस वस्तु का जो स्वरूप है, उसके उस स्वरूप को ठीक-ठीक जानने का नाम ही यथार्थ-ज्ञान है। आत्मा यदि अपने को आत्मा के रूप में पहचान सके, अर्थात् यदि उसकी निज-स्वरूप में अहं की प्रतीति उत्पन्न हो जाय, तो उसी को यथार्थ आत्मज्ञान समझना चाहिये। अतएव आत्मा में अनात्मबोध होना अथवा अनात्मा में अनात्मा को आत्मा समझना—दोनों ही अज्ञानपदवाच्य हैं। पूर्ण अहंभाव केवल परमात्मा या परमेश्वर में ही सम्भव है। जब तक आत्मा माया से आच्छन्न है, तब तक वह अनात्मा को आत्मा के रूप में ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है। सर्वप्रथम वह इस स्थूल देह को ही अपना स्वरूप समझता है और इसी में उसका 'मैं-पन' निहित रहता है। इसके बाद स्थूल देह से 'मैं-पन' का बोध दूर हो जाने पर भी प्राण और बुद्धि में, अर्थात् सूक्ष्म सत्ता में 'मैं-पन' का बोध रह जाता है। इसको दूर करने में बहुत समय लगता है। उसके बाद प्राण और बुद्धि के परे शून्य में उसका 'मैं-पन' का बोध निमग्न हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से होते हुए जीव निरन्तर घूमता-फिरता रहता है। इसके फलस्वरूप उसका शून्यभेद अथवा सुषुप्तिभेद घटित नहीं होता और वह माया के बाहर अपने स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर पाता। यही सांसारिक अवस्था का संक्षिप्त विवरण है। परन्तु जब विवेक-ज्ञान का उदय होता है, तब आत्मा समझ पाता है कि वह माया से भिन्न और माया के कार्यभूत त्रिविध देह से भी भिन्न है; मायिक सत्ता जड़ है, परन्तु वह शुद्ध चेतन है। इस अवस्था में स्थित होने पर जीवनरूपी आत्मा कर्म और माया दोनों से मुक्त हो जाता है और कैवल्य-दशा को प्राप्त होता है। साधारण दृष्टि से यह भी मुक्त अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु यह पूर्ण मुक्ति नहीं है; क्योंकि अनात्मा में आत्मबोध-रूपी अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी शुद्ध अज्ञान अब भी रह ही जाता है। कैवल्य को प्राप्त आत्मा कर्म-संस्कार के अभाववश संसार-चक्र में तो नहीं पड़ता, परन्तु पूर्ण भागवत-जीवन का अधिकारी नहीं होता; उस समय ज्ञान का विकास होने पर भी वह यथार्थ दिव्य ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उस समय क्रिया-शक्ति का विकास नहीं होता। वस्तुतः पूर्ण चैतन्यस्वरूप में ज्ञान और क्रिया अभिन्न होते हैं। अतएव महामाया के उल्लासरूप शुद्ध अज्ञान की निवृत्ति जब तक नहीं होती, तब तक जीव कैवल्यरूप मुक्ति को प्राप्त

होकर भी दिव्यजीवन के मार्ग में पदार्पण नहीं कर सकता। सद्गुरु की कृपा के बिना पूर्णत्व का पथ उन्मुक्त नहीं होता। गुरु की कृपा से जब वह मार्ग प्राप्त हो जाता है, तब जीव का जीवभाव अर्थात् प्राकृत भाव कट जाता है तथा दिव्य और अप्राकृत भाव का उदय होता है। उस समय क्रमशः चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अनात्मा में आत्मभाव कट जाने पर भी अब तक आत्मा में अनात्म भाव नहीं कटा था। दिव्य ज्ञान के उदय और विकास के साथ-साथ आत्मा में अनात्म-भावरूप शुद्ध अज्ञान कटना प्रारम्भ हो जाता है। यह अज्ञान जब पूर्णतया उच्छिन्न हो जाता है, तब अपने को पूर्ण और परमात्मरूप में उपलब्ध करता है। उस समय बोध-क्षेत्र में अनात्मभाव बिल्कुल ही नहीं रह जाता। यह शुद्ध आत्मा सोऽहं-रूप में अपने को पूर्ण अनुभव करता है। वही चित्त शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है तथा परमात्मा के साथ जीवात्मा के अभेद की प्रतिष्ठा है।

इस अवस्था के आनन्द को मानवीय भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह स्थिति प्राप्त करने के बाद केवल निरन्तर आत्मस्वरूप का ही अविच्छिन्न अनुभव जाग्रत् रहता है। उस समय विश्व अथवा जगत् की स्मृति या अनुभव उसको नहीं होता। यही पूर्ण ब्राह्मी स्थिति है। परन्तु इसके परे भी एक अवस्था है। यह अवस्था निश्चय ही सबके लिये नहीं है। किसी-किसी विशिष्ट पुरुष को उस अवस्था की प्राप्ति होती है, सबको नहीं। उस अवस्था में जगत् का बोध फिर लौट आता है; परंतु यह पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति की प्रतिकूल अवस्था नहीं है; क्योंकि ब्राह्मी स्थिति की अखण्ड अनुभूति कभी लुप्त होनेवाली नहीं।

ब्राह्मी स्थिति की अवस्था और उसके बाद आनेवाली अवस्था के बीच एक सामान्य भेद है। ब्राह्मी स्थिति के पूर्व की अवस्था में जैसे केवल जीवभाव रहता है, उस समय ब्रह्मभाव का स्फुरण नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मी स्थिति में ब्रह्मभावना जब होती है, तब जीवभाव का भी स्फुरण नहीं होता; परंतु तृतीय अवस्था में परि-निष्ठित ब्रह्मभाव के भीतर ही जीव और जगत् की अनुभूति यथावत् लौट आती है। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति के भीतर ही एक अभूतपूर्व उल्लास लक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनन्द महाकरुणा के रूप में प्रकट होता है। जीव-अवस्था में समस्त विश्व दुःखमय होता है, यथार्थ आनन्द का आभास वहाँ जाग्रत् नहीं होता। जो आनन्द छाया के रूप से वहाँ उपलब्ध होता है, वह दुःख का ही एक भेदमात्र होता है; परंतु ब्रह्मावस्था में समस्त दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति एक साथ ही होती है। इस अवस्था में दुःख की अनुभूति भी नहीं रहती, जीव की अनुभूति भी नहीं रहती, जगत् की अनुभूति भी नहीं रहती। सर्वत्र अपना ही स्वरूप दीखता है तथा अविच्छिन्न स्वरूप में आनन्द के सिवा और कुछ लक्षित नहीं होता। यही वस्तुतः स्वरूपस्थिति का विवरण है। परंतु यह श्रीभगवान् के साथ 'जीवात्मा का' साम्य है, यह भी परिपूर्ण अवस्था नहीं है; क्योंकि जो अखण्ड सत्ता योगी का चरम लक्ष्य है, वह सम्यक् प्रकार से अब भी अधिगत नहीं होती; क्योंकि

एकमुक्ति और सर्वमुक्ति के अभिन्न रूप में प्रकाशित होने का अभी अवसर ही नहीं आया। तृतीय अवस्था में द्वितीय अवस्था की पूर्णता के भीतर ही प्रथम अवस्था की वेदना प्रतिभासित हो उठती है। उस समय जीव और जगत् तथा अनन्त दुःख अखण्ड पूर्ण आनन्द के भीतर फूट पड़ता है। जो समाधि के आवरण में दबा हुआ था, वह अवसर पाकर अपने को प्रकट करता है। इसके फलस्वरूप दुःख के सान्निध्य के कारण पूर्ववर्णित आनन्द करुणा का रूप धारण करता है। जिसमें इस करुणाशक्ति का जितना ही अधिक उद्रेक होता है, वह उतना ही अधिक परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करने की योग्यता से सम्पन्न होता है। वह तृतीय अवस्था ही सद्गुरु की अवस्था है। वे नित्यमुक्त पूर्ण ब्रह्मस्वरूप होकर भी एक प्रकार से प्रत्येक जीव के दुःख के स्पर्श से करुणार्द्रहृदय होते हैं। दुर्गासप्तशती में श्रीजगदम्बा को 'सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता' कहा गया है। सन्तान-वात्सल्य-मूलक जो आनन्दमयी माँ की आर्द्रचित्तता है, वही महाकरुणा का निदर्शन है। स्वयं आनन्द में प्रतिष्ठित होकर भी जब तक दूसरे को उसी प्रकार के आनन्द में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, तब तक यह कहना नहीं बनता कि जीवन का यथार्थ महत्त्व सम्पन्न हो गया। परंतु यह बात सबके लिये नहीं है, किसी-किसी भाग्यवान् के लिये है। इसी कारण एक ओर अनवच्छिन्न परमानन्द होते हुए भी दूसरी ओर अशेष करुणा का स्थान रहता है। कहना नहीं होगा कि परमानन्द की भित्ति में यह परम रस का उल्लास है। यह रस अनन्त प्रकार का हो सकता है, अथवा शास्त्रनिर्दिष्ट नौ प्रकार का भी हो सकता है। परंतु यहाँ जिस दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है, उसके अनुसार इसको करुणरस के नाम से पुकारना ही ठीक है। इसी कारण महाकवि भवभूति ने कहा है—'एको रसः करुण एव।'

यह जिस स्थिति की बात कही गयी है, वही सद्गुरु की स्थिति है। दूसरे के दुःख से दुःखित हुए बिना करुणा का उदय नहीं होता और करुणा के बिना दूसरे का दुःख भी दूर नहीं किया जाता। जब तक दूसरा है, तब तक उसका दुःख भी है तथा उसको निवृत्त करने का प्रयोजन भी है और उसकी निवृत्ति आवश्यक है। अतएव गुरुभाव का योग भी स्वाभाविक है। किन्तु पूर्वोक्त द्वितीय अवस्था में यह अन्यबोध तथा अन्य का दुःखबोध नहीं रहता। अतः उसके अस्तित्व के भी उस समय कल्पित होने की सम्भावना नहीं होती; परन्तु समाधि या समावेश दशा के कट जाने पर अपनी पूर्णतानुभूति के भीतर ही यह अन्य या पर-बोध व्युत्थित के हृदय में जाग उठता है। उस समय करुणा का उद्रेक होता है। यही जीवन्मुक्त सद्गुरु की दशा है। जो जिस परिमाण में श्रीभगवान् के अनुग्रह-वितरणरूपी इस महायज्ञ में भाग ले सकते हैं, उनको उतना ही सौभाग्यवान् समझना चाहिये। जिनकी करुणा का प्रसारक्षेत्र जितना अधिक होता है, श्रीभगवान् के साथ उनका तादात्म्य भी उतना ही गम्भीर होता है।

एक प्रकार से मुक्तपुरुष श्रीभगवान् के साथ अभेद में प्रतिष्ठित होने पर भी दूसरी ओर देहावस्था में किञ्चित्-भेदविशिष्ट होने के कारण करुणा के अधिकार के सम्बन्ध में भी तारतम्यविशिष्ट होते हैं। अपने स्वगत-भाव को जो परम स्वरूप में

विसर्जित कर सकता है, उसका कर्मक्षेत्र असीम हो जाता है। नहीं तो, जिसका क्षेत्र जिस परिमाण में होता है, उसे उसी परिमाण में अनुग्रह-शक्ति अथवा महाकरुणा का विस्तार करके अवसर ग्रहण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीर का गुरुत्व इतना अधिक है कि वह विश्व-गुरु के साथ अभिन्न होकर जब तक इच्छा हो, तब तक सिद्धस्वरूप में विश्वगुरु के प्रतिनिधि अथवा परिकर के रूप में जगत् के सेवा-कार्य या जीव के उद्धारकार्य में अपने को नियुक्त रख सकता है। कहना नहीं होगा कि यह सब महामाया की नित्यलीला के अन्तर्गत है। अतएव मनुष्य-देह का गौरव केवल ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानने में नहीं है,केवल ब्रह्मानन्द का स्वयं भोग करने में नहीं है, बल्कि निर्विशेषरूप ब्रह्मानन्द को सब में वितरण करने का अधिकार प्राप्त करने में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देवताओं को भी यह अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि साधारण मुक्त पुरुष को भी नहीं है। इस अधिकार की प्राप्ति जब तक पूर्ण नहीं होती (अवश्य ही अपनी ओर से), तब तक आत्मा परमात्मा के साथ अभिन्न होकर भी कुछ भेदयुक्त रहता है। यह अवस्था दीर्घकाल तक रह सकती है और क्षणमात्र में भी विलीन हो जा सकती है। सब कुछ स्वेच्छाधीन है। उससे स्वरूप की हीनता या क्षुद्रता नहीं होती।

अतएव 'महापुरुष का संश्रय' भी मानवदेह की महिमा का सम्यक् परिचय नहीं है। 'महापुरुष' पद में स्वयं प्रतिष्ठित होना भी मानवदेह में ही सम्भव है।



काशी में मृत्यु और मुक्ति

हिन्दूशास्त्रों में तीर्थों के माहात्म्य-प्रसङ्ग में अनेकों स्थानों पर कर्मतीर्थ और ज्ञानतीर्थ के नाम से दो प्रकार के तीर्थों का वर्णन मिलता है। कर्मतीर्थ-क्षेत्र की विशेषता के कारण धर्म या पुण्यसंस्कारों को उत्पन्न कर स्वर्गादि सुखमय अवस्था की प्राप्ति कराते हैं। परन्तु यदि ज्ञानतीर्थों का विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो उससे क्रमशः ज्ञान-संस्कार सञ्चित होते हैं और अन्त में पूर्ण ज्ञान का विकास होकर मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये ज्ञानतीर्थों को मोक्षदायक तीर्थ कहा गया है और इसीलिये शास्त्रों में अयोध्या, मथुरा, माया आदि नगरियों को प्राचीन काल में मोक्षदायिनी बतलाया गया है। परन्तु दूसरे-दूसरे मुक्ति-स्थानों की अपेक्षा काशी की कुछ विशेषता है; क्योंकि अन्यान्य ज्ञान-भूमियों में जीवन धारण करने से, अर्थात् उन स्थानों पर निवास करने से ही स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय होता है; परन्तु काशी में निवास से नहीं, अपितु देहत्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ लोग ऐसा सोचा करते हैं कि 'किसी स्थान-विशेष में मृत्यु होने से ही मुक्ति हो जायगी, ऐसा मानना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है। काशीमरण के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो प्रशंसासूचक वाक्य हैं, वे अर्थवादमात्र हैं; यानी लोगों को आकर्षित करने के लिये बढ़ाकर कहे गये हैं। यदि काशी में मरने से ही मुक्ति हो जाय तो फिर कृत कर्मों का फलभोग नहीं हो सकता और यदि कर्मों का फल न मिलेगा तो सृष्टि में नाना प्रकार की विषमता उत्पन्न हो जायगी। तथा पापी और पुण्यात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल न भोगें और दोनों को समान गति मिल जाय, यह भी अनुचित मालूम होता है। इसके सिवा आत्मज्ञान हुए बिना मुक्ति भी कैसे हो सकती है? ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह ऋषियों का चरम और अभ्रान्त सिद्धान्त है। यह भी समझ में नहीं आता कि पापी और पुण्यात्मा दोनों ही काशी में मरते ही अपने पाप और पुण्य के संस्कारों से छूटकर तत्त्वज्ञान की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। और कर्मों का क्षय हुए बिना ज्ञान का उदय भी कैसे हो सकता है? आदि-आदि।'

जिनके मन में इस प्रकार के सन्देह पैदा होते हैं उनको यह समझना चाहिये कि स्थानमाहात्म्यका निरूपण युक्तियों से नहीं हो सकता। बाह्य अथवा पाञ्चभौतिक दृष्टि से काशी तथा अन्य पार्थिव स्थानों में कोई लौकिक भेद नहीं दिखलायी पड़ता। काशी में कोई अलौकिक विशेषता है या नहीं, इसका निर्णय किसी शक्तिसम्पन्न पुरुष के अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। कार्य के द्वारा ही शक्ति का अनुमान होता है, क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अग्नि की दाहिका शक्ति साधारण दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। साधारण मनुष्य तो दहनादि कार्यों को देखकर ही उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार काशी में ऐसी कोई विशेषता

है या नहीं, जिसके प्रभाव से जीव ज्ञानवान् होकर मुक्ति-लाभ कर सकता है—इस तत्त्व की यथार्थ उपलब्धि करने के लिये उसका कुछ स्थूल परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा किये बिना इस प्रकार के माहात्म्य का अनुमान करना भी सम्भव नहीं है।

मृत्यु के समय प्रत्येक मनुष्य का सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर स्थूल शरीर से अलग होकर अपने कर्म-संस्कारों के अनुसार गति प्राप्त करता है। जब तक स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता तब तक यह गति आरम्भ नहीं होती। अर्थात् मृत्यु के बाद ही सूक्ष्म शरीर में गति दिखलायी पड़ती है। इस गति की विचित्रता कर्म-वैचित्र्य के अनुसार ही होती है। ऊर्ध्वगति, अधोगति तथा तिर्यग्गति और प्रत्येक गति के असंख्यों अवान्तरभेद अनन्त प्रकार के जटिल कर्म-संस्कारों के कारण ही हुआ करते हैं। परन्तु काशी-क्षेत्र में जब मृत्यु के समय वह लिङ्ग-ज्योति (सूक्ष्म शरीर) स्थूल या अन्नमय कोष से पृथक् होती है तब वह अपने को एक तीव्र ऊर्ध्वगामी आकर्षण के मध्य देखती है, और इस आकर्षण के प्रभाव से वह लिङ्ग-देह (सूक्ष्म शरीर) क्रमशः ऊर्ध्वगामी होता है। काशी के सिवा अन्यान्य स्थानों में मृत्युकाल में लिङ्ग की ऐसी गति नहीं होती। अवश्य ही जिनको ज्ञान हो गया है, उनकी मृत्यु कहीं भी क्यों न हो, उनका लिङ्ग-शरीर ज्ञान के प्रभाव से स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी होता है। यह क्रम-मुक्ति के अनुसार उत्क्रमण की व्यवस्था है।

अब प्रश्न होता है कि काशी-क्षेत्र में शरीर छोड़ने पर साधारण मनुष्यों की अर्थात् अज्ञानी जीवों की भी इसी प्रकार ऊर्ध्वगति होती है या नहीं? जब इसका साक्षात् अनुभव, जिनकी मृत्यु हो गयी है उन्हें छोड़ कर, दूसरों के लिये असम्भव है, तब जीवित मनुष्य इस सम्बन्ध में किसी स्थिर सिद्धान्त पर कैसे पहुँच सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगियों एवं योगाभ्यासियों के लिये इस संशय को दूर करना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। कारण, पके हुए फल के डाल से टूटकर भूमि पर गिर पड़ने की भाँति जैसे प्रारब्ध कर्म का भोग पूरा होने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग हो जाता है, ठीक वैसे ही योगलब्ध बल से सम्पन्न पुरुष जीवनकाल में अपनी इच्छानुसार योगशास्त्रोक्त कौशल के द्वारा अन्नमय कोष से लिङ्ग (सूक्ष्म देह) को पृथक् करके बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार योगी जब अभ्यास के समय लिङ्ग शरीर को स्थूल शरीर के सम्बन्ध से कुछ अंश में मुक्त करके बाहर ले आता है तब उसी क्षण वह बाह्य जगत् के विचित्र आकर्षण का अनुभव करता है। कहना नहीं होगा कि इस आकर्षण से ही लिङ्ग (शरीर) की भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियों का आरम्भ हुआ करता है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आकर्षण और तज्जनित गति लिङ्गनिहित कर्म-संस्कारों का फल है। यदि यह देखा जाय कि किसी स्थान-विशेष में अभ्यास-काल में लिङ्ग शरीर अन्नमय कोष से पृथक् होने के साथ ही किसी अचिन्त्य शक्ति के आकर्षण से ऊर्ध्वगामी होता है, यहाँ तक कि उसके विचित्र कर्म-संस्कार भी उसे खींच कर नीचे की ओर नहीं ला सकते, तो यह समझना होगा कि यह स्थान-माहात्म्य का ही फल है। अनुभूति-सम्पन्न योगियों को काशी में इस प्रकार की अचिन्त्य विशेषता की उपलब्धि

हुआ करती है। इसलिये यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर योगबल से देह-त्याग करने पर जिस प्रकार लिङ्ग शरीर की ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार काशी में भी मृत्युकाल में लिङ्ग पृथक् होने के साथ ही ऊर्ध्वगति प्राप्त हुआ करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ऊर्ध्वगति ज्ञान बिना नहीं हो सकती, इसलिये अज्ञानावृत, पापी अथवा पुण्यवान्—कोई किसी प्रकार के भी कर्मवाला हो, इस ज्ञान-क्षेत्र में देह त्यागने के साथ ही ज्ञान प्राप्त कर ऊर्ध्वगति पाता है। शास्त्रों में लिखा है कि काशी पृथिवी के अन्तर्गत नहीं है। इसका असली तात्पर्य यह है कि दूसरे-दूसरे स्थानों में जैसे पार्थिव-आकर्षण या मध्याकर्षण स्थूल देह से पृथक् हुए लिङ्ग को नीचे की ओर खींचते हैं, काशी में ठीक इसके विपरीत ऊर्ध्व आकर्षण लिङ्ग को ऊर्ध्व की ओर आकर्षित करता है। स्थूल देह का सम्बन्ध टूटने के साथ-ही-साथ ऐसा दीखने लगता है। जिस प्रकार अधः आकर्षण अज्ञान का कार्य है, उसी प्रकार ऊर्ध्व आकर्षण ज्ञान का कार्य है। काशी-मृत्यु से लिङ्ग-देह एक प्रकार की उर्ध्वगतिशील अवस्था को प्राप्त होता है, इसीलिए काशी की श्रेष्ठ ज्ञान-क्षेत्र के रूप में पूजा होती है तथा शास्त्रों में 'मरणं यत्र मङ्गलम्' कहकर काशी-मृत्यु की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

काशी का ऐसा माहात्म्य या वैशिष्ट्य है या नहीं—इसका निर्णय केवल अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है, युक्तियों द्वारा नहीं। ऋषियों के इस प्रकार के अनुभव के बल पर ही शास्त्रकार काशी की महिमा का प्रचार कर गये हैं। अब भी समर्थ योगी अपने जीवित काल में ही इस प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्ति साक्षात् कृपा का फल होने के कारण इसके साथ कर्मों का कोई विरोध नहीं रह सकता। कहना नहीं होगा कि ज्ञानस्वरूप श्रीभगवान् की कृपा के बिना कभी ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। कर्मक्षय होने से ही ज्ञान का उदय होता है—यह प्रकृत सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भाव होते ही हृदय-ग्रन्थि का भेदन होकर समस्त संशयों का भञ्जन एवं कर्मो का क्षय हो जाता है। अतएव काशी-मृत्यु-रूप सौभाग्य को प्राप्त करना अथवा आत्मज्ञान का उदय होना, दोनों ही भगवान् की कृपा से होते हैं। दार्शनिकगण जानते है कि Justice (न्याय) और Mercy (दया) में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। Mercy (दया) से Justice (न्याय) की ही पूर्णता होती है—Love is the fulfilment of law (प्रेम न्याय का पूरक है)—इस वाक्य के द्वारा ईसा के उपासकों ने भी इसी बात की घोषणा की है। जिस कृपा के द्वारा काशी-मृत्यु प्राप्त होती है, उसके साथ कर्मों का विरोध न रहने का कारण यह है कि काशी-मृत्यु द्वारा तारक-ज्ञान का उदय होने से अधः आकर्षण और गर्भवास-यन्त्रणा निवृत हो जाती है, पर कृत कर्मों का फल चाहे वह सुख हो या दु.ख ही हो—ऊर्ध्व लोक में भोगना पड़ता है। अवश्य ही ज्ञानोदय होने के कारण नये कर्म नहीं होते और पुराने कृत कर्म क्रमशः सुख और दुःख रूप फल-भोग के द्वारा क्षीण हो जाते हैं। पर ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करता है और जीव परमा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अत-एव काशी में मृत्यु होने पर पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख भोग करना ही

पड़ता है। तब किसी प्रकार के वैषम्य अथवा अन्याय का कारण नहीं रह जाता। परन्तु देवादिदेव महादेव की कृपा से स्थान-माहात्म्य के कारण ज्ञान का उदय हो जाता है, इसलिए मुक्ति प्राप्त करने में भी कोई बाधा नहीं आती। इस सम्बन्ध में अन्यान्य विषयों पर कभी आलोचना की जा सकती है। यह ज्ञानाग्नि सञ्चित कर्मों को निशेःष रूप से जला डालती है।

यहाँ सद्योमुक्ति के सम्बन्ध में आलोचना करने की आवश्यकता नहीं है।[1]

अनुभव

(१)

स्वामी श्रीशारदानन्द जी द्वारा लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसङ्ग' नामक पुस्तक में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का एक अनुभव इस प्रकार लिखा है।

'वाराणसी के मणिकर्णिकादि पञ्चतीर्थों का दर्शन करने के लिए लोग नाव पर सवार होकर गङ्गाजी में जाया करते हैं। एक दिन ठाकुर (श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव) के साथ मथुरबाबू[2] भी गये। मणिकर्णिका के बगल में ही काशी का प्रधान श्मशान है। मथुरबाबू की नाव जब मणिकर्णिका के सामने पहुँची तब यह दिखायी दिया कि श्मशान चिताओं के धुएँ से भरा है—मुर्दे जल रहे हैं। भावमय ठाकुर (परमहंसदेव) उस ओर देखते ही एकदम आनन्द में भर गये और पुलकित होकर दौड़ कर बाहर निकल आये, और एक बारगी नौका के किनारे पर खड़े होकर समाधिमग्न हो गये। मथुरबाबू के पण्डे और नाव के मल्लाह यह समझ कर कि यह आदमी जल में गिर कर बह जायगा, ठाकुर को पकड़ने दौड़े। परन्तु किसी को भी उन्हें पकड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। देखा, ठाकुर धीर स्थिर भाव से चुपचाप ध्यानमग्न खड़े हैं और एक अद्भुत ज्योति और हास्य की छटा उनके मुख से प्रस्फुटित हो रही है, जिससे वह सारा स्थान ही शुद्ध ज्योतिर्मय बन गया है। मथुरबाबू और ठाकुर के भानजे हृदय बड़ी सावधानी से ठाकुर के पास खड़े रहे, मल्लाह भी अचरज भरी नजर से दूर खड़े, ठाकुर का अद्भुत भाव देखने लगे। कुछ देर बाद ठाकुर के उस दिव्य भाव का लोप होने पर सब लोग मणिकर्णिका-घाट पर उतरे और स्नान-दानादि करके पुनः नाव पर सवार होकर आगे बढ़े।

तदनन्तर ठाकुर अपने अद्भुत् दर्शन की बात मथुरबाबू आदि से कहने लगे। उन्होंने कहा कि मैंने देखा, पिङ्गल वर्ण की जटाओं वाले एक लम्बे श्वेतकाय पुरुष

१. इस विषय पर कविराज जी का लेख यहीं तक है। किन्तु यह आवश्यक है कि इस विषय को और स्पष्ट करने के लिए 'कल्याण' पत्रिका में ही इसी स्थान पर प्रकाशित श्री सत्य ठाकुर द्वारा संकलित सन्दर्भित अनुभवों को दिया जाय। तदनुसार वे यहाँ पर प्रस्तुत हैं"—सम्पादक।

२. मथुरबाबू रानी रासमणि के दामाद थे।

गम्भोरता से चलते हुए श्मशान की प्रत्येक चिता के पास आते हैं और प्रत्येक देही को अच्छी तरह से उठा कर उसके कान में तारक ब्रह्म-मन्त्र प्रदान कर रहे हैं। सर्वशक्ति-मयी श्रीश्रीजगदम्बा भी स्वयं महाकाली-रूप से जीव के दूसरी तरफ उसी चिता पर बैठ कर उसके स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सब प्रकार के संस्कार-बन्धनों को खोल रही हैं तथा निर्वाण का मार्ग उन्मुक्त कर अपने हाथों से उसे अखण्ड धाम में भेज रही हैं। इस प्रकार श्रीविश्वनाथ अनेक कल्पों के योग-तप से प्राप्त होने वाला अद्वैतानुभवरूप भूमानन्द जीवों को दयापूर्वक प्रदान कर उन्हें कृतार्थ कर रहे हैं।'

मथुरबाबू के साथ जो शास्त्रज्ञ पण्डित थे, उन्होंने उपर्युक्त दर्शन की बात सुनकर कहा कि 'काशीखण्ड में इतना तो लिखा है कि काशी में मृत्यु होने से श्रीविश्वनाथजी जीव को निर्वाण-पद देते हैं; परन्तु किस दिव्य भाव से कैसे देते हैं, यह नहीं लिखा। आज आप के इस दर्शन से उसकी रीति समझ में आ गयी।' [देखिये श्रीरामकृष्ण-लीलामृत (बङ्गला) गुरुभाव—उत्तरार्द्ध, पृष्ठ १२७-२८, चतुर्थ संस्करण]।

श्रीरोमांरोलां ने काशी के परमहंसदेव के अनुभव के बारे में एक बात और लिखी है—

He visited Benares, it seemed to him not built of stones, but a 'condensed mass of spirituality.' This has also been the experience of other Yogis who have visited Sacred Kashi. (Life of Ramakrishna by Romain Rolland)

अर्थात् स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने काशी को पत्थरों से निर्मित नहीं देखा, उन्होंने देखा कि वह 'दिव्य चेतन का समूह है'। जिन अन्यान्य योगियों ने इस पवित्र काशी के दर्शन किये हैं, उन्हें भी ऐसा ही अनुभव हुआ है।

(२)

पण्डित गोपीनाथ जी कविराज के एक खास मित्र व्यावहारिक जीवन से अलग होकर काशी सेवन कर रहे हैं, उन्होंने अपने जीवन की निम्नलिखित घटना कविराज जी को सुनायी थी। मेरे आग्रह से उन्होंने मुझसे जैसा कहा, ठीक वैसा ही मैं यहाँ लिख रहा हूँ। उन्होंने अपना नाम प्रकाशित करने की आज्ञा नहीं दी, इसलिये उनका पूर्ण परिचय नहीं दिया जा सकता।

'शायद सन् १९०५ में बङ्गाल से एक विजय नामक लड़का काशी आया था। मुझसे परिचय होने के बाद से ही उसका मेरे प्रति अत्यन्त अनुराग हो गया, और हम दोनों का प्रेम-सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि हम दोनों शाम के वक्त रोज ही घूमने जाया करते। प्रायः एक साल के बाद विजय के एक बूढ़े सम्बन्धी (उसके फूफा के पिता) का पत्र आया कि 'मैं बीमार हूँ और सपरिवार काशी आ रहा हूँ।' विजय ने मुझसे एक मकान किराये पर ठीक कर देने के लिये कहा। देख सुन कर हमलोगों ने

टेढ़ी नीम के पास एक मकान किराये पर लिया। वे लोग आकर उसमें ठहर गये। रोगी को ऊपर के मंजिल पर रक्खा गया। वृद्ध बहुत दिनों से बीमार थे, घरवालों ने बतलाया कि ये गत छः महीनों से काशी आने के लिये बड़े ही व्याकुल थे। काशी आने पर उनके रोग में कुछ भी कमी नहीं हुई, परन्तु मन में एक आनन्द का भाव दिखलायी दिया। रोग ने क्रमशः डबल निमोनिया का रूप धारण कर लिया और उनकी हालत बिगड़ गयी। एक दिन शाम को डाक्टरों ने आशा छोड़ दी और वे जाते समय कह गये कि 'आज रात को परिचारकों को सावधान रहना चाहिये।' मैं उस समय वहीं था। विजय भोजनादि के लिये घर चला गया। अन्नपूर्णा फार्मेसी के किङ्करबाबू रोगियों की परिचर्चा में बड़े कुशल थे। इसलिये निश्चय हुआ कि रात को उन्हीं को यहाँ रक्खा जाय। उन्हें बुलाने का भार विजय को सौंपा गया। उनकी प्रतीक्षा में मैं रोगी के पास बैठा रहा। घर के और भी दो-एक मनुष्य वहाँ थे।

कुछ ही देर बाद, नीचे के तल्ले में खड़ाऊँ की आवाज सुन कर मैं सीढ़ी क ओर देखने लगा; क्रमशः मैंने देखा कि एक दिव्यमूर्ति संन्यासी हाथ में त्रिशूल और कमण्डलु लिये सीढ़ी से आकर सीधे रोगी के बिल्कुल निकट चले गये एवं सिर झुका कर रोगी के कान में कुछ कहने लगे। रोगो में करवट बदलने की ताकत बिल्कुल नहीं रह गयी थी, परन्तु उसने सहज ही करवट बदल कर मानों संन्यासी के वचन सुने। संन्यासी चले गये। वृद्ध ने दो एक लम्बे श्वास लिये और साथ ही उनका प्राण पखेरू उड़ गया। यह घटना मेरी आँखों के सामने हुई, मैं सोचने लगा—'ये संन्यासी कौन थे।' घर के दूसरे लोगों से पूछने पर उन्होंने कहा कि 'कहाँ ? हम लोगों ने तो किसी संन्यासी को नहीं देखा !' मैं अवाक् रह गया।

मैं मानों किसी दिव्य लोक में बैठकर यह रहस्य देख रहा था। तबसे मेरे मन में यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि परमकारुणिक शिव ही इस काशीधाम में विशेष रूप से जीव के अन्तकाल के समय आकर उसके कान में तारक-ब्रह्म-मन्त्र का उपदेश किया करते हैं।

मैं बैठा था, कुछ ही देर बाद किङ्करबाबू ने आकर कहा कि 'अरे ! यहाँ तो सब शेष हो गया, कब हुआ ?'

यह घटना मैंने पूजनीय महामहोपाध्याय पण्डित यादवेश्वर तर्करत्न को सुनायी थी। इसने उनके मन पर इतना प्रभाव डाला कि उसके बाद वे, इस भय से कि कहीं जीवन के शेष मुहूर्त में शिवगुरुलाभ के सौभाग्य से वञ्चित न रह जाऊँ, थोड़े समय के लिए भी काशी छोड़ना नहीं चाहते थे। इस घटना के बाद से जब कभी मैं उस मकान के पास से निकलता हूँ, मेरा शरीर और मन आशा और आनन्द से प्रफुल्लित हो उठता है।

जिस मकान में यह घटना हुई थी, उसको उन्होंने आनन्द-गद्गद्भाव से मुझको दिखलाया। इस प्रकार की घटनाएँ और भी अनेकों सज्जनों से सुनी जाती हैं।

(३)

काशी में एक साध्वी वृद्धा विधवा रहती हैं। हम उन्हें 'खालिसपुरा की माँ' के नाम से जानते हैं। सब प्रकार से संबलहीन होकर केवल धर्म के ऊपर निर्भर रहकर वे काशीसेवन करती हैं। हमारी धारणा है कि वे धार्मिक जीवन में बहुत ऊँची भूमिका पर स्थित हैं। कुछ समय तक उनके पास रहने से या उनके वाक्य श्रवण करने से मन एक अपूर्व धर्मभाव से पूर्ण हो जाता है। उनके जीवन की निम्नलिखित घटना गतवर्ष मैंने कई मित्रों के साथ उन्हीं के मुख से सुनी थी।

'उस समय मेरे स्वामी जीवित थे। एक बूढ़ी बिल्ली कहीं से आकर हमारे घर में रहने लगी। उसमें विशेषता यह थी कि वह हमारे साथ निरामिष आहार करती, मांस खाने के लोभ में दूसरी जगह कहीं नहीं जाती एवं एकादशी के दिन कुछ भी नहीं खाती थी। ज्यादातर मेरे पास पड़ी रहती। कालक्रम से उस बिल्ली की मृत्यु हुई और उसे सड़क पर एक तरफ फिंकवा दिया गया, जिससे उसे सफाई करनेवाले आकर उठा ले जायँ। पर मैंने सोचा, वे उसे न जाने कहाँ ले जाकर फेंकेंगे? ऐसी हिंसाशून्य सद्गुणी बिल्ली तो देखने में नहीं आयी, क्या इसका शव गङ्गा में नहीं डाला जा सकता?

स्वामी से जब मैंने यह कहा तो वे पहले कुछ नाराज से हुए। बिना मतलब उन्हें एक दुर्गन्धमय मृत पशु को ले जाना ठीक नहीं मालूम पड़ा। परन्तु पीछे मेरे हृदय की वेदना का अनुभव कर वे उसे ले जाने को राजी हो गये। मैंने बिल्ली को लाल कपड़े के एक टुकड़े में लपेट दिया। वे उसको गङ्गा में बहा आये और आकर मुझसे बोले कि 'बिल्ली को तुम्हारी मनचाही गङ्गा-प्राप्ति हो गयी।' इस घटना के पाँच-छः दिन बाद अकस्मात् एक दिव्य मनुष्याकृति सधवा रमणी, जो लाल पाढ़ की साड़ी पहने थी और जिसकी माँग में सिन्दूर भरा था, मेरे समीप आकर बैठ गयी। मैंने पूछा—'बहिन, तुम कौन हो? उसने कहा—मैं वही बिल्ली हूँ, जिसे तुमने दया करके गङ्गाजी में बहा दिया था, अब मैं मुक्त होकर जा रही हूँ, इसलिए जाने के पहले तुमसे मिले जाती हूँ। यह कहकर वह तुरन्त अन्तर्धान हो गयी। मैं अपने आसन पर बैठी रह गयी। मैंने देखा, कितने ही देवी-देवता उसके आगमन की प्रतीक्षा में बैठे हैं न जाने किस पाप से बेचारी को कुछ दिनों तक बिल्ली की योनि में रहना पड़ा!'

(४)

हिन्दू-विश्वविद्यालय के इलेक्ट्रिक इञ्जिनियरिङ्ग विभाग के मुख्याध्यापक श्रीभीमचन्द्र चट्टोपाध्याय के जीवन की निम्नलिखित घटना अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी है—

'काशी विश्वविद्यालय से मिले हुए वासस्थान (नगवा) में रहते समय मेरी बड़ी लड़की सरस्वती सख्त बीमार हो गयी। एक दिन उसको घर में छोड़कर मैं एक काम से अपनी स्त्रीसहित एक मित्र के घर गया था। उसी समय एक आदमी ने आकर

हमें खबर दी कि तुम्हारी लड़की की अवस्था बहुत खराब है। लड़की की माँ उसी समय घर गयी, लड़की को उस समय भयानक हिचकी आ रही थी। माता और कुछ भी निश्चय न कर सकने के कारण, श्रीहरि का स्मरण करके, नारायण के स्नानोदक में तुलसी-पत्र छोड़कर, वही जल कन्या के मुख में डालने लगी। इससे हिचकी बन्द हो गयी। उस समय तक मैं भी आ गया, पर उसकी हालत खराब ही होती जा रही थी।

इसके बाद लड़की ने नगवा छोड़कर वरुणा और अस्सी के बीच काशी के अन्दर रहने की इच्छा प्रकट की। मैंने पहले भी अपने परममित्र, प्रिंसिपल मि० सि० ए० किंग से इसके लिये कहा था। परन्तु उस समय उन्होंने बिल्कुल असम्मति प्रकट की थी। आज इस अवस्था में मेरी लड़की के सङ्कल्प की बात जानकर उन्होंने उसी समय मुझसे कहा कि 'तुम कल ही यह घर छोड़कर काशी के अन्दर चले जाओ।'

मैंने उनके कथनानुसार किया। दूसरे दिन सबेरे ही गुदोलिया में एक मकान किराये पर लेकर बीमार लड़की को किसी तरह पालकी में बैठाकर हमलोग उस घर में चले गये। इस लड़की के पुण्य-प्रभाव से ही इस समय हमलोगों का काशीसेवन हो रहा है।

लड़की का रोग दिनों-दिन बढ़ने लगा। मृत्यु के दो दिन पहले मेरी लड़की ने काशीखण्ड और गीता सुननी चाही, मैंने यथासम्भव पढ़कर सुनायी। लड़की मेरे घर पर प्रायः चार वर्षों से बीमार थी। उसके पति काशी धाम में ही रहते थे, परन्तु उन्होंने इतने दीर्घकाल में एक दिन भी आकर उसे नहीं देखा। मेरी लड़की के बीमार होने के दो वर्ष बाद उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया था। इन सब कारणों से मेरे मन में दुःख था। लड़की यह जानती थी, तो भी उसने शेष समय एक बार अपने स्वामी के दर्शन करने की इच्छा नौकर से जनायी और कहा—यदि माँ गुस्सा न हों तो एक बार उन्हें बुला लाओ। कहना नहीं होगा कि अभिमान छोड़कर मैंने अपने दामाद को बुला लिया। सरस्वती उनका चरणोदक पोकर तृप्त हो गयी और बोली कि 'मुझे शान्ति मिल गयी।' उनको अपने पास बैठाकर उसने बातें की। सरस्वती के उस भाव को याद करके आज भी मैं आँसुओं को नहीं रोक सकता।

मृत्यु के पहले दिन सरस्वती ने अपनी माँ को बुलाकर अपने सोने के सारे गहने एक-एक करके कुछ अपनी बहिनों को और कुछ दूसरों को बाँट दिये। कहना नहीं होगा कि पहले दिन इस सम्बन्ध में उसने स्वामी से पूछ लिया था। गहने बाँटने के कुछ पहले उसकी माँ ने उससे कहा था कि 'बेटी, तुम अच्छी होने पर इन गहनों को पहनना। तुम अपने इस प्यारे अनन्त को इस अमृता बहिन को क्यों दे रही हो? यह तो तुमसे लड़ा करती थी न? इत्यादि।' सरस्वती ने उत्तर दिया कि माँ, मेरे राग-द्वेष और कामना का पर्दा फट गया है, मेरा अब किसी पर क्रोध नहीं है। अच्छी होने पर भी अब मुझे गहने पहनने की इच्छा नहीं है और न किसी भी वस्तु के लिये

वासना या लोभ ही है। क्रोध का बिल्कुल नाश हो गया है, इसलिये जो मुझसे झगड़ा करती थीं उनसे भी मेरा प्रेमभाव हो रहा है। मैंने जैसा कहा है, वैसा ही करने से मुझे आनन्द होगा।

उसके कथनानुसार ही किया गया। दिनभर लड़की ने घर के लोगों, आत्मीय-जनों एवं नौकर-नौकरानी सबको एक-एक करके बुलाया और अपने दोषों के लिये हाथ जोड़कर उनसे क्षमा-प्रार्थना की। यहाँतक कि मेहतर को भी बाकी नहीं छोड़ा। सबसे जाने की अनुमति माँगी तथा सारे नौकरों को कुछ-न-कुछ दिया।

सन्ध्या-समय सरस्वती ने अपनी माँ को बुलाकर कहा—'माँ, तुमने जो कहा कि मैं उत्तम स्थान को जाऊँगी सो ठीक है, देखो लोग मुझे लेने के लिये आ गये हैं। परन्तु वे तुम्हारी आज्ञा बिना मुझे ले जाना नहीं चाहते। मुझे अनुमति दो।' इस प्रकार रात्रि के ११ बजे तक कहते रहने पर, मेरी स्त्री बिना अनुमति दिये न रह सकी। उसने कहा—'बेटी, तुम किसी सुन्दर जगह जाओ तो मैं बाधा डालना नहीं चाहती।' इसी समय 'शिव' का नाम स्मरण करती हुई सरस्वती देवादिदेव महादेव में लीन हो गयी, मानों अभी तक माता की अनुमति की ही प्रतीक्षा कर रही थी।

मैंने अनुभव किया कि भगवान् ने गीता में काम, क्रोध, लोभ नामक जिन तीन नरकों के द्वारों का उल्लेख किया है (गीता १६।२१) उनसे मेरी लड़की श्रीविश्वनाथ की कृपा से विनिर्मुक्त होकर सदाशिव में लीन हो गयी।

उस समय मुझे विश्वास हो गया कि काशी-मृत्यु इसी को कहते हैं। किस प्रकार बीस वर्ष की युवा लड़की के सारे बन्धन, माया-मोह, राग-द्वेष आदि अकस्मात् पर्दे की तरह हट गये! शिव-कृपा के बिना ऐसी पतिभक्ति एवं मृत्यु-समय में सबके साथ ज्ञानपूर्वक इस प्रकार का आचरण सम्भव नहीं। यह 'काशीमरणान्मुक्तिः' इस शास्त्र-सम्मत वाक्य का स्मरण रखने से सहज ही हृदयङ्गम किया जा सकता है।



ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्

(१)

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि ज्ञानस्वरूप एक ही अद्वयतत्त्व तत्त्ववेत्ताओं के प्रति अखण्ड तत्त्व के रूप में प्रतीत होने पर भी व्यवहारभूमि में उपासकों के दृष्टिकोण के भेद के अनुसार ब्रह्मरूप या परमात्मरूप अथवा भगवद्रूप से भिन्न-भिन्न कहा जाता है। ज्ञानी की दृष्टि में वह तत्त्व ब्रह्मरूप में अपने को प्रकट करता है, योगी की दृष्टि में परमात्मा के रूप में उसका प्रकाश होता है और भक्त अपने दृष्टिकोण से उसका भगवद्रूप में आस्वादन करते हैं। वस्तु एक होने पर भी विभिन्न दृष्टियों से उसकी विभिन्न रूपों में प्रतीति होती है। एक ही दूध दर्शनेन्द्रिय के द्वारा सफेद, रसनेन्द्रिय के द्वारा मधुर और त्वगिन्द्रिय के द्वारा कोमल, सरस और तरल प्रतीत होता है। अवश्य ही गुणों के भेद के अनुसार इस प्रकार की प्रतीति हो सकती है। उसी प्रकार गुण की प्रतीति की अलग-अलग धाराएँ हैं, यह भी सत्य है। ठीक उसी प्रकार तत्त्व-वस्तु एक होने पर भी उसमें जो अनन्त विचित्रताएँ हैं उन्हें जानने के लिए अनुरूप उपाय और साधना की आवश्यकता है। ब्रह्मदृष्टि अभेददृष्टि है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निष्कल देशकाल आदि से अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्दरूप अखण्ड वस्तु है। ब्रह्मस्वरूप का जो प्रकाश होता है, उसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। स्वयं-प्रकाश सत्य अपने प्रकाश से आप ही प्रकाशित होता है। ब्रह्म से पृथक् रूप में रहकर ब्रह्म-दर्शन नहीं किया जा सकता। यदि ब्रह्म का साक्षात्कार करना हो तो स्वयं भी ब्रह्म होना जरूरी है। उस अवस्था में देह नहीं रहती. भाव या माया की क्रिया नहीं रहती, किसी प्रकार का परिणाम भी नहीं रहता—वह नित्यसिद्ध विदेहावस्था है। केवल देह ही नहीं रहती, सो बात नहीं है, उस अवस्था में इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, यहाँ तक कि मन अथवा अन्तःकरण भी नहीं रहता। ज्ञानयोग से द्वैत की निवृत्ति हो जाने पर जब देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण की क्रिया शान्त हो जाती है तब इस तरह के स्वयं-प्रकाश तत्त्व का उदय होता है। इस अवस्था में चित्त की सब वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं। ज्ञानी ज्ञान की महिमा से ब्राह्मी स्थिति में पहुँचता है। यह विजातीय, स्वजातीय और स्वगत भेद से रहित परमावस्था है। देह के रहते इस अवस्था का विकल्परहित साक्षात्कार ठीक-ठीक नहीं होता। कदाचित् यदि होता भी है, तो उसके कारण देहपात शीघ्र हो जाता है। जीवन्मुक्ति अवस्था में वेदान्तमतानुसार अविद्यालेश विद्यमान रहता है, इसलिए उसे एक प्रकार से परा मुक्ति कहना नहीं बनता। ब्रह्मावस्था अद्वैतावस्था है, इसमें सन्देह नहीं है। परमात्मावस्था में योगी जीवात्मा और परमात्मा के भेदाभेद का अनुभव करता है। योगी अपने आत्मा का परमात्मा के अंशरूप में अनुभव करता है। प्रचुर अग्नि और उसकी चिनगारी में परस्पर जो सम्बन्ध है, परमात्मा और जीवात्मा

में भी ठीक वही सम्बन्ध है। तात्त्विक दृष्टि में प्रचुर अग्नि जैसे तेजःपुञ्जरूप है, चिनगारी भी ठीक वैसे ही तेजःपुञ्जरूप है। स्वरूपतः दोनों में कोई भेद नहीं है। किन्तु यह सत्य है कि प्रचुर अग्नि अंशी है और चिनगारी उसका अंश है। चिनगारी को अंशी मानकर अग्नि को अंश कहना नहीं बन सकता। भगवान् शङ्कराचार्य के "सत्यपि भेदापगमे" इस वाक्यांश से यही बात ध्वनित होती है। जीवात्मा और परमात्मा का जो संयोग है वही 'योग' कहलाता है। 'योग' शब्द किसी एक निश्चित वस्तु का प्रतिपादन नहीं करता—वह ऐसी एक अवस्था का प्रतिपादन करता है जिससे वस्तु दो रहने पर भी एक और एक रहने पर भी दो प्रतीत होती है। इस योगावस्था में देह रह सकती है, किन्तु उसकी तथा उसमें रहनेवाली इन्द्रियों की कोई कार्यकारिता नहीं रहती। योगी का आदर्शभूत परमात्मा इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य नहीं है। किन्तु इस अवस्था में मन एकाग्र अथवा निरुद्ध भूमिका में रहता है। मनोवृत्ति के एकाग्र होने पर जिस दृष्टि का विकास होता है, उसीसे परमात्मा का साक्षात्कार होता है। वृत्तिनिरोध की अवस्था में परमात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है।

ब्रह्मावस्था में देह-इन्द्रियों का रहना तो दूर की बात है, मन भी नहीं रहता। इसीलिए ब्रह्म-स्वरूप मन का अगोचर है। किन्तु परमात्मावस्था में योगभूमि में शुद्ध मन रहता है। इसी विशुद्ध मन से परमात्मा का दर्शन हो सकता है। परमात्मा का स्वरूप इन्द्रियों का अगोचर है। क्योंकि ब्रह्म के समान परमात्मा भी मूर्त देह से रहित हैं, किन्तु परमात्मा का अमूर्त या ज्ञानमय शरीर है—वह शुद्ध मन का गोचर एवं प्राकृत इन्द्रियों का अगोचर है। उस विशुद्ध मन से परमात्मा के ज्योतिर्मय विग्रह का दर्शन किया जाता है। उस अवस्था में द्रष्टा योगी का स्थूल प्राकृत शरीर में अभिमान नहीं रहता।

भगवत्स्वरूप ज्ञान का अगोचर एवं योग का भी अगम्य है। एकमात्र भक्ति के द्वारा ही भाव-दृष्टि से भगवद्दर्शन का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में भक्त और भगवान् में जो सम्बन्ध होता है उसमें भेद साफ रहता है। भगवद्-विग्रह सब इन्द्रियों द्वारा संवेद्य है। यह विग्रह इन्द्रियगोचर है, किन्तु ये इन्द्रियाँ संस्कारयुक्त तथा भक्ति के रंग से रँगी रहती हैं। अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध होकर जिस तरह परमात्मा का दर्शन करता है उसी तरह इन्द्रियाँ शुद्ध होकर भगवत्-मूर्ति का दर्शन करती हैं। परमात्मा का आकार ज्योतिर्मय है। वह शुद्ध मन से ज्ञेय तथा योगी के हृदय में अथवा अन्तराकाश में अनुभव-योग्य है। किन्तु श्रीभगवान् का विग्रह रूप, रस आदि सकल गुणों से सम्पन्न तथा भक्त के नेत्रों के सामने बाहरी आकाश में प्रकाशमान होता है।

(२)

साधारणतः ज्ञानमार्ग, योगमार्ग और भक्तिमार्ग विभिन्न पथों के रूप में माने जाते हैं। इसलिए ज्ञानमार्ग से जो ब्रह्मसाक्षात्कार होता है उसके साथ योगमार्ग के लक्ष्य परमात्मसाक्षात्कार का समन्वय नहीं होता। ठीक उसी प्रकार इन दोनों के साथ

भक्तिमार्ग के परम लक्ष्य भगवत्स्वरूप के दर्शन का भी समन्वय नहीं होता। ये तीनों मार्ग जैसे अलग-अलग हैं, वैसे ही प्रत्येक मार्ग का लक्ष्य भी परस्पर भिन्न है, किन्तु वास्तव में पूर्ण सत्य खण्डित तथा विभक्त नहीं है, इसलिए उसे पाने का मार्ग भी एक के सिवा भिन्न-भिन्न नहीं हो सकता। प्राप्ति चाहे एक ही महाक्षण में हो एवं उसमें क्रम का भान न रहे, अथवा क्रम का अवलम्बन कर एक अनुभूति के बाद अन्य अनुभूतिप्राप्ति पूर्वक हो, उससे कुछ आता जाता नहीं। किन्तु लक्ष्य वस्तु सर्वग्राही, सर्वात्मक, सर्वातीत एक अखण्ड सत्य है—इसमें सन्देह नहीं है। अक्रम क्षणिक सम्बोधि के प्रसङ्ग की आलोचना यहाँ पर नहीं करनी चाहिये, किन्तु सीढ़ियों की कतार के समान क्रमबद्ध मार्ग का एक मार्ग के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्तज्ञान, योग और भक्ति एक ही महाप्रस्थान-मार्ग की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

इस दृष्टि से विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि ब्रह्मज्ञान, परमात्मा के साथ योग और भगवद्-विषयक भक्ति, प्रेम और आनुषङ्गिक लीला आदि एक ही महापथ की अनुभूति के अन्तर्गत हैं। इस तत्त्व को यदि भली-भाँति समझना हो तो बहुत से विषयों पर सूक्ष्म विचार आवश्यक है। इस विचार में प्रवृत्त होने से पहले मायिक जीवन से मुक्त होकर ब्रह्मावस्था में पहुँचने के मूल रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक है।

ब्रह्मसत्ता सच्चिदानन्दस्वरूप है। इस सत्ता से अविद्या के सहयोग द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। अभेद अवस्था से पूर्ण भेदमय अवस्था में उतरने के लिए जिन सब मध्यवर्ती अवान्तर अवस्थाओं को पार कर आना पड़ता है, वे सब अवस्थाएँ उतरने के समय पूर्णतः अव्यक्त रहती हैं, इसलिए उस समय उनके सम्बन्ध में कोई विचार कदापि नहीं उठ सकता। किन्तु आरोह-क्रम में भेद से अभेद पर चढ़ते समय ज्ञान के आलोक से वे सब अवस्थाएँ अतीव में सूक्ष्मदृष्टि से देखी जाती हैं। उसके अनुसार पहले द्वैतभूमि में भेद-अवस्था के अनुरूप साधना होती है। द्वैतभक्ति की साधना से इस भेद-अवस्था का साक्षात्कार होता है। वास्तव में यह ज्ञान की ही अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु ज्ञान की उन्मुखता रहने से यह भक्ति क्रमशः ज्ञान में पर्यवसित होती है। इस भक्ति का विषय दिव्य होने पर भी स्थूल है एव इसकी साधनाप्रणाली का कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय से युक्त बाहरी देह से सम्बन्ध है। भक्ति के बाद बाहरी आलम्बन क्रमशः अन्दर प्रकाशित होने लगते हैं, अतः बाह्य-भक्ति अन्तर्जगत् में योगसाधन में परिणत हो जाती है। भौतिक गुणविशिष्ट बाहरी आलम्बन योगावस्था में चित्त की एकाग्र भूमि में ज्ञानाकार इष्ट के रूप में परिणत होता है। इस योगसाधना का एकमात्र करण है—वह देह नही है, ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु अन्तर्मुख और एकाग्र मन है। योग से परमात्मा के साथ जीवात्मा का मिलन होता है एवं इस मिलित अवस्था का दर्शन समाधिजनित प्रज्ञा के रूप में उदित होता है। इसके बाद यथार्थ ज्ञानमार्ग का श्रीगणेश आरम्भ होता है। तब क्रमशः द्वैत और द्वैताद्वैत ज्ञान अद्वैत ज्ञान के रूप में प्रकट होते हैं। इस अवस्था

का पूर्ण विकास होने पर मन का आत्यन्तिक निरोध होता है। तब एकमात्र अखण्ड चैतन्य ही आत्मस्वरूप से विराजमान होता है। यह देह से अतीत, इन्द्रियों से अतीत और मन से अतीत भाव की विशुद्ध चिन्मय अवस्था है। इस अवस्था में द्वैत ज्ञान या द्वैताद्वैत ज्ञान तो रहते ही नहीं अद्वैत ज्ञान भी नहीं रहता। योगावस्था का स्वगत-भेद, अर्थात् अंशांशिभाव यहाँ पर लुप्त हो जाता है। यह शुद्ध ब्रह्मावस्था है। इसका 'एकमेवाद्वितीयम्' कहकर उपनिषदों में वर्णन किया गया है। इस अवस्था में स्थिति होने पर देह, इन्द्रिय, और अन्तःकरण में कोई क्रिया तो रहती ही नहीं, उनकी प्रतीति भी शुद्ध आत्मस्वरूप में नहीं होती। विजातीय और सजातीय भेद का तो कोई प्रश्न ही नहीं, स्वगत-भेद भी इस स्थिति में नहीं रहता। यह अप्रमेय स्वयंप्रकाश नित्यसिद्ध ब्रह्मावस्था है। साधारणतः यह मोक्ष के नाम से अभिहित होती है, निर्वाण इसी का नामान्तर है।

सूक्ष्मरूप से विचार करने पर अनुभव होगा कि स्थूल द्वैत-अवस्था से ब्रह्म-साक्षात्कार तक सर्वत्र ही अज्ञान की क्रिया रहती है। ब्रह्म साक्षात्कार विशुद्ध अपरोक्ष ज्ञानस्वरूप है। इसके पहले की हर एक अवस्था में अज्ञान का, क्रमशः अधिकतर क्षीण होने पर भी, अस्तित्व रहता है। किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार उस सारे अज्ञान की मात्रा को निवृत्त कर स्वयं निवृत्त हो जाता है। यही स्वरूप-स्थिति है। यह अज्ञान और ज्ञान दोनों से परे है। साधक की विचार दृष्टि से यदि देखा जाय तो इसके बाद फिर कोई अवस्था हो नहीं सकती। यह स्थिति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

किन्तु वास्तव में यह बात हो नहीं सकती। वर्तमान लेख में यही मीमांसा विस्तार से की जा रही है। एक दृष्टि से यह सिद्धान्त वास्तव में चरम सिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु अन्य दृष्टि में एक गुप्त शक्ति की क्रिया प्रत्यक्ष होती है, जो किसी भी क्रम में उपेक्षायोग्य नहीं है।

(३)

जीव अज्ञान से आवृत्त है। इस अज्ञान की मात्रा प्रत्येक जीव में पूर्ण है, किन्तु पूर्णत्व का अपेक्षाकृत तारतम्य है। अवश्य ही यह तटस्थ दृष्टि से है। स्वरूप दृष्टि में तारतम्य नहीं है एवं रह भी नहीं सकता। महासमुद्र के जल में एक छोटे से घड़े तथा एक विशाल कलश के डूबने पर दोनों ही अपने-अपने आधार के अनुरूप पूर्णत्व प्राप्त करते हैं एवं जल से बाहर निकालने के बाद दोनों ही पात्र जल से भरे दिखाई देते हैं। पूर्णता दोनों में रहने पर भी छोटे घड़े की पूर्णता तथा विशाल कलश की पूर्णता में तारतम्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वैसे ही प्रत्येक जीव में अज्ञान की मात्रा उसके स्वरूप के आवरण के रूप में विद्यमान है। आपेक्षिक-दृष्टि से उसको पूर्ण ही कहा जा सकता है। साधन-कर्म के प्रभाव से क्रमशः यह आवरण क्षीण हो जाता है, बाद में फिर आवरण नहीं रहता। क्रिया, उपासना योग आदि सब कुछ साधनकर्मो के अन्तर्गत है। जितनी अज्ञान की मात्रा हो, उतनी

कर्ममात्रा का यदि अनुष्ठान हो तो अज्ञान का आवरण अवश्य दूर हो जाता है। तब स्वरूप का प्रकाश स्वाभाविक नियम से हो ही सकता है, किन्तु यह बात सत्य है कि अज्ञान की आवरणशक्ति तिरोहित हो जाने पर भी उसकी विक्षेप शक्ति रह सकती है एवं उसके कारण साधक का शरीर न गिर कर खड़ा रह सकता है। इस अवस्था में साधक अर्थात् योगी यदि पूर्ववत् साधनकर्म का अनुष्ठान करे तो यह साधनकर्म ज्ञानोत्तर कर्म कहलायेगा। जितनी साधना से आवरण की निवृत्ति होती है उसको करने के बाद भी यदि उक्त कर्म चलता रहता है, तो इस अतिरिक्त कर्म का फल ज्ञानी और मुक्त पुरुष को भी ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार के कर्म की शक्ति असाधारण है, एक प्रकार से यदि उसे असीम कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस कर्म के प्रभाव से 'ब्रह्मभूत' पुरुष भी आगे-आगे होने वाले उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। ज्ञान के साथ-साथ देहपात होने पर अथवा देहपात न होकर भी ज्ञानोत्तर कर्म सम्पन्न न होने पर इस प्रकार की महती स्थिति नहीं घट सकती।

ज्ञान की मात्रा अत्यन्त तीव्र होने पर अज्ञान की द्विविध शक्ति ही नष्ट हो जाती है। आवरण-शक्ति की तो बात ही नहीं है, विक्षेपशक्ति भी नष्ट हो जाती है। उससे साधारणतः जो प्रारब्ध भोग के सिवा अन्य उपायों से अखण्डनीय समझा जाता है, वह भी संचित कर्मों के समान जल जाता है। यह अतिदुर्लभ अवस्था है, किन्तु असंभव नहीं है। इस अवस्था में साधारणतः शरीर नहीं रह सकता। किन्तु विशेष स्थिति में शुद्ध शरीर का उन्मेष हो सकता है। जीव जीवत्व से मुक्त होकर यदि शिवत्व को प्राप्त हो सके तो जीव-शरीर भी शिवशरीर के रूप में, अर्थात् शाक्त-शरीर के आकार में प्रकाशित हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। तब उस विशुद्ध शाक्तशरीर के अविद्या के अधिकार में न रहने से उसमें उसका मूलभूत क्लिष्ट अज्ञान और क्लिष्ट कर्म भी नहीं रहते।

जब तक मनुष्य अपने वर्तमान देहारम्भक कर्मों से निस्तार नहीं पा सकता, तब तक शुद्ध स्तर के क्रम-विकास का अधिकारी नहीं होता। यह क्रम-विकास चिच्छक्ति की अभिव्यक्ति के अधीन है। देहारम्भक कर्म प्रकृति के भण्डार से जन्मकाल में प्राप्त हुए कर्मों के संस्कार हैं। आत्मा देही के रूप में प्रकट होते समय प्रकृति से तीन प्रकार का ऋण लेता है। स्थूल देह की सृष्टि के लिए वह प्रकृति के भण्डार से जिन उपादानों का संग्रह करता है, वे फिर प्रकृति के भण्डार में जमा करने पड़ते हैं। तब आत्मा प्रकृति के जाल से मुक्त होकर अपने स्वरूप देह से नित्य चैतन्य राज्य में अग्रसर होने में समर्थ होता है। इन तीन ऋणों का शोधन न कर सकने पर जीव पुनः अपने स्थान में प्रस्थान नहीं कर सकता। देहत्याग के समय यदि प्रकृति से मिले हुए उपादान प्रकृति में समर्पित होते हैं एवं जीव विशुद्ध निजस्वरूप में आविर्भूत होता है तो केवली मुक्त आत्मा के रूप में उसकी स्थिति होती है। किन्तु यदि शक्ति-उपार्जन की प्रक्रिया और अभ्यास जारी रहता है, अर्थात् जिस प्रक्रिया से त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ऋण का शोध होता है, यदि वह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है तो ऋणशोधन के बाद भी उस प्रक्रिया का फल आत्मा में आरोपित होता है। इस उद्वृत्त (शेष) शक्ति के प्रभाव से

योगी का अपनी-अपनी इन्द्रियों और मन आदि का संस्कार या शोधन कार्य सम्पन्न होना आरम्भ होता है। यह शक्ति ही तब चित्-शक्ति के रूप में योगी का रूपान्तर सम्पन्न करने में नियोजित होती है। तब शरीर रहने पर भी वह शरीर फिर पूर्व की भाँति अविद्या से उत्पन्न शरीर के रूप में नहीं गिना जाता। आत्मा में संचारित होकर शुद्ध आत्मा को शिवरूप में परिणत करना चित्-शक्ति का पहला काम है। इसका दूसरा काम है, योगी को परमात्मा के उपासक-रूप में परिणत करना तथा शरीर को किसी प्रकार शोधित कर अन्तःकरण को चिन्मयरूप में व्यक्त करना। यह शोधन-व्यापार यौगिक-क्रिया के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रभाव से मन भलीभाँति विशुद्ध हो जाता एवं चिन्मय-अवस्था धारण करता है। उसके बाद अर्थात् आत्मा और मन के शोधन के बाद इन्द्रिय और शरीर का शोधन-कार्य आरम्भ होता है। इस कार्य के आरम्भ होने के पहले चित्-शक्ति योगभूमि से भक्तिभूमि में पदार्पण करती है। तब इन्द्रियाँ और शरीर दोनों ही विशुद्धभाव धारण करते हैं एवं अन्तरस्थित अन्तर्यामी परमात्मा रूप, रस आदि बाह्यगुणसम्पन्न इन्द्रियगोचर रूप में बाहर अपने को प्रकट करते हैं। वर्तमान परिभाषा के अनुसार परमात्म-भूमि से यही भागवत-भूमि में अवतरण है।

जिस सूक्ष्म क्रिया के प्रभाव से ब्रह्मभाव से परमात्मभाव का आविर्भाव होता है, उसी के प्रभाव से ज्ञान योग में परिणत होता है। वैसे ही एक ओर जैसे परमात्म-सत्ता भगवत्सत्ता में अपने को प्रकट करती है, दूसरी ओर वैसे ही योग भी भक्ति के आकार को प्राप्त होता है। वास्तव में ज्ञान, योग और भक्ति एक ही उपाय की क्रम-विकसित केवल तीन अवस्थाएँ हैं।

योगभूमि में अखण्ड और अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप का भिन्नाभिन्न रूप से प्रकाश होता है। तब एक ओर अंशी के रूप में परमात्मा देह के अधिष्ठाता, नियन्ता और ईश्वर के रूप में अधिष्ठित होते हैं एवं साथ-ही-साथ उन्हीं के अंशरूपी जीवात्मा की उस परमात्मसत्ता के उपासक रूप में स्थिति होती है। यह उपासना ही योग है। इसके उत्कर्ष के साथ-साथ जीवरूपी अंश क्रमशः परमात्मरूपी अंशी के साथ साम्य को प्राप्त होता है। योग की पूर्णता के साथ-साथ यह साम्य भी भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाता है। यह कहना व्यर्थ है कि यह जीव जीव नहीं है, मुक्त पुरुष एवं परमात्मा उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी का अंशी है। इसलिए इस अवस्था में भेदाभेद सम्बन्ध ही वास्तविक सम्बन्ध है। ध्यान रखना होगा कि हम लोग ब्रह्म से परमात्मा में उतरने के साथ-साथ अभेदसत्ता से भेदाभेदसत्ता में उतर आते हैं। इसके उतरने की आवश्यकता और सार्थकता है; क्योंकि उतरे बिना अन्तःकरण अथवा मनोभूमि का पूर्णरूप से संशोधन नहीं हो सकता। मन अथवा चित्त कितना ही शुद्ध क्यों न हो, फिर भी वह जड़ के सिवा चेतन नहीं कहा जा सकता। किन्तु चित्-शक्ति के विकास से मन चिन्मय आकार धारण करता है। वह मन के आकार में रह कर भी भीतर-बाहर चिन्मय सत्ता से व्याप्त रहता है। इस अवस्था में विशुद्ध मन से परमात्मा का दर्शन हो सकता है। समाधि से उत्पन्न हुई प्रज्ञा इसी का आभास-मात्र है।

आरोह-क्रम में योगावस्था में जो साक्षात्कार होता है, वह मूल में ज्ञानस्वरूप होकर भी अविद्या से आवृत होने के कारण शुद्ध होने पर भी अशुद्ध है। इसीलिए विशुद्ध सम्यक् ज्ञान से उसका भी परिहार हो जाता है। इससे योगावस्था के ज्ञान से अद्वैतावस्था का ज्ञान श्रेष्ठ है। किन्तु अद्वैतावस्था का ज्ञान भी मूल में अज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए ब्रह्मस्थिति प्राप्त होने से पहले में जो ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, वह पूर्वोक्त ज्ञान से बिलकुल भिन्न है, क्योंकि उसमें अविद्या का लेशमात्र नहीं रहता। वह चित्शक्ति का विलास है। अविद्या अचित् शक्ति का विलास है।

ब्रह्मावस्था के बाद ब्रह्म से चित्-शक्ति-रूप जो सूत्र निकलता है, वह भाग्यशाली साधक को ही मिलता है। जिन लोगों की अवरोह के अन्त में ब्रह्म में स्थिति होती है, उन्हें उसका पता नहीं चलता। इस सूत्र का अवलम्बन कर के ही ज्ञान से योग एवं योग से भक्ति में संचार होता है। एक पक्ष में जैसे स्थूलतम से सूक्ष्मतम सत्ता में चढ़ना साधना के उत्कर्ष का परिचय देता है, दूसरे पक्ष में वैसे ही सूक्ष्मतम सत्ता से स्थूल-तम सत्ता तक उतरना उससे भी अधिक उत्कर्ष का परिचायक है। वास्तव में आरोह (चढ़ना) अवरोह (उतरना), इन दोनों के समन्वय से ही पूर्णत्व का विकास होता है। ब्रह्म से भगवत्-तत्त्व तक अवरोहण (उतरने) के मार्ग में विशुद्ध वासना का खेल रहता है। यह अक्लिष्ट अज्ञान का विलास है। आरोहण के समय अशुद्ध वासना का क्षय करते-करते क्रमशः अशुद्ध वासना से रहित ब्रह्मबिन्दु में पहुँच जाता है, किन्तु विशुद्ध वासना उस समय भी रह जाती है। दब जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती, इस-लिए अवसर मिलने पर स्वतः ही प्रकट हो जाती है। एवं चित् सूत्र के अवलम्बन से ब्रह्म से भगवान् तक का मार्ग खुल जाता है। यद्यपि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही तत्त्व है, तथापि ज्ञानी, योगी और भक्त की प्राप्ति की दृष्टि से इस पृथक्ता की सार्थकता का भी इनकार नहीं किया जा सकता। आरोहण-मार्ग में मलिन-मायातीत स्वरूप में स्थिति होती है, किन्तु अवरोहण-मार्ग में पूर्णस्वरूप शक्ति का विकास होता है, जिसके कारण आत्मिक सत्ता से लेकर देहसत्ता तक अखण्ड चिद्रस से आप्यायित हो जाती है। आरोह-मार्ग में इस तरह का आप्यायन नहीं हो सकता, क्योंकि तब चिद्रस का प्रादुर्भाव नहीं होता।

(४)

हम लोग उपनिषदों में जिस दहराकाश अथवा हृदयाकाश का वर्णन देखते हैं, वह योगी के उपास्य परमात्मभाव का आविर्भाव-स्थल है। विश्वदर्शन पृथक्रूप से ब्रह्मस्थिति के पहले होता है। यह विश्वदर्शन बाहरी जड़ आकाश में होता है। इसीलिए विश्व अपने से भिन्नरूप में अनुभूत होता है। यह जड़ आकाश-प्रपञ्च छिप जाने के बाद महाशून्य के रूप में प्रकट होता है। जड़ आकाश के हट जाने पर द्वैत-दर्शन नहीं रहता। तब एकमात्र अद्वैत स्वसत्ता ही स्वप्रकाशरूप में विराजमान रहती है। यदि दुर्भाग्यवश चित्शक्ति का उन्मेष न हो तो शक्तिहीन

अथवा लीनशक्ति-वाले ब्रह्म में स्थिति चरम स्थिति गिनी जाती है। यदि कर्म की अनुवृत्ति रहे तो चित्‌शक्ति का उन्मेष ब्रह्म में स्थिति के साथ ही साथ अवश्य हो जाता है। उस समय देह रहने से अन्तराकाश की अथवा हृदयाकाश की अभिव्यक्ति होती है। तेज अथवा मन्द जिस किसी उपाय से प्रकट हुई चित्-शक्ति सिर्फ आत्मा को ही मल से मुक्त नहीं करती, किन्तु अन्तर्लीन विश्व को भी चिन्मय-स्वरूप कर देती है। हाँ, यह साधारणतः क्रमशः होता है। पहले आत्म-संस्काररूप अभिषेकसिद्धि के बाद चित्-शक्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इस अवस्था में देह में स्थित मुक्त आत्मा जो साक्षी के रूप में रहता है, वह भी हट जाता है। लेकिन अवरोह के समय योगभूमि में जो साक्षात्कार होता है, अथवा ब्रह्मभूमि और उसकी दृष्टि के सामने हृदयाकाश या चिदाकाश का आविर्भाव होता है, जिसमें परमात्मरूपी सूर्य उगकर क्रमशः बढ़ता है और पूर्ण अखण्ड स्वरूप धारण करता है। तब साक्षीभूत आत्मा निरन्तर परमात्मा को अपने ही अङ्गी के रूप में देखता है—यही उनकी रूपसेवा रूप-उपासना या योग है। क्रमशः उस उपासना का उत्कर्ष सिद्ध होने पर अपने को साक्षात् सूर्यरूप में, अर्थात् परमात्मरूप में भी देखने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जिन लोगों का चित्त भक्ति की ओर झुका रहता है वे उस मण्डल में परमात्मा को अपने इष्टदेव के रूप में मूर्तिमान् देखते हैं। चित्त यदि ज्ञान की ओर झुका हो तो केवल मण्डलाकार ज्योतिःस्वरूप में ही साक्षात्कार होता है। विग्रहरूप में दर्शन होने पर क्रमशः चारों ओर का प्रभामण्डल सिमिट कर उस विग्रह में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे वह मूर्ति और मण्डल फैलकर समग्र चित्त में व्याप्त हो जाते हैं। चारों ओर के द्वार बन्द होने पर ऊपर के द्वार से वह हृदयाकाश में स्थित विज्ञानमय रूप बाहर निकलता है। निकलने के साथ ही साथ भौतिक सत्ता के सहारे बाहर जगत् में उसका आविर्भाव होता है। यह रूप स्थूल है और यह सर्वभूत-गुणों से युक्त है। इस रूप को देखने के लिए चित्त की अन्तर्मुखदृष्टि आवश्यक नहीं है। यह इन्द्रिगोचर रूप है, इसमें सन्देह नहीं है, फिर भी इसे सब देख नहीं पाते। योगी भक्तस्वरूप में इस रूप को देखता है। योगावस्था में जैसे अन्तराकाश में उदित परमात्मा के साथ आत्मा का दहराकाशभाव सम्बन्ध था, ठीक उसी के अनुरूप प्रणाली से इष्ट भगवत्-रूप और अपना रूप साथ ही प्रकाशित होते हैं, किन्तु अङ्गाङ्गिभाव से नहीं—पृथक् रूप से। योगी की योग-दृष्टि के सामने जो धाम प्रकट होता है, वह विशुद्ध मनोमय उपादान से बना है, किन्तु भक्त बाह्य इन्द्रियगोचर या स्थूल जगत् को ही अपने धाम के रूप में प्राप्त होता है। ज्ञानी की दृष्टि में साकार धाम का भान नहीं होता, योगी की दृष्टि में वह मनोमय या सत्त्वमय रूप में प्रतिभासित होता है। इन्द्रियाँ जब तक चिन्मयरूप में परिणत नहीं होती तब तक रूप-रस आदि से सम्पन्न बाहरी भगवद्विग्रह का दर्शन नहीं किया जा सकता। भगवद्देह ही नहीं, उस अवस्था में भक्त के प्रति सारा ही जगत् चिदानन्दमय भगवद्देह के रूप में परिणत होता है। धाम के दर्शन होने पर ही धाम के भीतरी परिवार-मण्डल का भी दर्शन होता है। इस धाम में प्रविष्ट हुए भक्त का अपना शरीर भी तब चिन्मय ही होता है। चिन्मय

जगत् में चिन्मय इन्द्रियाँ और चिन्मय मन से विशिष्ट आत्मा चिन्मय देह में भगवत्सत्ता का दर्शन और आस्वादन प्राप्त करता है। योगी की दृष्टि में जैसे स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न रूपों में परमात्मा का दर्शन होता है, वैसे ही भक्त की दृष्टि में भक्त की अप्राकृत चिन्मय इन्द्रियों के सामने भगवान् का अप्राकृत रूप स्थूल रूप में ही प्रकट होता है। भक्त स्वयं जो दर्शन प्राप्त करता है वह स्थूल तथा बाहरी होने पर भी साधारण लोगों की असंस्कृत इन्द्रियों का अगोचर है।

——

मैं कौन हूँ

मनुष्य-जीवन की अभिव्यक्ति और परम आदर्श

(१)

विचारशील मनुष्यों के जीवन में ही अन्तर्दृष्टि के उन्मेष की पृष्ठभूमिका रूप में अपने को जानने के लिए आकांक्षा जागृत होती है। मैं कौन हूँ ? कहा से आया हूं और कहाँ जाऊँगा ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस दृश्यमान प्रपञ्च के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है ? ये सब प्रश्न उस मूल आकांक्षा के ही अन्तर्गत हैं। यही आत्म-जिज्ञासा है। एवं इसी के समाधान के ऊपर मनुष्य के जीवन की सार्थकता निर्भर है। स्त्री, पुरुष, धनी, दरिद्र, बुद्धिमान्, अज्ञानी समान रूप से सबके मन में इसके सरल होने पर गम्भीर प्रश्न का उदय होता है—मैं कौन हूँ—'कोऽहम्' ? देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि मैं नहीं हूँ, यह विश्वास अनेकों को है। किन्तु मैं वास्तव में क्या हूँ, यह धारणा अनेकों को नहीं है। इसलिए देह आदि से पृथक् रूप में अपने को जानने पर भी उसी को अपना यथार्थ परिचय मान लेना नहीं बनता।

गुणज्ञानी के मुख से सुना जाता है कि मैं ही वह हूँ, 'सोऽहम्'। यही मेरा यथार्थ परिचय है। किन्तु फिर प्रश्न उठता है, वही कौन है ? उसी का क्या स्वरूप है ? उसे पहचानने का क्या उपाय है ? उसको पहचानना ही क्या अपने को पहचानना है ? उसको पाना ही क्या अपने को पाना है ? क्या पराया कभी निज होता है ?

तब क्या समझना होगा कि स्वयं दूसरा हुआ है, इसीलिए फिर उसे निज कर लेना होगा ? वास्तव में जो निज है वह पर क्यों होता है ? इसके मूल में क्या भ्रम है ? यह लीलामात्र है अथवा स्वभाव की प्रेरणा है ? अथवा इसका ऐसा कोई हेतु है जिसे जानने का उपाय नहीं है, जिसे वास्तव में हेतु भी नहीं कहा जा सकता ?

किन्तु मूल में निज, पर ही कहाँ हैं ? वहाँ बहुत नहीं हैं, दो नहीं हैं, युगल नहीं हैं, एकमात्र स्वयं या आत्मस्वरूप नित्य विद्यमान है। वह रूप होकर भी अरूप एवं अरूप होकर भी रूप है। वही एकमेवाद्वितीयम्—वही एकमात्र है। किन्तु 'एक' ऐसा बोध वहाँ नहीं है। वही चरम और परम सत्य है। वहाँ द्वैत नही है, अद्वैत भी नहीं है, सत्, असत् आदि कोई भी विकल्प नहीं है। वह विश्वातीत, अथच विश्वात्मक, एक-साथ दोनों अथच दोनों से रहित है। वही सब है, उसी में सब है, अथच उसमें कुछ नहीं है। फिर कुछ न रहने पर भी सभी हैं। यह निगूढ़तम अव्यक्त स्थिति योगियों के समाज में परम साम्यरूप में, ज्ञानियों के समाज में पूर्ण ब्रह्मरूप में तथा रसिकमण्डल में रसरूप में वर्णित है। यही सच्चिदानन्द की स्वरूप-स्थिति और स्वरूप-लीला दोनों ही है।

(२)

इस महासत्ता में सहसा एक स्पन्द सा उठता है, किन्तु इस स्पन्दन का उदय होने पर भी महासत्ता की निःस्पन्दता ज्यों की त्यों ही रहती है। यह स्पन्दन केवल एक ही बार उठता है, अथवा निरन्तर उठता है, यह मनुष्यों की सीमाबद्ध भाषा द्वारा निर्देश करना कठिन है। वास्तव में यह एक बार ही उठता है, यह जैसे सत्य है, यह निरन्तर उठता है, यह भी वैसे ही सत्य है, क्योंकि सामान्यरूप से जो एक है, विशेषरूप से वह नाना है। काल की तरङ्गों में विविध प्रकार का दर्शन होना स्वाभाविक है, किन्तु काल के ऊपर महाकाल के वक्षःस्थल में नाना स्पन्दन दिखाई नहीं देते—महाकाल का एक ही स्पन्दन काल के राज्य में अनन्त स्पन्दनों के रूप में फूट उठता है। यह निःस्पन्द-स्पन्दरूप युगल-अवस्था ही विश्वातीत स्थिति है। इसके भी जो अतीत अवस्था है, वही चरम-परम-अवस्था है। यह अतीत की अतीत-सत्ता यद्यपि निर्विकल्प अद्वैत-स्थिति-रूप से स्वीकृत है, फिर भी इसका उस रूप से निर्देश करना नहीं बनता। कुछ लोग इसका पूर्ण ब्रह्म की स्वरूप-स्थिति अथवा आनन्दमयी निष्ठा के रूप में उल्लेख करते हैं।

यह स्पन्द का उदय वास्तव में प्रणव का ही उल्लास है, अर्थात् परब्रह्म-सत्ता में शब्दब्रह्म का आविर्भाव है। वस्तुतः यह विशुद्ध सत्त्वमय महामाया का उन्मेष है, जिसके प्रभाव से परब्रह्म के स्वरूप का सन्धान, ज्ञान और साक्षात्कार होता है। एक तरह से यह नित्य-सिद्ध अवस्था है, पर बुद्धिक्षेत्र में यह चरम-परम-दशा के परक्षणवर्ती के रूप में प्रतिभासमान होती है। चरम स्थिति स्वयंप्रकाश बोधरूप है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु उसमें अन्तर्विश्लेषणरूपी स्व-स्वरूप का अवधान या अनवधान कुछ भी नहीं रहता। वह इतर-निरपेक्ष स्व-स्वरूप में स्वतन्त्र स्थिति है। वह 'केवल' ब्रह्मभाव मात्र है। किन्तु महामाया की दशा या माया की दशा 'शबल' ब्रह्मभाव के रूप में वर्णनीय है।

पूर्णानन्दमयी निष्ठा या स्वरूप में स्थिति चित् और सत् की अविभक्त प्रतिष्ठा है। किन्तु महामाया और माया की स्थिति में चित् से सत् का और सत् से चित् का विभाग-सा होता है। सच्चिदानन्दमय पूर्ण अद्वय स्थिति के ऊपर स्पन्दन के उदय या प्रणव के प्रकाश से एक ओर चित् और दूसरी ओर सत् दोनों मानो अनादि सिद्धरूप से ही फूट उठते हैं। यही विरुद्ध भाव के पहले-पहल स्फुरण की पृष्ठभूमि है। चित् की ओर सदा जाग्रद्भाव और सत् की ओर एक तरह की सदा सुषुप्ति का भाव विद्यमान रहता है। अविभक्त स्वरूप भावातीत, गुणातीत और निःस्पन्द है। किन्तु विभक्त ऐसे सत्-चित् स्वरूप की एक ओर (चित् की ओर) बाहरी भाग में विशुद्ध सत्त्वमय शुद्धा प्रकृति और दूसरी ओर (सत् की ओर) त्रिगुणमयी मलिन प्रकृति या माया स्थित है, यह जानना होगा। भावातीत के ऊपर भाव एक प्रकार का आवरण-सा है। चाहे वह स्वच्छ ज्ञानमय आलोक का आवरण हो अथवा चाहे गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकार का आवरण हो, दोनों ही भावातीत नग्न-स्वरूप के स्वेच्छा

से गृहीत आवरण हैं, यह मानना ही होगा। इसके मूल में रहता है प्रणव का उन्मेष। अवधूत-मत में महामाया प्रणवपुरुष की अर्द्धमात्रा है और माया उसकी तृतीय मात्रा या 'मकार' है। जल जमकर हिम-शिला बन जाता है एवं वह हिमशिला जल पर ही भासती है और जल को आवृत करती है। वस्तुतः जल का स्वरूप आवृत नहीं होता, हो भी नहीं सकता। अथच एक आवरण का तथा आवरणभङ्ग का अभिनय भी हो जाता है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिनय जो करते हैं, वे ही फिर साक्षी बनकर निर्लिप्तरूप से अभिनय देखते हैं। अथच अभिनय करते भी नहीं और देखते भी नहीं। दूसरे पक्ष में वह अभिनय देखकर साक्षिभाव को खो डालते हैं और आत्मविस्मृत-से और मुग्ध-से होकर तथा कर्त्ता का स्वांग बना कर सुखदुःखरूप सांसारिकता का वहन करते हैं। सब कुछ एक साथ।

यह तो विशुद्ध सत्त्व की बात हमने कही है, वह परब्रह्म की स्वाभिन्न परा शक्ति के प्रथम उन्मेष का एक परिणाम है, जो परब्रह्म के महाकारण या महामाया शरीर के उपादान और उनके स्वरूप के ज्ञानरूप से प्रसिद्ध स्वरूप का नित्यसिद्ध प्रकाश होकर भी उसका आवरणमात्र है। वस्तुतः स्वयंप्रकाश स्वरूप इसकी भी अपेक्षा नहीं करता। महामाया-शरीर प्रणव के बीजपदवाच्य और पर नाद द्वारा अभिव्यक्त होता है; यह नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त और नित्यशुद्ध अवस्था की दिशा है। और एक दूसरी दिशा की बात भी कही गई है, जहाँ स्व-स्वरूप का बोध ही नहीं रहता, यह भी साथ ही साथ है। किन्तु बुद्धिक्षेत्र में इसे शुद्ध सत्त्व की परवर्ती मानकर क्रम में गणना की जाती है। वास्तव में दोनों ही स्थितियाँ एक साथ सिद्ध और क्रमहीन हैं। परब्रह्म अपने को स्वयं जानते हैं, यह अनादि सिद्ध है; अपने को नहीं जानते हैं, यह भी अनादि सिद्ध है। पर बुद्धि के प्रतिभास से दोनों में एक कल्पित क्रम मान लिया जाता है। ज्ञान और अज्ञान से अतीत सत्ता के ऊपर ज्ञान और अज्ञान की ये दोनों अवस्थाएँ आरोपित हैं, यह भी सत्य है।

'अहं ब्रह्मास्मि' या 'ब्रह्मैवाहम्' यह ज्ञान ही परमेश्वर का अपने स्वरूप का ज्ञान या महामाया है। जिस स्थिति में इस ज्ञान का तिरोधान होता है, उसमें स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र का प्रकाश रहता है, जो तत्त्वातीत परम तत्त्व है। जिस स्थिति में इस ज्ञान का भी तिरोधान होता है और स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र भी भासता नहीं, वह अज्ञान अथवा माया है। वह प्रलयरूप स्थिति है।

शरीर रहने पर ही अभिमान रहता है। चरम-परम अवस्था के सिवा सभी अवस्थाओं में शरीर रहता है तथा उसका अभिमानी पुरुष भी रहता है। महाकारण और महामाया शरीर के अभिमानी परब्रह्म की ईश्वर या सदाशिव मूर्ति हैं। उसी प्रकार उनके कारणरूप मायाशरीर की अभिमानी उनकी रुद्रमूर्ति हैं।

(३)

प्रश्न हो सकता है कि भावातीत स्थिति से आदि भावमय और महाभावस्वरूप-भूत महामाया का या विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव किस तरह होता है ? यह अत्यन्त

गम्भीर प्रश्न है। मानव-बुद्धि इसका युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे सकती, इसलिए परब्रह्म की नित्य ज्ञानमय बुद्ध-अवस्था और नित्य अज्ञानमय जड़-अवस्था, अर्थात् उनका अनादि जागरण और अनादि निद्रा दोनों को नित्यरूप मान लेना पड़ता है। महामाया और माया के क्षोभ के परे प्रवाह-नित्य-अवस्था भी नित्य मानी गई है, यद्यपि इन दोनों नित्यताओं में अन्तर दिखलाई देता है। चरम-परम स्थिति क्षोभ से अतीत स्पन्दातीत होने से नित्य और अनित्य दोनों से अतीत है। किन्तु वास्तव में रहस्यज्ञाता योगी जानते हैं कि पर्दे के भीतर महाशक्ति की निर्माणशाला में स्पन्दन का खेल नित्य चलने के कारण रचना का कार्य सदा गुप्त रूप से चल रहा है। वस्तुतः प्रणव की अर्द्धमात्रा ही कहाँ से आई ? श्रुति और महात्माओं के वचनों से ज्ञात होता है कि प्रणव का ऐसा एक स्वरूप है, जिसमें मात्रा न रहने पर भी ('अमात्र' होने पर भी) अनन्त मात्राएँ हैं और अनन्त मात्रा ('अनन्त-मात्र') होने पर भी मात्रा नहीं है। दोनों ही पूर्ववर्णित भावातीत के अन्तर्गत हैं; किन्तु सृष्टि-सङ्कल्प के समय जिस परम-पुरुष का उत्थान होता है, उसमें 'एक' भाव की स्फूर्ति होकर उसी से नाना भावों का विस्तार होता है। इस 'एक'-भाव के स्फुरण की पृष्ठभूमि में शुद्ध मनोमय सत्ता में खण्ड-खण्ड अनन्त भावों का आभास जाग जाता है। यह योगमाया-राज्य का व्यापार है। अवयवों की समष्टि से जैसे अवयवी सिद्ध होता है, वैसे ही अवयवी का स्वरूप स्वतः सिद्धरूप में भी स्वीकार करना चाहिये। द्रव्य गुणों का समष्टिमात्र है अथवा गुणों से अतिरिक्त है, शिव शक्ति का सङ्घातरूप है अथवा शक्ति से भिन्न है, प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्थामात्र है अथवा उनसे विलक्षण है; इन सब विषयों में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार सत्य के विभिन्न रूप समान रूप से प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रस्थान-भेद से सभी मत उपादेय हैं।

अतीत अवस्था से जब 'एक' का आविर्भाव होता है, तब क्षणमात्र में ही होता है और अखण्डभाव से ही होता है, उसमें क्रम नहीं रहता। सब समष्टियाँ एक साथ प्रकट होती हैं। यह नित्यसिद्ध परमात्मा की अवस्था है। किन्तु बीच का रहस्य जाल काट सकने पर जो दिखाई देता है, उससे वैज्ञानिक स्तब्ध हो पड़ते हैं। इसीलिए 'आश्चर्यवत् पश्यति' कहकर विस्मय प्रकट किया गया है। एक में जो अनन्त का खेल चल रहा है वह यदि दिखाई दे तो चकित हुए बिना रहने का कोई उपाय नहीं है। एकमात्रा ही एकाग्र मन की मात्रा है, जिसके ऊपर सृष्टि का सामूहिक ज्ञान अथवा विश्व प्रतिष्ठित होता है। एक का भंग हो जाने पर ही सर्वप्रथम दो भागों का पता चलता है। ये दो भाग ही गुण-प्रधानभाव से रहित साम्य में स्थित होकर अद्वयरूप में या एकरूप में अपने को प्रकट करते हैं। भंग होने के समय 'एक' पहले दो रूपों में विभक्त होता है। इसलिए एकमात्रा से अर्धमात्रा में उन्नयन होता है। एक में दो अर्द्धमात्राएँ प्रकट होती है। उनमें एक मात्रा 'एक' की ओर सम्बद्ध होकर 'एक' में प्रतिष्ठित समूची सृष्टि के साथ शक्तिराज्यी का सम्बन्ध अक्षुण्ण रखती है, दूसरी क्रमशः पहले के तरह अर्धमात्रा के क्रम से विभक्त होते-होते अनन्त की ओर दौड़ती है।

अर्थात् अर्द्धमात्रा के दो भागों में विभक्त होने पर उससे भी फिर अर्द्धमात्रा उत्पन्न होती है। यहाँ भी उसकी एक अर्द्धमात्रा पहली अर्द्धमात्रा की ओर सम्बद्ध होती है और दूसरी अर्द्धमात्रा अर्थात् आदि दृष्टिसम्मत एक चतुर्थांश मात्रा अनन्त को ओर धावित होती है। ये सब मात्राएँ मन की ही मात्राएँ हैं। अतएव एकमात्र मन से अर्द्धमात्र मन सूक्ष्म है। उससे एक चतुर्थांश मन और भी सूक्ष्म है। इस तरह मन क्रमशः पिस कर चूर्णाकार को धारण करता है, यह ज्ञात होता है। इस विभाग या विश्लेषण क्रम में कहीं भी विश्राम का स्थान नहीं है। व्यवहार के अनुरोध से विश्रान्ति माननी पड़ती है।[1] योगी लोगों ने भी उसी तरह मन के विश्लेषण का व्यवहारसम्मत एक अभाव स्थान माना है। वह $\frac{१}{५१२}$ मात्रा है। युक्ति द्वारा इसका भी विभाग किया जा सकता है। किन्तु परिमित शक्तिवाले योगियों को भी, चाहे वे कितने ही ऐश्वर्यबल-सम्पन्न क्यों न हों, कहीं न कहीं विश्राम लेना पड़ता है। अमितशक्ति के अधिकार में स्थित होने पर यह अवधि होगी १ / अनन्त मात्रा। यही परब्रह्म से अभिन्न महाशक्ति की मात्रा है। महायोगी लोग इसीको ब्रह्म का अणु कहकर परमाणु के रूप में निर्देश करते हैं।

विज्ञानदृष्टि से जो एकाग्रचित्त से बोध की ओर अभिमुख गति का विश्लेषण कर सकते हैं, वे पूर्वोक्त आलोचना की सारवत्ता समझ सकेंगे। अनन्त मात्राओं को इकट्ठा कर एक मात्रा में परिणत करना जीव के लिए संभव नहीं है। महामाया के अनुग्रह के बिना यह साधक अथवा योगी के व्यक्तिगत पुरुषार्थ से साध्य कार्य नहीं है। एक को प्राप्त करना ही होगा। अथवा अर्धमात्रा को तोड़कर शून्य में परिणत करना ही होगा। किन्तु यह मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसलिए महाकरुणा का आश्रय अवश्य करना चाहिये। अतः $\frac{१}{५१२}$ मात्रा जो शेष रहती है, उसे नष्ट करने का व्यर्थ प्रयास न कर पूर्णतः कृत्स्नभाव में अर्पण करना चाहिये। उसो से समना-अवस्था से उन्मत्त-भूमि में प्रवेश हो सकता है; अन्यथा नहीं। मन के द्वारा ही मन से अतीत भूमिलाभ संभव है।

जिसका हम पूर्व में महामाया के नाम से उल्लेख कर आये हैं, उसीका एक दूसरा पहलू योग-माया है। इस योगमाया का राज्य ही अर्द्धमात्रा का लीलागृह है। एक अर्द्धमात्रा से अनन्त विभज्यमान अर्द्धमात्राएँ इसके अन्तर्गत जाननी चाहिये। यही विज्ञान राज्य है, बैन्दव जगत् है, अप्राकृत विशुद्धसत्त्वमय है, ज्ञानानन्दमय लीला-

१. जैसे वैशेषिक आचार्य अनित्य द्रव्यों की विभाग-कल्पना कर उसकी एक अवधि स्वीकार कर उसे परमाणु कहते हैं। किन्तु बौद्ध आदि दार्शनिक इस प्रकार की अवधि स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः वैशेषिकसम्मत परमाणु भी संघातमात्र है, यह योगभाष्यकार व्यासदेव ने भी स्पष्टरूप से स्वीकार किया है। अयुतसिद्ध अवयव संघात ही परमाणु हैं, यही उनका मत है। वस्तुतः इस अवयव की भी विभाज्यता है। वास्तविक परमाणु वही है, जो सचमुच अविभाज्य है। वही ब्रह्माणु या आगमशास्त्र की कला है।

भूमि है। अर्द्धमात्रा ही योगमाया है। माया कारणसमुद्र है। कार्यरूप मायिक जगत् की उत्पत्ति उस कारणसमुद्र से होती है। निष्कल स्थिति से स्पन्द के सहयोग से कलामयी प्रकृति का उन्मेष होने पर उसकी कुछ कलाएँ उस कारण-जल में गिरती हैं। इन्हीं कलाओं के कारण जल में गिरने के बाद योगमाया का आविर्भाव होता है। महामाया का जगत् शुद्ध विश्व का रूप है, माया का जगत् मलिन विश्व का रूप है एवं योगमाया विश्व में भगवत्-लीला की संयोजनकारिणी आदि शक्ति अर्धमात्रा है। कारण सलिल से ही काल का आविर्भाव होता है। किन्तु इस विषय में विशेष विचार इस प्रसंग में अनावश्यक है।

(४)

स्वातन्त्र्यवश जब स्पन्दन का उदय हुआ, तब एक ओर जैसे सर्वज्ञ नित्य जाग्रत् अवस्था का आविर्भाव हुआ, दूसरी ओर वैसे ही ज्ञानहीन अनादि निद्रामग्न एक अवस्था का आविर्भाव हुआ। पहला महान् और दूसरा अणु है, अर्थात् अनन्त अणुओं का सामूहिक स्वरूप है। जो महान् हैं, वे नित्यबुद्ध परमात्मा और एक हैं तथा जो अणु हैं, वे अनन्त अणुओं के संघातरूप सुषुप्त महासत्ता अर्थात् नाना हैं। यद्यपि बुद्धि की दृष्टि से दिखलाई देता है कि संकोचवश अणुभाव का उदय होता है एवं साथ ही साथ वे सब अणु मायाकवलित होते हैं, तथापि यह सत्य है कि इस स्थिति में कालगत क्रम नहीं रहता, इसलिए क्रमिक व्यापार दिखलाई नहीं देता।

अणुत्व महामाया द्वारा किया गया संकोच है, जिससे स्वरूपगत अहंनिष्ठ पूर्णता का अभाव होता है एवं अहं का अवलम्बन कर इदं-रूप का या द्वितीय भाव का उदय होता है। निर्विकल्प अद्वय सत्ता ही मूल है। बुद्धि की दृष्टि से उन्मेषकाल में पहले होता है अभेद-दर्शन, एवं उसके बाद यह अभेददर्शन माया में लुप्त हो जाता है। इसके पश्चात् माया से उठने पर भेददर्शन का आरम्भ होता है। शिवावस्था में अभेददर्शन के मूल में आत्मा में आत्मभाव बना रहता है। यही नित्य जाग्रत्-अवस्था है। इस जगह एक धारा है। वही महामाया का जगत् है, जहाँ दो तरह के चेतन-सत्त्व दिखाई देते हैं। एक में अहन्ता का लोप नहीं हुआ, अथच उसीके ऊपर इदंता के आभासन से विशुद्ध अध्वा का विकास हुआ है। किन्तु दूसरे में अहन्ता का लोप हुआ था एवं उसके बाद उसके अङ्गरूप से इदन्ता का आश्रय कर अहन्ता का पुनः उदय हुआ था। इसी अवस्था में सांसारिक जीव के रूप में कर्म कर के और उनका फल भोग कर जन्म-जन्मान्तर कट गये। अन्त में विवेकज्ञान के उदय से इदंभाव में आश्रित अहंबोध निवृत्त हुआ एवं आत्मस्वरूप में अहंबोध का पुनः उदय हुआ। इसमें प्रथम प्रकार का चेतन सत्त्व दिव्य सृष्टि के अन्तर्गत है। यह नित्यसिद्ध है। यद्यपि इस सृष्टि में भी इदंता का आभास स्तर के अनुसार क्रमिकरूप में विद्यमान रहता है, फिर भी इस भूमि में मलिन माया का सम्पर्क बिलकुल नहीं रहता। दूसरे प्रकार के चेतन सत्त्व मायिक जगत् में पड़ कर पुनर्वार माया से निकले हैं, पर शिवत्व की प्राप्ति अब भी उसे नहीं हुई। इन दूसरे प्रकार के

सत्त्वों को यथासमय शिवत्त्व की प्राप्ति होगी। किन्तु पहले प्रकार के सत्त्वों को शिवत्व की प्राप्ति कभी नहीं होगी, क्योंकि वे सकल सत्त्व जगत्-व्यापार के लिए आवश्यक सृष्टि के अन्तर्गत हैं।

माया के गर्भ में अनन्त जीवाणु प्रसुप्त हैं। यह प्रसुप्ति काल के अन्तर्गत निद्रा-वस्था से बिलकुल भिन्न है। यह अनादि सुषुप्ति है। ये सब जीव यद्यपि अणुरूपी हैं, फिर भी प्रत्येक में अपना-अपना भाव विद्यमान रहता है। यही उनका स्वभाव है। सृष्टिकाल में जो वैचित्र्य घटता है यही उसका कारण है। यह वैचित्र्य कर्मजनित नहीं है। जो अनादि काल से निद्रामग्न हैं, उनका कर्म कहाँ? निद्रा से उत्थित होने पर यथासमय कर्म आरम्भ होगा—मनुष्यदेह में। जब तक नरदेह-प्राप्ति नहीं होती तब तक कर्म का सूत्रपात नहीं होता। चौरासी लाख योनियों में जो विचित्रता है, वह योनिगत विचित्रता है, कर्मगत नहीं।

मायागर्भ में लीन अनन्त जीव परमात्मा के ही अंश (भिन्नांश) हैं, किन्तु प्रत्येक में भेद है। यह भेद सदा ही विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि मुक्ति में भी वह हटता नहीं। अवश्य ही यह द्वैतदृष्टि का अवलम्बन कर कहा गया है। अद्वैतदृष्टि में तो सभी शिवरूपी हैं, अर्थात् सभी परस्पर भिन्न होकर भी शिवरूप से अभिन्न हैं। आत्मगत विशेष एवं मूल का पृथक्त्व प्रयोजनानुसार मानना ही पड़ता है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सभी वही भावातीत अद्वयसत्ता हैं जो एक होकर भी नाना है एवं नाना होकर भी एक और अव्यक्त है।

व्यक्ति-जीवन की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब इस स्वभाव का पूर्ण विकास होता है। शिवोऽहं रूप में अपने शिवत्व की अनुभूति के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत विशेष भाव की भी अनुभूति जाग्रत् होने पर भावातीत में प्रतिष्ठा सार्थक कही जाती है। 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। इस प्रश्न के उदय और समाधान के लिए ही इस विराट् जागतिक लीला का सूत्रपात हुआ है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के नाना सूत्रों से युक्त होकर, अद्वैत महादर्शन में स्थिति ग्रहणपूर्वक व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के अनुसार योगमाया की लीलाभूमि में अभिनय की प्रक्रिया के अवलम्बन से निज रस के आस्वादन में ही इस प्रश्न का समाधान दिखाई देता है।

(५)

अनादि निद्रा टूटने के समय जीव माया के गर्भ से कालराज्य में क्रमविकास की धारा में पड़ता है। निद्रा टूटने के कारण नित्य जाग्रत् परमात्मा का चैतन्यमय उल्लास होता है। यह उल्लास माया को मुग्ध करता है और उसके गर्भ में स्थित जीवों के शरीर को मायिक कला द्वारा रचकर तथा उन्हें उन शरीरों से युक्त कर कालराज्य में प्रेरित करता है। माया योनिरूप है—'योनेः शरीरम्', शरीर योनि से ही उत्पन्न होता है। प्रचलित भाषा में कहा जाता है कि जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर अन्त में मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है, यह सर्वथा सत्य है।

परमात्मा अपने अंश जीव को निजसत्ता से विभक्त सा कर माया गर्भ में संचालित करते हैं। यही उनका निग्रह है। यह परमात्मा की ईश्वर भूमिका का अभिनय है। वस्तुतः परमात्मा स्वयं ही अंशात्मक अणु बन कर अपने से पृथक् न होकर भी पृथग्वत् होकर माया में पड़ते हैं, अर्थात् सदा जाग्रत् पुरुष तिरोधानशक्ति के प्रभाव से निद्रित होते हैं। फिर वे अनुग्रह शक्ति की प्रेरणा से सदाशिव या गुरु दयाल के रूप में माया-स्थित जीव की ओर चिन्मयी दृष्टि डालते हैं, जिससे सोया हुआ जीव जाग उठता है। माया के गर्भ में जीवाणु शरीर, इन्द्रियादि रहित होकर मूर्च्छित से पड़े रहते हैं, किन्तु जागते ही वे अपने अनुरूप शरीर आदि प्राप्त करते हैं एवं क्रम-विकास के मार्ग में अग्रसर होते हैं।

एक बात इस प्रसंग में ध्यान में रखने योग्य है। जैसे नित्य जाग्रत् पुरुष से चिदंश चित्कण के रूप में सुषुप्तिमय माया में प्रक्षिप्त होते हैं, वैसे ही सुषुप्ति का आवरण भी अल्पाधिक नित्यजाग्रत् पुरुष में संचारित होता है। दोनों ही व्यापार एक ही समय में होते हैं। माया के सम्बन्ध के बिना महान् की अणुरूपताप्राप्ति और स्खलन नहीं हो सकता। पक्षान्तर में चित् के सम्बन्ध विशेष के बिना माया भी क्षुब्ध नहीं हो सकती। जो लोग जीव को परमात्मा का भिन्नांश अथच सनातन अंश कहते कहते हैं, उनकी दृष्टि इसी ओर क्रिया करती है।

सुषुप्ति टूटने के बाद काल के स्रोत में आने के समय जीव चिद्-अचित् मिश्र-भाव धारण करता है। प्रधानतः चिदंश आत्मरूप में और अचिदंश उसके आवरण और व्यञ्जक देह के रूप में प्रकट होता है। असली बात यह है कि देहावच्छिन्न क्षीण-तम ज्ञान क्रमविकास के मार्ग में अवतीर्ण होता है और देह की क्रमिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ पुष्ट होकर क्रमिक पूर्णता प्राप्त करता है। इसी का नाम आत्मा का चौरासी लाख योनियों में भ्रमण है। यह होता है प्रकट भाव में, किन्तु ज्ञान में जो अज्ञान का प्रवेश होता है, वह गुप्त भाव से होता है। ज्ञान की पृष्ठभूमि में अज्ञान के संचारित होने पर अणुत्व की उत्पत्ति और ज्ञान का क्रमसंकोच अवश्य होता है। तदनन्तर ये दोनों धाराएँ मनुष्य में आ मिलती हैं। देह के क्रम-विकास की सीमा चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य देह प्राप्ति में है एवं ज्ञान के क्रमसंकोच की सीमा असंख्य क्रम निम्न चित्ज्ञान के परे मानवीय ज्ञान में है। यह मानवीय ज्ञान ही अहंज्ञान है। अहंज्ञान इदंभावापन्न भलीभाँति अभिव्यक्त मानव शरीर का अवलम्बन कर अध्यास रूप में परिस्फुट होता है।

(६)

यदि विकास और संकोच के मार्ग में सात विभागों की कल्पना की जाय, तो ज्ञात होगा कि जैसे परमात्मा से मनुष्य का स्थान सातवाँ है, वैसे ही मनुष्य से भी परमात्मा का स्थान सातवाँ है। अवश्य ही समझने और समझाने की सुविधा के लिए इस तरह की कल्पना की गई है। एक ओर निद्रित आत्मा महानिद्रा में

मग्न है, तो दूसरी ओर सदा जाग्रत् आत्मा अनादि ज्ञान के साथ परमपुरुष-रूप में विराजमान हैं—मानो एक ही आत्मा के दो पृष्ठ हों। शक्ति के उल्लास के कारण सुषुप्ति की तरफ से स्वप्न के भीतर से गति होती है जागरण की ओर। साथ ही साथ परम जाग्रत् पुरुष की ओर से स्वप्न के भीतर से सुषुप्ति की ओर गति होती है। मानव में आकर बिन्दु गर्भ में ये दोनों धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। इसलिए मनुष्य के शरीर में चौरासी लाख योनियों में व्यापक प्राकृतिक रचना का चरम विकास दिखाई देता है। इस विकास के साथ सुषुप्ति से उठी चेतना क्रमशः व्यक्त होते-होते जाग्रत् चेतना में परिणत हो जाती है। यही मानव देह में अभिव्यक्त चेतना है। इस चेतना में वास्तविक अहंभाव की स्फूर्ति होती है। यह अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु है। इस अहंभाव को व्यक्त करने के लिए ही परमात्मा की नींद टूटती है और स्वप्नावस्था का अवसान होता है। क्रम से विन्यस्त विभिन्न योनियों में चेतना के क्रम-विकास का पथ प्रशस्त होता है। वस्तुतः शरीर का क्रमिक विकास ही स्फुट अहं के रूप में रचना की अभिव्यक्ति प्राप्ति का क्रम है। नरदेह की चेतना में इस विपुल प्राकृतिक धारा की परिसमाप्ति होती है। इसके पश्चात् कर्तृत्वाभिमानवाले मनुष्य में कर्म का उदय दिखाई देने से उसके फलभोग के लिए अनुरूप भोगायतन या देहप्राप्ति के प्रसंग में संसार जीवन का आरम्भ होता है। नरदेह की रचना के पूर्व चेतना हीन पत्थर और धातु के रूप में, अन्दर चेतनावाले उद्भिद् के रूप में, बाहर चेतनावाले अल्प चेतन कीड़े मकोड़ों के रूप में और तदुपरान्त अधिक चेतनावाले पक्षी और पशुदेह के रूप में आविर्भाव होता है। यही योनिक्रम है। जिस क्रम का अवलम्बन कर देह का आवर्तन होता है, उसमें संस्कार संचित होते हैं। धीरे-धीरे सूक्ष्म देह और कारण देह की रचना होती है एवं अहंज्ञान का उदय और विकास होता है। चेतना का उदय होने पर इदंभाव अथवा अनात्मभाव देह के रूप में घनीभूत होता है। अन्नमय शरीर और प्राणमय शरीर इस प्रकार के शरीर हैं। मनोमय देह में यह इदंभाव विशेषरूप से पुष्ट होता है। तब अहंभाव आविर्भाव की भूमिका की रचना होती है। अहंभाव विज्ञान का आभास लेकर मनुष्यदेह में फूट उठता है। अन्नमय कोष से विज्ञानमय कोष पर्यन्त इस आभास का विकास ही क्रम-विकास का इतिहास है। तत्त्व विचार में पृथिवी से महत्तत्त्व की सीमा तक इस विकास का अधिकार जानना होगा। इसीलिए मनुष्य देह समूचे विश्व का प्रतीक है, क्योंकि पिण्ड में समग्र ब्रह्माण्ड का समावेश रहता है। यह मनुष्य देह ही क्षेत्र है एवं इसको जो यथार्थ रूप में जानता है, वही वास्तविक क्षेत्रज्ञ है।

दूसरी बात यह है कि देहरूप इस अनात्म वस्तु की रचना के साथ-साथ अभिन्न-रूप से ओत-प्रोत होकर ज्ञान रहता है। यही अहंभाव की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। यह प्रणाली बड़ी ही अद्भुत है। यहां सब जगह सब तत्त्व हैं। वह जो मूल अज्ञान-सत्ता है, वही प्रकृति है और जो मूल ज्ञानसत्ता है, वही पुरुष है। प्रकृति में अहं नहीं है, यह सत्य है। उसी तरह पुरुष में भी अहं नहीं है। अथवा दोनों में ही अव्यक्तरूप में

अहंत्त्व है। किन्तु इस तरह रहना विचारदृष्टि से न रहने के ही समान है। दोनों के मिलन से अहंभाव जाग उठता है। योगशास्त्र में जहां अस्मिता के उदय का वर्णन आया है, ठीक उसके पीछे गुप्त रूप से पुरुष और प्रकृति का योग है। यह अहं का पूर्णत्व ही समान रूप से पुरुष और परमा प्रकृति का मिश्रितरूप या श्री भगवान् हैं।

भगवान् से ही सृष्टि होती है—पुरुष और प्रकृति के योग से भी होती है एवं साक्षात् रूप से भी होती है। पहली योनिज सृष्टि है, जिसका विकास और विस्तार चौरासी लाख योनियों के रूप से प्रसिद्ध है। दूसरी अतिमानस सृष्टि दिव्य आत्माओं का संघ है। दिव्य सूरि, नित्य आत्मा आदि विभिन्न नामों से इनका विवरण प्राप्त होता है। ईसाइयों के धर्मशास्त्र में जो Arch Angel Throne आदि दिव्य चेतनवर्ग का पता लगता है, वे इस दिव्य आत्मा की किसी न किसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये सब चेतनवर्ग श्रीभगवान् के साक्षात् शक्तिस्वरूप हैं। ये उनकी सत्ता से अव्यवहित रूप से विसृष्ट हुए हैं। ये सब आत्माएँ कभी भी काल के प्रवाह में अथवा प्रवृत्ति के राज्य में उतरती नहीं। ये स्वभावतः किङ्करभावापन्न हैं। भगवत्-इच्छा को कार्य रूप में परिणत करना ही इनका स्वभाव है। भगवत्-आज्ञा का पालन ही इनका एकमात्र काम है। इन्हें व्यक्तिगत कोई आवश्यकता नहीं। इसीलिए ये नित्य आनन्दमय और नित्य निर्मल हैं। ये स्वातन्त्र्यहीन हैं। इन्हें कभी भी भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। ये रक्तहीन ज्योतिर्मय, अजर और अमर हैं। ये भगवान् की महिमा और विभूतिस्वरूप हैं। इन्हें अहङ्कार नहीं है, कभी था भी नहीं और होगा भी नहीं। इसलिए इन्हें स्वतन्त्रता-प्राप्ति की सम्भावना नहीं है और ये उसे चाहते भी नहीं।

'अहम्' का आविर्भाव बड़ा ही रहस्यमय है। महात्मा लोग कहते हैं कि अज्ञान की निवृत्ति होने पर अनादि सुप्ति से जो जागरण होता है वही अणुभाव या परिच्छिन्न मलिन जीव-भाव की प्रथम उत्पत्ति है। साथ ही साथ संस्कार का उदय होता है तथा देह के क्रमविकास से मनुष्य आकार पाने के बाद यह संशय जिज्ञासा का आकार धारण करता है, अर्थात् "मैं कौन हूँ", यह प्रश्न हृदय में उदित होता है। इसके पूर्ण समाधान या मीमांसा के लिए ही इस विराट् विश्व की सृष्टि का उपक्रम जानना चाहिये। 'कोऽहम्' रूप में संशय जागता है एवं 'सोऽहम्' रूप में निश्चयात्मक अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर उस संशय की समाप्ति होती है। यह साक्षात्कार का फल है। 'कोऽहम्' और 'सोऽहम्' के बीच समूची मानव-सृष्टि दो भागों में विभक्त होकर विराजमान हुई है। सबसे पहले विश्व की रचना और विश्व के सार के निष्कर्ष के रूप में मनुष्यशरीर का अभ्युदय होता है। मनुष्यदेह का निर्माण ही प्रकृति का विशाल विज्ञानागार का मधुरतम फल है; क्योंकि मनुष्यदेह का निर्माण न होने तक प्रकृति के क्रमविकास की सार्थकता पायी नहीं जाती। नित्य जाग्रत् परम पुरुष के धरने के लिए ही प्रकृति का यह विराट् आयोजन है; क्योंकि मनुष्यरूप आधार के सिवा अन्य किसी आधार में परम पुरुष की छाया नहीं पड़ती। अर्थात् अहंभाव की भली-भाँति स्फूर्ति नहीं होती। इसलिए मनुष्य देह के सिवा पूर्ववर्ती अन्य किसी देह में भगवद्दर्शन तथा अपने भगवद्भाव की

अनुभूति नहीं हो सकती। समूचे ब्रह्माण्ड का संक्षिप्तसार होने से ही नरपिण्ड का इतना महत्त्व है। प्रथम खण्ड कर्म का आवर्तन और कर्ममय मनुष्य का संसारभ्रमण माना जा सकता है। मनुष्यशरीर की सृष्टि के बाद उस देह में 'अहम्' अभिमान का उदय होने पर ही कर्तृत्व भाव का आविर्भाव होता है। तब कर्म की सृष्टि होती है एवं कर्म के तारतम्य के अनुसार उसके फलस्वरूप सुखदुःख का भोग होता है। इस तरह फल की व्याप्ति के हिसाब से करोड़ों जन्म भिन्न-भिन्न शरीरों के अवलम्बन से कट जाते हैं एवं देश की व्याप्ति की दृष्टि से लोकलोकान्तर में भ्रमण होता है। भोग करते-करते ऐसा एक समय आता है जब फिर कोई इच्छा नहीं रहती। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दमय बाह्य जगत् में भोग की आकांक्षा निवृत्त हो जाने पर चित्त स्वभावतः बाह्य जगत् से विमुख हो जाता है। इसके बाद अन्तर्मुखी गति का आरंभ होता है। द्वितीय खण्ड में इस अन्तर्मुखी गति का अर्थात् विषय-जगत् से आत्मा के प्रत्यावर्तन का इतिहास विद्यमान है। इस द्वितीय खण्ड में ही स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि देहों से और जगत् से अहंभाव को हटा कर चरम स्थिति में, पूर्ण आत्मस्वरूप में, विश्राम लेने का अवसर प्राप्त होता है। यहीं पर स्थूल-सत्ता से परमात्मा तक एक सरल मार्ग दिखाई देता है। स्थूल-देह अथवा स्थूल-जगत् का अतिक्रम किए बिना उक्त मार्ग में प्रवेश नहीं किया जा सकता एवं इस मार्ग में प्रविष्ट हुए बिना स्थूल-जगत् और स्थूल-देह के अभिमान से छुटकारा पाने का कोई उपाय दिखलाई नहीं देता। सत्य-स्वरूप परमात्मा इस मार्ग के लक्ष्य हैं। वे मार्ग के अन्तर्गत नहीं हैं।

परिपूर्ण ज्ञान की जो अवस्था है, वही शिवावस्था है। जीवावस्था से शिवावस्था में जाना व्यक्त जीवन का खेल है तथा शिवावस्था से जीवावस्था में आगमन अव्यक्त जीवन का रहस्य है। सृष्टि के प्रादुर्भाव के साथ आत्मा में सङ्कोच का भाव आता है एवं अहं के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में इदंभाव का उदय होता है। इससे अहंभाव में इदंता की क्षीण रेखा दृष्टिगोचर होती है। क्रमशः इदंभाव दृढ होता है और अहंभाव क्षीण होता है। अन्त में मातृगर्भ में प्रविष्ट होने के साथ-साथ शुद्ध अहन्ता एकदम लुप्त हो जाती है। माया-गर्भ और मातृ-गर्भ वस्तुतः एक ही सत्ता है।

इस गर्भ में अक्रमिक रूप से अवतरण हो सकता है एवं क्रम द्वारा भी हो सकता है। चिदणु माया में प्रविष्ट होकर सो जाता है। यह निद्रा ही चिद्वस्तु की अचिद्भाव-प्राप्ति है। यह निद्रा ही कुण्डलिनी का कुण्डलित भाव है, निद्रा है, अथवा महामाया का भेदन कर उसमें पतन है। वास्तव में यह अनादि जाग्रत् से अनादि स्वप्न द्वारा सुषुप्ति में निमज्जनमात्र है। यह मायासुप्त जीव वस्तुतः मनुष्य का ही बीज है। माया-गर्भ ही मातृगर्भ है। जीव विश्व-पिता से विसृष्ट हो कर गिर पड़ा है। इधर प्रकृति की धारा से एक वस्तु आई एवं पुरुष की धारा से भी दूसरी एक वस्तु आई—ये दोनों कारण-बिन्दु रक्त और शुक्ल बिन्दु के नाम से प्रसिद्ध हैं। हम आदि-पिता-माता की बात कह रहे हैं, क्योंकि तब स्थूलदेहधारी पिता-माता नहीं थे। उपादान अवश्य था, इसीलिए ईश्वर की इच्छा से दोनों के योग से सृष्टि हुई। रज पृथिवी का सार है और वीर्य

आकाश का सार। पृथिवी माता और आकाश पिता है। चौरासी लाख योनियों का सार सत्तामय और षट्कञ्चुकवेष्टित चिदणु एक होकर क्रमशः बढ़ने लगा। सद्गुरु अथवा नरदेही भगवान् के महाकारण-शरीर तथा महा-मन के सिवा स्थूलशरीर का रहस्यभेदन करने की क्षमता किसी में नहीं है।

(७)

मार्ग में प्रवेश कब होता है? मानवशरीर-लाभ और उस शरीर में अहंज्ञान का उदय अवश्य हुआ। किन्तु यह ज्ञान स्थूलसत्ता के साथ मिला है। इसके परिपक्व हुए बिना इसे पृथक् कर मार्ग में प्रवेश करने के योग्य नहीं बनाया जा सकता। आणव मल के परिपक्व हुए बिना भगवदनुग्रह का संचार अनुभूत नहीं होता, इसका यही कारण है। मल के परिपक्व होने पर ही ज्ञान अन्तर्मुख होता है और स्थूल संस्कार घनीभाव का परित्याग करता है। तब सूक्ष्मभाव में प्राबल्य आता है। यह जो परिपक्वता या स्थूल अनुभूति का परिपाक है, उसे प्राप्त करने में ही जन्म-जन्मान्तर कट जाते हैं। अन्तिम अवस्था में क्रमशः स्थूल संस्कार सूक्ष्म में परिणत होता है एवं सूक्ष्म-संस्कार कारण-संस्कार का रूप धारण करता है। उसके बाद फिर संस्कार नहीं रहता। स्थूल संस्कार अत्यन्त प्रबल है, क्योंकि मानव-देहरचना के बहुत पहले से ही साकार भाव के साथ यह संयुक्त है। इसीलिए उसका क्षय होने में बहुत समय लगता है। क्रमशः क्षय के सिवा एकाएक इसका शमन प्रायः देखने में नहीं आता। सब संस्कारों की निवृत्ति और परमात्मा का साक्षात्कार एक साथ ही होता है। परमात्मा के अनुग्रह से यह साक्षात्कार होता है। तब एक क्षण में सब संस्कार निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि परमात्मा का दर्शन मेघमुक्त सूर्य के समान एकाएक सङ्घटित होता है। हठपाक सद्योमुक्ति का उपाय हैं एवं क्रमिक-पाक क्रम-मुक्ति की सीढ़ी है। यह कहना अनावश्यक है कि सद्योमुक्ति बहुत ही दुर्लभ है। सब संस्कारों का शमन होने पर ही लोकोत्तर अवस्था का उदय होता है।

ज्ञानी-योगी जन समझाने की सुविधा के लिये इस मार्ग में छः क्रमशः सजायी भूमियाँ स्वीकार करते हैं। इन सब भूमियों में पहली तीन भूमियाँ सूक्ष्म-जगत् में स्थित हैं, चौथी सूक्ष्म और कारण-जगत् की सन्धि में है एवं पाँचवीं और छठी कारण-जगत् के अन्तर्गत हैं। छः भूमियों का अतिक्रमण कर सकने पर फिर कोई भूमि प्राप्त नहीं होती; तब आत्मा परमात्मा के साथ एक होकर विराजमान होता है।

इससे समझ में आ जायगा कि एक ओर स्थूल-जगत् और स्थूल-देहाभिमानी मानव-रूपी जीवात्मा है तो दूसरी ओर नित्य जाग्रत परमात्मा हैं; ये दोनों छोर मार्ग की सीमा के बाहर हैं। मार्ग मानो एक सम्बन्ध-सूत्र है, जो स्थूल को परमात्मा से एवं परमात्मा को स्थूल से युक्त करता है। स्थूल-देह में आत्मभाव की निवृत्ति हुए बिना मार्ग में प्रवेश प्राप्त नहीं होता; अथवा मार्ग में प्रवेश प्राप्त किये बिना स्थूल का अहङ्कार

नहीं हटता। मार्ग में प्रवेश के साथ-ही-साथ स्थूल-ज्ञान एकदम लुप्त हो जाता है, सो बात नहीं। चित्त के अन्तर्मुखभाव का उदय और परिपुष्टि—यही मार्ग में प्रवेश का प्रधान लक्षण है। तब निवृत्त्युन्मुख स्थूल-ज्ञानी की विकसित सूक्ष्म-देह के द्वारा सूक्ष्म-स्तर का अनुभव प्राप्त होता है। यह अनुभव सूक्ष्म-जगत् के प्रथम स्तर का अनुभव है। इसे प्राप्त करते समय स्थूल-जगत् का ज्ञान रहता है। इस अनुभव का जो करण है, वह केवल स्थूल देह नहीं है और केवल सूक्ष्म देह भी नहीं है; वह एक साथ दोनों ही है। वस्तुतः वह स्थूल और सूक्ष्म की सन्धि है। उस समय प्रतीत होता है कि मानो स्थूल-दृष्टि-द्वारा ही दिव्य-रूप दीख रहा है, स्थूल कानों द्वारा ही मानो दिव्य संगीत सुना रहा है, इत्यादि। सन्धि-स्थान की यही विशेषता है। सन्धि-स्थान का भेदन होने पर फिर स्थूलभाव नहीं रहता। उस समय सूक्ष्म-जगत् के दूसरे स्तर के दर्शन होते हैं। यह स्तर प्राणमय जगत् है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ इसी स्तर में स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा करती हैं। साधक को जब इस स्तर का ज्ञान प्राप्त होता है, तब एक ओर जैसे उसको स्थूल-सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, वैसे ही दूसरी ओर मनोमय सत्ता का भी बोध नहीं रहता। किन्तु सिद्ध लोग कहते हैं कि बोध न रहने पर भी साधक उस सूक्ष्म स्तर में स्थूल और मनोमय करणों की सत्ता द्वारा कर्म करता है। अर्थात् सूक्ष्म-ज्ञानी साधक स्थूल और कारण-शरीर में चेतन न रहने के कारण स्थूल और कारण-जगत् देख नहीं पाता, यह सही है; किन्तु वह स्थूल-देह का व्यवहार कर सकता है और करता भी है। इन्द्रियों के कार्य (दर्शन, निद्रा, खाना, पीना आदि) उस समय भी जारी रहते हैं। उसी प्रकार वह मानस-शरीर का व्यवहार भी करता है, क्योंकि वासना, कामना, चिन्ता भाव आदि मानसिक व्यापार उस समय भी पहले की तरह विद्यमान रहते हैं।

दूसरी भूमिका की आत्माएँ सूक्ष्म देह तथा सूक्ष्म कारणों के द्वारा सूक्ष्म-जगत् का अनुभव करती हैं। स्थूल का अनुभव उन्हें बिलकुल भी नहीं होता; पर बाह्यदृष्टि से वे साधारण व्यक्तियों की तरह स्थूलाभिमानी प्रतीत होती हैं। सारांश यह है कि उनकी चेतना आंशिक रूप से अन्तःसंज्ञ होने के कारण सूक्ष्म जगत् का भी अनुभव करती है। इस अनुभव से उसमें दर्शन, स्पर्श आदि विषयों में नये संस्कार पैदा होते हैं।

प्रत्यावर्तन-मार्ग में और अधिक आगे बढ़ने पर तीसरी भूमि में प्रवेश-लाभ होता है। यह भी सूक्ष्म जगत् में स्थित है। यह कहना अनावश्यक है कि यहाँ शक्ति की प्राप्ति और अधिक मात्रा में होती है। फिर भी यह परिमित ही शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। इस स्तर पर आरूढ़ होने से सूक्ष्म-जगत् के अन्तर्गत लोक-लोकान्तरों में भ्रमण किया जा सकता है।

तीसरी भूमिका पार करने के अनन्तर चौथी भूमिका में पदार्पण कर साधक अनन्त शक्ति के अभिमुख हो जाता है। यह सन्धिभूमि है अथवा मनो-जगत् का प्रवेश-द्वार है। मार्ग में स्थित यह भूमि सूक्ष्म और कारण के बीच में स्थित है। इस भूमि में शक्ति का विकास पूर्व स्तरों की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाता है। तब साधक

नूतन सृष्टि करने की क्षमता तक अर्जित कर लेता है। यह कारण-जगत् का द्वार है, अतः सब शक्तियों का नियंत्रण यहीं से होता है। यहाँ भाव और वासना की तीव्रता अधिक रहती है, शक्ति के प्रयोग का प्रलोभन भी अधिक रहता है एवं अहंकार का प्रकोप भी बहुत उग्र रहता हे। वस्तुतः यह योगी की परीक्षा का स्थान है।

इन सब अलौकिक शक्तियों का सदुपयोग करने अथवा किसी भी शक्ति का बिलकुल व्यवहार न करने पर योगी निरापद पञ्चम भूमिका में पदार्पण करने में समर्थ होता है। चतुर्थ भूमिका में पतन की आशंका खूब अधिक रहती है[1], पञ्चम भूमिका में पतन की संभावना बिल्कुल नहीं रहती। चतुर्थ भूमिका में रह कर योगी यदि स्वोपार्जित शक्ति का सदुपयोग करें तो वे अपने आप छठी भूमिका में पहुँच जाते हैं, उन्हें स्वयं कोई विशेष यत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु उस उद्धार कार्य में जो सहायक होते हैं, वे ही सद्गुरु हैं। वे केवल जीवन्मुक्त पुरुष नहीं, किन्तु महाज्ञानी और विज्ञान-भूमिका में प्रतिष्ठित आत्मा हैं।

चौथी भूमिका में रहकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थूल-जगत् में आत्मकल्याण से भी बढ़ कर है, यह साधक का आध्यात्मिक उपकार है। कोई भगवान् की ओर चला हुआ साधक यदि अत्यन्त संकट में पड़ जाय, तो चतुर्थ भूमिका में स्थित आत्मा अर्थात् योगी उसे अपनी शक्ति के बल से उस संकट से उबार देते हैं। उत्कृष्ट रोग से छुटकारा, मरुभूमि में श्रान्तक्लान्त पर्यटक को जल-प्रदान, भयभीत मन की भीति का शमन, हताश के प्राणों में आशा का संचार—विविध प्रकारों से साधारणतः गुप्तरूप से इस परोपकार का व्रत अनुष्ठित होता है। बौद्ध सम्प्रदाय के बोधिसत्त्व यह कार्य करते हैं। पृथ्वी के सभी क्षेत्रों में इस प्रकार के सेवाधर्मी पुरुष विद्यमान हैं। ये ही Invisible Helpers के नाम से पुकारे जाते हैं। फिर भी स्मरण रखना होगा कि शक्ति के सदुपयोग से कभी-कभी बन्धन को आशङ्का हो जाती है। भगवान् पतञ्जलि ने इस आशङ्का के एक कारण का स्मय अथवा अहङ्कार के नाम से निर्देश किया है। अहङ्कार के नाना प्रकार के भेद हैं। दीन सेवकभाव ग्रहण कर प्राणपण से सेवा कर के भी यदि उस सेवा से उत्पन्न अहङ्कार मन में आता है, तो वह भी पतन का हेतु होता है। अहङ्कार चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, रिपु के रूप में ही गिना जाता है। चतुर्थ भूमिका की कठिनाई का प्रधान कारण यह है कि इस भूमिका में साधक को अपरिमित शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति के धारण के उपयोगी चित्तसंयम उस समय प्राप्त नहीं रहता। मन का पूर्णरूप से जय न कर सकने पर शक्ति के स्वायत्त होने पर साधक का पतन होना कुछ आश्चर्यंकर बात नहीं

---

१. पातञ्जल योगसम्प्रदाय में प्रथम कल्पित अवस्था के अनन्तर तथा भूतेन्द्रिय-जय के पूर्व मधुमती भूमि में इसी तरह की कई आशङ्काएँ विमद्यान रहती हैं। उस समय विशेष रूप से आसक्ति और अहङ्कार की ही परीक्षा होती है। हाँ, भय, लज्जा आदि अन्य भावों की परीक्षा न हो, सो बात नहीं है।

है। हाँ, यदि सद्‌गुरु के ऊपर पूर्णरूप से निर्भर रहा जाय एवं उन्हें अपनी रक्षा का भार सौंप दिया जाय तो उनके मङ्गलमय विधान से शक्ति का स्फूर्तिद्वार बन्द रहता है। इसलिए साधक के अहङ्कार करने का कोई कारण नहीं रहता। केवल यही नहीं, बहुधा सद्‌गुरु स्वतः प्रेरित होकर साधक का वास्तविक कल्याण करने के लिए उसे अनेक बार भाँति-भाँति की विषम परिस्थितियों तथा विपत्तियों में जकड़े रखते हैं। अन्तजंगत् में भी शान्ति तथा आनन्द की स्वच्छ धारा बहने नहीं देते। इस प्रकार की अवस्था में साधक के हृदय में गम्भीर निराशा और निराश्रयता का आविर्भाव होता है। वस्तुतः यह परीक्षा की अवस्था है। इसीलिए साधक जितना अपने को निराश्रय और असहाय समझता है, जोवन का लक्ष्य स्थिर रहने पर उतनी ही अधिक मात्रा में चित्त की सर्वतोमुख गति एकाग्र होकर उस लक्ष्य की ओर स्थिर होती है। अर्थात् विपत्ति में गिर कर भी भगवत्स्मृति और परम लक्ष्य से भ्रष्ट न होने पर गुरुकृपावश स्वोपार्जित शक्ति का आवरण हट जाता है और साधक अकस्मात् अतर्कित रूप से पञ्चम भूमिका में उन्नीत होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि इस भूमिका में मन में चञ्चलता न रहने के कारण साधक के पतन की आशंका एक प्रकार से नहीं रहती।

'पतन' से किसकी प्रतीति होती है, इसका स्पष्ट ज्ञान सम्भवतः बहुतों को नहीं है। युग-युगान्तर और जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्नों से धीरे-धीरे विपुल प्रयास द्वारा सामग्री का संचय होने से ज्ञान का जो महल तैयार हुआ, उसका एकाएक ढह जाना ही 'पतन' है। इस प्रकार का पतन होने पर एकदम बिजली के वेग से उस आदिम पाषाण-खण्ड की तरह स्थावर-अवस्था लौट आ सकती है। अवश्य ही यह बात कदाचित् होती है, क्योंकि भगवान् द्वारा नियुक्त विविध मङ्गलमय शक्तियाँ जीवों की रक्षा में तत्पर रहती हैं। जीवों के अनजान में वे उनकी असमय में रक्षा करती हैं। किन्तु विनय की मात्रा लांघने पर इस प्रकार की शक्तियों की कार्य-कारिता क्षुण्ण हो जाती है। उन अवस्था में पश्चात्ताप द्वारा इष्टसिद्धि अथवा प्रायश्चित नहीं होता है। उस समय भग्न वस्तु के पुनर्निर्माण की आवश्यकता होतो है। साधारणतः जो पतन होता है, वह इतना भयावह नहीं होता; क्योंकि उस समय पश्चात्ताप और आत्मशोधन की प्रणाली द्वारा व्यवहार योग्यता लौट आती है, इस कारण पुनः पूर्वावस्था प्राप्त हो जाती है। चेतनात्मा के पतित होकर शिलाखण्ड के रूप में परिणत होने पर आरोहण के समय फिर काल के क्रमविकास से भी पर-पर भूमिजय आवश्यक होता है। चतुर्थ भूमि में ही इस प्रकार घोर पतन की सम्भावना है, जो शक्ति के अनुचित प्रयोग से होता है। शक्ति का विकास अवरुद्ध होने अथवा उसका विकास रहने पर भी असत् उपयोग न करने एवं वासना द्वारा मन के संचालित न होने पर तो पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। शक्ति के सदुपयोग से योगी चतुर्थ भूमिका से एकदम षष्ठ भूमिका में पहुँच जाते हैं। शक्ति के प्रयोग की सम्भावना न होने पर साधक चतुर्थ भूमिका से पञ्चम भूमिका में आरूढ़ होकर वहां से यथासमय षष्ठ में ख्यातिलाभ करता है। पञ्चम और षष्ठ, ये दोनों भूमिकाएँ मनोमय कारण-जगत् में स्थित हैं।

अन्तर्मुखता के बढ़ने पर सूक्ष्म चेतनात्मक कारण-जगत् में मन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है। योगी जन कहते हैं कि कारण-जगत् के बाहरी भाग में चिन्ताराज्य है और भीतरी भाग भावराज्य है। पञ्चम भूमिका के योगी स्थूल और सूक्ष्म चेतनवर्ग की चिन्ता का नियन्त्रण करने में समर्थ होकर भी भाव का नियन्त्रण नहीं कर सकते। सूक्ष्म और कारण-जगत् की चेतना न रहने से विभूति का प्रकाश नहीं होता। इसलिए अखण्ड मन के ऊपर उनका आधिपत्य नहीं रहता। अन्तर्मुखता का आत्यन्तिक विकास होने और षष्ठ भूमि में स्थान-लाभ करने पर योगी निर्विकल्पक स्थिति में आरूढ़ होते हैं। यह स्थिति कारण-जगत् के बाहरी भाग से चित्त को हटा कर आन्तरिक अवस्था में प्रवेश करने पर स्वभावतः प्रकट होती है। कारण पहले ही बतलाया जा चुका है। कारण-जगत् के बाहर की ओर चिन्ताराज्य है और भीतर की ओर विकल्परहित बोधमय अवस्था है। यही षष्ठ भूमिका का परिचय है। तब योगी सदा बोध में निमग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् विश्व-मन का अनुभव होता है। उस समय विश्व के सम्पूर्ण मनों का भाव उनके निजभाव या स्वभाव में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में उन्हें सर्वदा सर्वत्र भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी वे कभी भी अपने को भगवान् के साथ अभिन्न रूप में नहीं देखते। दर्शन न करने का उनका यही कारण है कि भगवद्दर्शन मन का ही व्यापार है। वे इस समय भी अपने को मन के अतीत होने के कारण पहचान नहीं सकते। इसीलिए भगवान् का मनोमय रूप में दर्शन करते हैं। यह भगवान् का साक्षात् दर्शन है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु यह भी मन का ही व्यापार है। यह शुद्ध मन, व्यापक मन का खेल है, किन्तु यह भी चरम स्थिति नहीं है; क्योंकि मन का अतिक्रमण किये बिना भगवान् का साक्षात्कार और दर्शन पाकर भी उनके साथ अपना अभिन्नताज्ञान जाग्रत् नहीं होता। भगवान् का साक्षात् दर्शन और उनके साथ अपना अभेद-दर्शन एक नहीं है। इस समय स्वभावतः ही भगवान् के साथ मिलने की तीव्र आकांक्षा होती है। साधक सदा सब जगह, भीतर-बाहर भगवान् के दर्शनों के लिये सजग रहता है, यह सत्य है, फिर भी व्याकुलता-पूर्ण विरह का भाव नहीं रहता; क्योंकि भगवद्दर्शन भगवत्प्राप्ति नहीं है। उन्हें न पाने तक अर्थात् अपनी भगवद्रूप में उपलब्धि न होने तक यह विरह दूर नहीं हो सकता; क्योंकि जगत् के अन्दर केन्द्र अथवा बिन्दु के रूप में यह नित्य भगवद्-विरह जाग्रत् है। बहिर्मुख अवस्था में यहीं से सृष्टि होती है, किन्तु तब विरह ज्ञान नहीं रहता। पर अन्तरतम अवस्था में विरह-ज्ञान जाग उठता है, उसका दर्शन भी स्फुट हो जाता है एवं विरह की तीव्रता से मन का पर्दा हट जाता है। तब अद्वैतस्थिति या अभेद भाव का प्रकाश अपने आप हो जाता है। कारण-जगत् का यह भीतरी भाग का ही भावराज्य का व्यापार है, जिसका प्रस्फुटित रूप भगवत्-प्रेम है - एवं जिसका परिणाम भगवत्सायुज्य या महामिलन है। इस महाभावमय प्रेमराज्य में चिन्ता का कोई स्थान नहीं है। अतएव योगी की षष्ठ भूमिका भगवत्प्रेम और भगवान् के साथ मिलन की आकांक्षा के पूर्ण विकास का स्थान है। इस आकांक्षा का एक पहलू विरहज्ञान है, यह अतिमूल्यवान् सम्पत्ति है।

चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद कर्तृत्व-सम्पन्न मनुष्य-शरीर में अभिमान होता है। करोड़ों जन्मों में परिभ्रमण के बाद एवं मार्ग में प्रवेश पाकर अन्तर्मुख गति के क्रमिक विकास के चरम बिन्दु में इस तीव्र विरह का बोध होता है। भगवद्दर्शन से यह विरह निवृत्त नहीं होता, क्योंकि भगवद्दर्शन ही इसका उद्दीपक है। षष्ठ भूमि का भेद करने पर समूचा मनोराज्य ध्वस्त हो जाता है—कल्पना राज्य दूर हट जाता है, क्योंकि तब जगत् का अतिक्रमण हो जाता है, माया और महामाया का खेल निवृत्त हो जाता है। तब अपने साथ अभिन्न रूप से भगवत्साक्षात्कार एवं भगवान् के साथ अभिन्न रूप से आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है। षष्ठ भूमिका के भगवद्दर्शन से यह अत्यन्त भिन्न है, क्योंकि षष्ठ भूमिका के दर्शन में द्वैतभाव रहता है। इसलिए वह मिलन होकर भी वास्तविक मिलन नहीं है, क्योंकि बीच में व्यवधान रहता है। यही विरह है। इसलिए द्वैतभूमि में मनोराज्य में पूर्णतम मिलन भी विरह का ही नामान्तर है। षष्ठ भूमिका के भेदन के पश्चात् जिस आत्मज्ञान का उदय होता है, वही यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान है।

षष्ठ भूमिका तक मनोराज्य है। यहाँ का चैतन्य कितना ही उज्ज्वल और विशुद्ध क्यों न हो, फिर भी वह मनोमय है। सप्तम भूमिका वास्तव में कोई भूमिका नहीं है, वह परमात्मा की स्वरूप स्थिति है। सप्तम भूमिका मन के परे है। इसलिए षष्ठ से सप्तम भूमिका में कोई अपने प्रयत्न से नहीं जा सकता। सद्गुरु की करुणा के बिना मानस-ज्ञान, अनन्त-स्वरूप-ज्ञान और असीम आनन्द का चेतन रूप में आस्वादन कोई नहीं कर सकता। इस अवस्था में स्पष्ट प्रतीत होता है और दीख पड़ता है कि आत्मा नित्य ही आनन्दमय, चैतन्यमय और अनन्त है। शक्ति और मन की आविर्भाव-प्रणाली को योगी उस समय प्रत्यक्ष देखते हैं। वे जान सकते हैं कि यह उनको अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान का शान्त स्फुरणमात्र है। इस अवस्था में दो व्यापार उल्लेखनीय है। यह परमात्म-प्रतिष्ठ भगवद्भावापन्न आत्मा केवल स्वयं ही अनन्त शक्ति और आनन्द का अनुभव करता है, सो बात नहीं; वह साथ ही साथ दूसरों में उनका वितरण करता है! एवं कभी-कभी साक्षात् रूप से और संज्ञान में इसका प्रयोग भी करता है। यह प्रयोग वास्तव में अन्य आत्माओं को प्रवञ्चना से मुक्त करने के लिए होता है। जब तक आत्मा परमात्मा में अपनी अभिन्न स्थिति प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह अज्ञान अवस्था में क्रमशः नाना प्रकार के संस्कारों का अर्जन करता है। पीछे वे सब संस्कार क्रमशः क्षीण हो जाते हैं। अन्त में संस्कार-शून्य अवस्था का उदय होता है। तब ज्ञात होता है कि यह सुदीर्घ संसारभ्रमण मायानिर्मित एक स्वप्न-मात्र है।

यह आत्मा ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न भगवत्स्वरूप में नित्य जाग्रत् है। यह समानरूप से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान हैं—समानरूप से प्रेमिक, प्रेमभाजन और प्रेम है। आश्रय और विषय अभिन्न हैं। षष्ठ और सप्तम भूमिका के बीच में मानो गम्भीर समुद्र है। एक ओर प्राकृत जगत् और दूसरी ओर अप्राकृत भगवत्सत्ता—बीच में यह विरजा

नदी का दिगन्तव्यापी व्यवधान हैं। षष्ठ भूमिका तक साकार संस्कारयुक्त सगुण कल्पना है—सप्तम भूमिका में आकार नहीं, संस्कार नहीं, गुण नहीं और कल्पना नहीं। यही पर सृष्टि के उन्मेष के समय के 'कोऽहम्' संशय का—जो मनुष्य-मन में अहंभाव के विकास के साथ-साथ जागा था—विध्वंस होता है। आत्मा 'सोऽहम्' ज्ञान के समाधान से अपने स्वरूप से प्रतिष्ठित होता है। यही आत्मविज्ञानभूमि हैं।

(८)

यहाँ पर एक विषय विशेषरूप से अन्वेषणीय है। प्रस्तुत लेख में एक विशेष धारा के अवलम्बन द्वारा सात भूमिकाओं का विवरण देने का यत्न किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस विशेष धारा के सिवा और भी भिन्न प्रकार की धाराएँ हैं। इस निबन्ध में उनके विषय में आलोचना अनावश्यक है। सात भूमिकाओं में प्रथम छः भूमिकाएँ साधन की अवस्थाएँ और द्वैतभाव की द्योतक हैं। किन्तु सातवीं भूमिका सिद्ध अवस्था और अद्वैतस्थिति की अभिव्यञ्जक है। यह स्थिति साक्षात् परमात्मा के साथ अभेदप्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था का भगवत्स्वरूप के रूप में ही वर्णन करना उचित है। वस्तुतः यह सातवीं भूमिका भूमियों में गणना-योग्य नहीं है; तथापि प्रथम छः भूमिकाओं के साथ सम्बन्ध होने से इसका भी भूमिका के रूप में निर्देश किया गया है। छः भूमिमय पथ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् से होकर षष्ठ भूमि के अन्त में परम लक्ष्य की ओर आया है। पथ पर्यायक्रम से सङ्कोच और विकासमय, एक और अनेक प्रतीतिमय, समाधि-व्युत्थानमय क्रमोच्च एक आवर्त-सङ्कुल धारा है। इस पथ पर चलना शुरू होने से पहले ही यह विचित्रतामय प्रतिभास, जो स्थूल ज्ञान के सामने अनन्त विश्वों के रूप में अपने को प्रकट करता है, छूट छाता है। वस्तुतः इस छुटकारे के बाद ही सन्धि अवस्था में ही महाप्रस्थान के पथ की सूचना मिलती है। यह छुटकारा बाह्योन्मुख वृत्ति के अन्तर्मुख आकुञ्चन (सिकुड़ने) का परिणाम है। यह एक बिन्दु-अवस्था है, किन्तु यह स्थायी नहीं है। छुटकारे के अन्त में तब विचित्रतामय जगत् का चित्र भासित हो उठता है। किन्तु वह ठीक-ठीक पूर्व का जगत् नहीं है, दूसरे स्तर का जगत् है, किन्तु यह भी स्थायी नहीं रहता। इसके पश्चात् फिर अन्तराकर्षण के प्रभाव से छुटकारा होता है। तब दूसरी बार एक बिन्दुस्वरूप में स्थिति होती है। उसके बाद फिर बाह्यभाव का उन्मेष होता है। इस प्रकार की गति से साधक क्रमशः उन्नत होता है। पहाड़ पर चढ़ते समय जैसे एक बार पहाड़ पर चढ़कर पुनः उपत्यका में उतरना पड़ता है, तदनन्तर फिर उच्चतर पर्वत पर चढ़ने के बाद उच्चतर उपत्यका में उतरना पड़ता है एवं इस प्रकार धीरे-धीरे आरोहण के द्वारा उच्चतम शिखर तक पहुँचा जाता है, ठीक उसी तरह महाप्रयाण के मार्ग में पारापारी से चढ़ना-उतरना अथवा सङ्कोच और प्रसार विद्यमान रहता है। दिन के बाद रात्रि, फिर रात्रि के बाद दिन, इस तरह चलते-चलते ऐसा एक स्थान आता है जहाँ दिन और रात्रि का द्वन्द्व सदा के लिए निवृत्त हो जाता है, जहां एकमात्र दिन ही सदा स्थायी रूप से विराजमान रहता है; जिसका श्रुति ने 'सकृद् दिवा' कह कर इंगित

करते हुए निर्देश किया है। इस पथ के ऊपर आकर्षण का पथ है। बिन्दुओं का एक के बाद एक यों नीचे-ऊपर विन्यास रहने पर भी वे सब पथ के भीतर हैं। निम्न बिन्दु से ऊपर के बिन्दु में गति आकर्षण के बल से होती है। किन्तु बिन्दु अवस्था में प्रसारण नहीं रहता, इसलिए दृश्य या सृष्टि नहीं होती। पर यह अवस्था स्थायी नहीं है; क्योंकि प्रसार होने पर सृष्टि का विस्तार होता है। हृदय में स्थित वासना-बीजों के उन्मूलित न होने पर वह सृष्टिराज्य होता है, भाग कर पार होना पड़ता है, अन्यथा जला कर अथवा गला कर समाप्त करना पड़ता है।

साधक वास्तविक दीक्षा प्राप्त होने पर क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण का दर्शन और अनुभव करता है। तदुपरान्त कारण का अतिक्रमण होने पर सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। पहली से छठी तक छहों भूमिकाएं कल्पनामय हैं। कल्पना का त्याग होता है, मनोनाश के साथ-साथ यथार्थ सत्यदर्शन से सप्तम भूमिका में। इसीलिए छः भूमिकाओं तक जो आध्यात्मिक उन्नति कही गई है, वह वास्तविक उन्नति नहीं है। पर यह सत्य है कि कल्पना होने पर भी इन सब भूमिकाओं का अनुभव आवश्यक है; क्योंकि इनके क्षीण हुए बिना सत्यदर्शन असंभव न होने पर भी अत्यन्त कठिन अवश्य है। निरपेक्ष गुरुकृपा के बिना सत्यदर्शन नहीं हो सकता। तब वासनाक्षय आदि अपने आप ही हो जाते हैं। पर कृपा को रखने के लिए आधारशुद्धि का प्रयत्न आवश्यक है। गुरु यदि हों तो वे शिष्य की छहों भूमिकाओं में संचालित करते हैं। इस सञ्चालन-व्यापार में कभी साधक की आँखे बांध दी जाती हैं और कभी आँखें खुली भी रहती हैं, यह साधक की आभ्यन्तरीण अवस्था तथा गुरु की व्यवस्था पर निभर करता है। आँखे बाँध देने पर चित्त में स्थित वासना साधारणतः छठी भूमि तक रहती है। किन्तु जिस साधक की आँखें खुली रहती हैं, उसकी वासना पांचवीं भूमि के बाद फिर नहीं रहती। बद्ध आँखवाली अवस्था में क्रिया अच्छी तरह होती है, यह कहना ही पड़ेगा। छठी भूमि से सप्तम भूमिका में सद्गुरु की कृपा के बिना प्रवेश करना अत्यन्त ही असम्भव है।

द्वितीय भूमि से विभूति का उदय होता है। तीसरी में विभूति की अभिवृद्धि होती है एवं चौथी में विभूति की सींमा नहीं रहती; क्योंकि उस समय सूक्ष्म और कारण सत्ता का योग होता है। किन्तु मन उस समय भी स्वायत्त नहीं होता। दुर्दम-नीय वासना उस समय भी सर्वथा क्षीण नहीं होती। इसीलिए किसी-किसी के पतन की आशङ्का रहती है। हाँ साधक यदि संयमी और विवेकवान् हो तो ऊर्ध्व गति की संभावना भी रहती है। पञ्चम भूमि में मन पर विजय प्राप्त होती है तब तो सचेतन रूप में इन्द्रियों के न रहने से उनका काम केवल मन से ही किया जाना सम्भव है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् में इच्छामात्र से अभीष्ट स्थान में प्रकट हुआ जा सकता है। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" एवं 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' यह श्रुतिवचन कई अंशों में इस अवस्था में सार्थक होता है। इस भूमि में ही क्रमशः भगवान् के साथ योग होता है भाव के मार्ग में। कोई-कोई भाव में डूब कर महाभाव तक पहुँच जाते हैं। तब

व्युत्थित होने पर मालूम होता है कि अतिसूक्ष्म रूप से निहित वासनाएँ न मालूम कहाँ चली गईं। मन उस समय भी रहता है सही, किन्तु उसमें वासना नहीं रहती। यह अति स्वच्छ, विशुद्ध मन है। सभी अन्तराय और विघ्न कट चुके। परन्तु छोटा अहं उस समय भी रहता है। छठी भूमिका की समाप्ति तक वह यह अहं विद्यमान रहता है। उस समय सर्वत्र और सर्वदा अनन्त निराकार ब्रह्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं एवं इस ब्रह्म दर्शन से ही मन की समाप्ति होती है। तीर्थ-यात्री के सुदीर्घ तीर्थ भ्रमण की समाप्ति होती है। भगवत् साक्षात्कार से वह छोटा अहं विलीन हो जाता है। एक अनन्त ब्रह्म-दर्शन विराट् 'अहम्' का अवलम्बन कर विद्यमान रहता है। इस तरह जब तक इच्छा हो, रहा जा सकता है। काल, कर्म, नियति और संस्कार कोई भी योगी के मार्ग में बाधक नहीं हो सकते। इसी अवस्था से व्युत्थान-प्राप्ति हो सकती है। यदि किसी का भी व्युत्थान हो तो भी ब्रह्मदर्शन या अद्वैतदर्शन पूर्ववत् अक्षुण्ण ही रहते हैं। व्युत्थान-काल में द्वैतदर्शन केवल अभिव्यक्त होता है। तब सर्वदा सब वस्तुओं में एकत्व का भान होता है। यह पूर्ण ब्रह्मसाक्षात्कार है, यह षष्ठ भूमिका की जाग्रत् अवस्था है। इस प्रकार के सिद्ध योगी छठी भूमिका तक जिज्ञासु साधकों की सहायता कर सकते हैं, पूर्ण चैतन्य के साथ सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं। यहीं पर मन का आभास रहता है। इसके बाद मन नहीं रहता। छोटा 'अहम्' भी नहीं रहता। सदा के लिए वह बिदा हो जाता है। तब एकमात्र पूर्ण 'अहम्' ही रहता है। यही यथार्थ भगवत्सायुज्य है। यह मन के परे महाव्याप्ति की अवस्था है। यही अद्वैत-स्थिति है। पूर्णब्रह्म ज्ञान के अनन्तर यही पूर्णब्रह्म प्राप्ति है।

पहली भूमिका से षष्ठभूमिका तक जो स्तर हैं, उनसे सप्तम भूमिका का व्यवधान रहा। द्वैत से अद्वैत का जो व्यवधान है यह भी वही है। दो के बीच मात्रा का भेद तो है ही, उसके अतिरिक्त स्वरूप-भेद भी है। स्वरूप भिन्न है, अतः ये व्यवधान अनन्त हैं। द्वैत सत्ता परिमित सत्ता और अणु सत्ता है। किन्तु अद्वैत सत्ता अपरिमित, अखण्ड और अनन्त भगवत्सत्ता है। इसीलिए दोनों के मध्य असीम व्यवधान है। महाकृपा अथवा परम पुरुषार्थ के सिवा यह व्यवधान हटाया नहीं जा सकता। पहली छः भूमियों में परस्पर भेद है और व्यवधान भी है। पर यह शान्त व्यवधान है, क्योंकि दोनों भूमिकाओं में पार्थक्य रहने पर भी दोनों में साधर्म्य है, क्योंकि दोनों ही द्वैत या खण्ड सत्ता हैं। परिच्छिन्न रूप से सत्तामात्र ही वही है। किन्तु षष्ठ से सप्तम का व्यवधान अनन्त व्यवधान है। प्रथम भूमिका से सप्तम भूमिका बहुत ऊपर होने पर भी सप्तम भूमिका की तुलना में दोनों ही समान रूप से असीम व्यवधान से व्यवहित हैं। प्रथम भूमिका से षष्ठ भूमिका, सप्तम भूमिका से अधिक निकटवर्ती है, यह कहना नहीं बनता। फिर भी साधक को आत्मविकास के लिए इन सब भूमिकाओं को पार कर आगे बढ़ना चाहिये; क्योंकि आधार का विकास भी पूर्णत्व के पथ में अत्यन्त आवश्यक है।



देहतत्त्व और मुक्ति

देह किसे कहते हैं, देह की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, देह का स्वरूप और धर्म क्या है, देह कितनी तरह की है एवं आत्मा से इसका सम्बन्ध किस प्रकार का है? साधारणतः अधिकांश जिज्ञासु मनुष्यों के चित्त में ये प्रश्न एवं इसी तरह के अन्यान्य प्रश्न उठते ही नहीं; क्योंकि प्रायः सब लोगों का ही विश्वास है कि यह सर्वसाधारण का सुपरिचित विषय है। इसके सिवा बहुतों की यह धारणा भी है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिये आत्मतत्त्व की उपलब्धि आवश्यक है; सुतरां परमार्थलिप्सु के लिये छानबीन के साथ देहतत्त्व को जानने की चेष्टा करना काकदन्तपरीक्षा के समान निष्फल है।

परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिनको पारमार्थिक आत्मज्ञान प्राप्त करने की सच्ची उत्कण्ठा है उनके लिये देहतत्त्व का प्रकृष्ट ज्ञान आवश्यक है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह अति गम्भीर सत्य है। किसी भी प्रकार से हो, जीव जब से किसी अनादि और अनिर्वचनीय शक्ति के प्रभाव द्वारा संसारपाश में बँधा है, तभी से देहाध्यासवश उसका आत्मबोध देह को आश्रय करके ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः जीव आत्मविस्मृत हो गया है एवं उसकी विशुद्ध चेतना मलिन और परिच्छिन्नवत् होकर देश, काल और कार्यकारणभाव के अधीन रूप में प्रतीत होती है। 'देह कोई वस्तु नहीं है, यह अनित्य एवं नश्वर है' इस प्रकार सोचकर देह के विचारों को दूर करने की इच्छा करने पर भी, प्राकृतिक शक्ति के अव्यर्थ आघात से जीव का देहात्मबोध निरन्तर ही जागृत होता रहता है। साधारण जीव के लिये आत्मा और देह को परस्पर पृथक् भाव से ग्रहण करना सम्भव नहीं है। लोकायत-सम्प्रदाय अर्थात् चार्वाकमतावलम्बी जड़वादीगण भी यह अच्छी तरह समझते हैं। नहीं तो बृहस्पति को 'चैतन्यविशिष्टकायः पुरुषः'—आत्मा के इस लक्षणसूत्र की रचना करने की आवश्यकता न होती। पक्षान्तर में विशुद्ध आत्मवादी दार्शनिक को भी विदेह-कैवल्य प्रमाण करते समय नाना प्रकार से देह की सत्ता को अङ्गीकार नहीं करना पड़ता। जो विदेह-मुक्ति-रूप मोक्ष स्वीकार करते हैं, उनके मोचक ज्ञान का उद्भव भी देहावच्छेदकाल में ही होता है! सुतरां लौकिक ज्ञानवाले जीव के लिये विशुद्ध जड़ या विशुद्ध चैतन्य, इनमें से किसी भी एक पक्ष का आश्रय ग्रहण करना सम्भव नहीं है। प्रस्थान-भेद से शास्त्रीय परिभाषा का तारतम्य रहने पर भी वस्तु-स्थिति सर्वत्र प्रायः एक प्रकार की ही देखी जाती है। 'देह' कहने से साधारण मनुष्य जो समझते हैं, शास्त्रदृष्टि से वह स्थूल देह का ही प्रकार-भेद-मात्र है—वस्तुतः वह देहतत्त्व के भौतिक विकास के सिवा दूसरी कोई चीज नहीं है। रज और वीर्य के संयोग से हो या उस संयोग के बिना हो, जब भौतिक अणुराशि किसी एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित होकर बिन्दु-भाव को प्राप्त होती है, तब उसे ही स्थूल देह का

बीज समझना चाहिये। यह देहबीज बाह्य उपादान ग्रहण करके पुष्टि प्राप्त करता है और यथासमय कार्यक्षम रूपसे अभिव्यक्त होता है। रज और वीर्य-रूप रक्त और शुक्ल बिन्दुद्वय प्राकृतिक अथवा आहार्य काम के प्रभाव से विक्षुब्ध होकर परस्पर मिलते हैं एवं बीजरूप में आत्मप्रकाश करते हैं। जब तक मनुष्य ब्रह्मचर्य-साधन के क्रमिक उत्कर्ष के द्वारा स्थिररेता और ऊर्ध्वरेता अवस्था की उपलब्धि नहीं कर पाता तब तक उसकी अधोरेता अवस्था स्वाभाविक है। साधारणतः मनुष्यमात्र की यही स्थिति है। इस अवस्था में कामजय न होने के कारण विक्षोभ के द्वारा वीर्य की गति अधोमुखी या बाह्य हुए बिना नहीं रह सकती। इस गतिवेग से शक्त्यात्मक व्यापक बिन्दुसत्ता बाष्प-राशि के संघात से उत्पन्न घनीभाव के समान घनीभाव को प्राप्त होती है और क्रमशः अधोभूमि में अवतीर्ण होते-होते तैजस एवं तरल अवस्था को प्राप्त होकर नाभि के निम्न देश में आ जाती है। वहाँ से रेतोवहा नाड़ी के द्वारा मध्याकर्षण शक्ति के नियमानुसार बाहर निकल जाती है। यही प्राकृत काम का सृष्टिरहस्य है। परन्तु जो ब्रह्मचारी और जितकाम हैं, उनको स्थूल सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता होने पर, पहले इच्छाशक्ति के द्वारा या क्रिया-कौशल से काम को विक्षुब्ध करना पड़ता है; क्योंकि बिन्दु-क्षोभ प्राप्त हुए बिना किसी प्रकार की गति का विकास संभव नहीं है एवं गति न होने से, सृष्टि आकाश-कुसुम के समान है। ऊर्ध्वरेताओं का निष्काम भाव सांसिद्धिक है, इसलिए प्राकृत मनुष्यों के समान उनमें काम-प्रवृत्ति की सम्भावना नहीं है। इस सृज्यमान काम को आहार्य काम कहते हैं।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य-सिद्धि के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने से, प्रजा-तन्तु की रक्षा के लिये इसी प्रकार काम का आवाहन करके कार्य-सिद्धि करनी पड़ती थी। बाह्य दृष्टि से दोनों ही सृष्टि के भेद प्रायः एक-से ही हैं; क्योंकि दोनों में ही शुक्र-शोणित के मिलन की आवश्यकता है। यही मैथुन-सृष्टि अथवा योनिज-देह का उत्पत्ति-विवरण है।

परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि स्थूल देह सर्वत्र योनिज ही हो। अयोनिज देह भी होती हैं। सीता जैसे अयोनिसम्भवा थीं, वैसे ही और भी अनेक देवता, मुनि ऋषियों की देह भी अयोनिज सुनने में आयी है। शुद्ध सङ्कल्प से परमाणु आकृष्ट होकर, यथावत् स्थान में स्थित हो देह का उत्पादन करते हैं। प्रलय के बाद, सृष्टि के आरम्भ में जो देह निर्मित होती हैं, वे एक हिसाब से अयोनिज स्थूल देह के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार की देह सृष्टि-कर्ता के संकल्पवश परमाणु-पुञ्ज के संघटन से उत्पन्न होती है।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि ऊर्ध्वरेता का शक्तिस्रोत ऊपर की ओर प्रवहन-शील होने पर भी आहार्य काम के प्रभाव से कुछ समय के लिये अधःवृत्त हो जाता है। यह ठीक है कि काम को आहरण करना या न करना स्वतन्त्रता-मूलक है। जो काम का आवाहन नहीं करते, अथवा इस तरह आहरण करने की स्वतन्त्रता जिनको नहीं

है, वे इस प्रकार की मैथुनी सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होते, परन्तु शुद्ध काम के आश्रय में केवल नाभि, हृदय और मस्तक प्रभृति का अंगुलि से स्पर्श करते हैं, अथवा देहसम्बन्ध के बिना भी योगीजन गर्भसञ्चार कर सकते हैं। यह भी एक प्रकार की रजोवीर्य-संघात की प्रक्रिया है, परन्तु यह पूर्णवर्णित प्रक्रिया से अत्यन्त सूक्ष्म है। जो कामाश्रय के अत्यन्त विरोधी हैं वे इस सूक्ष्म प्रक्रिया का भी अवलम्बन लेने की इच्छा नहीं करते।

पूर्वोक्त आलोचना द्वारा यह समझ में आ जायगा कि स्थूल देह एक प्रकार की नहीं होती। हमलोग प्रतिदिन लौकिक व्यवहार में जिस प्रकार की स्थूल देह देखते हैं वे अधःस्रोत वीर्य द्वारा उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः अशुचि और अशुद्ध हैं। साधना विशेष के प्रभाव से इस कामांश को शरीर से शोधित किये बिना देहशुद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र प्रसिद्ध स्थूल देह प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत है। ऊर्ध्वरेता जीव के संकल्प-प्रभाव से आहार्य काम के सम्बन्ध द्वारा अधोवृत्ति उदित होकर जो देह उत्पन्न होती है, वह द्वितीय श्रेणी की स्थूल देह है। यह अपेक्षाकृत शुद्ध होने पर भी मलिन है; क्योंकि यह भी मैथुन से उत्पन्न हुई है। ऊर्ध्वरेता जीव के संकल्प से शुद्ध काम का आहरण करके अंगुलि द्वारा स्त्री के नाभि, हृदय, मस्तक प्रभृति ऊर्ध्वाङ्ग के स्पर्श से जो स्थूल देह उत्पन्न होती है वह तृतीय श्रेणी की स्थूल देह है। एवं स्पर्श न करके केवल दर्शन या चिन्तन के द्वारा जहाँ गर्भ-सञ्चार होता है एवं उसके फलस्वरूप जो देह उत्पन्न होती है वह चतुर्थ श्रेणी की स्थूल देह है। तीसरी और चौथी स्थूल देह स्त्री-पुरुष के बाहरी मिथुनीभाव से उत्पन्न न होने के कारण शुद्ध है। फिर भी तीसरी की अपेक्षा चौथी देह और अधिक शुद्ध है। परन्तु जिस देह के उत्पन्न करने में बाह्य स्त्री-पिण्ड की अथवा उसके गर्भयन्त्र की आवश्यकता नहीं होती, वह और भी अधिक पवित्र देह है। यह ठीक है कि सूक्ष्म योनितत्त्व की आवश्यकता सर्वदा ही रहती है; क्योंकि 'योनेः शरीरम्' इस नियम के अनुसार योनि की सहायता के बिना केवल लिङ्गज्योति सृष्टि-कार्य में व्यापृत नहीं हो सकती। योगी के संकल्प-प्रभाव से भौतिक उपादान राशि आकृष्ट होकर सम्मिलित होती है एवं देह निर्मित करती है, यह देह पाँचवीं प्रकार की हैं एवं यह अत्यन्त शुद्ध है। बौद्ध एवं पातञ्जलगण की निर्माण देह, जैन लोगों की आहारक देह प्रभृति कुछ अंशों में इसी प्रकार की हैं। किसी-किसी स्थान पर शास्त्र में इसको औपपादिक देह कहकर भी वर्णना की गयी है। निर्माण देह एवं औपपादिक देह में परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी किसी-किसी अंश में समानता होने के कारण ये एक श्रेणी के अन्तर्भुक्त की गयी हैं।

इनके सिवा और भी एक प्रकार की देह है। जैसे पहले स्त्री-पिण्ड के बिना भी देहोत्पत्ति की बात कही गयी है, वैसे ही अवस्था-विशेष में पुरुष-पिण्ड के बिना भी देह उत्पन्न हो सकती है। शाक्त-सिद्धान्त की मूल बात यही है। मानवीय भाषा में इस तत्त्व को प्रकट करना हो तो कहना होगा कि यह देह अक्षतयोनि कुमारी से उत्पन्न सन्तान-देह है। खीस्टीय धर्म-साहित्य में जो Immaculate Conception प्रभृति

मतवाद की बातें सुनने में आती है, वे केवल मतवाद ही नहीं है। इसका गम्भीर रहस्य सूक्ष्मदर्शी तत्त्वविदों के सिवा अन्य लोगों को बोधगम्य नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि ईशु ख्रीस्ट की माता मेरी (Virgin Mary) कुमारी थीं। श्रीकृष्ण, बुद्ध प्रभृति अवतारों अथवा महापुरुषों का आविर्भाव भी किसी-किसी अंश में इसी के अनुरूप है। स्त्री कुमारी रह कर भी अर्थात् विकृत न होकर भी सन्तान की जननी हो सकती है। हिन्दू तन्त्रशास्त्र में जगदम्बा को कुमारी रूप से वर्णन करने का यही तात्पर्य है; क्योंकि ऐसा होने से विश्व-जगत् प्रसूत होने पर भी, उनकी स्वरूपस्थिति और निर्विकार भाव नष्ट नहीं होता। यह ठीक है कि उनका सधवा रूप भी है, यहाँ तक कि विधवा रूप भी है (जैसे धूमावती); पर उसका रहस्य स्वतन्त्र है।

अयोनिज देह के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसके द्वारा आपाततः यह विचार आ सकता है कि योनि की सहायता के बिना भी देह की उत्पत्ति संभव है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। यहाँ 'योनि' शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ ही समझना चाहिये। सूक्ष्म अर्थ के अनुसार सोचने पर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी प्रकार की देह भी अयोनिज नहीं हो सकती। ऊर्ध्वमुख त्रिकोण एवं अधोमुख त्रिकोण, ये दोनों त्रिकोण ही योनि-स्वरूप हैं। लिङ्गज्योति-रूप बिन्दु के क्षुब्ध होकर गतिशील होते ही योनि में आकर्षण शक्ति का उदय होता है। यदि बिन्दु अधोगतिशील होता है, तो यह प्राकृत या निम्नयोनि में प्रविष्ट होकर सृष्टि का विकास करता है। परन्तु क्षोभ-प्राप्त बिन्दु ऊर्ध्वगतिशील भी हो सकता है; इस अवस्था में उसका समावेश अप्राकृत या ऊर्ध्वयोनि में होता है, प्राकृत योनि में नहीं होता। इसके फल-स्वरूप अप्राकृत, दिव्य, एवं विशुद्ध देह का उद्भव होता है। यह ऊर्ध्वयोनि स्थान एवं शुद्धि के भेद से कई प्रकार की है। इसमें जो सबसे ऊर्ध्व है वह मनुष्य के शिरोदेश में अवस्थित है। वह योगि-समाज में ब्रह्मयोनि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी योनि से विशुद्ध ज्ञानदेह की सृष्टि होती है। परन्तु कहना नहीं होगा कि यह भी एक प्रकार की स्थूल देह के सिवा और कुछ नहीं है।

लौकिक स्थूल देह (वेदान्त दर्शन का अन्नमयकोश) साकौशिक देह के नाम से परिचित है। इसकी रचना में पञ्चभूतों की उपयोगिता ही रहती है। दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि इसका उपादान कारण एक ही भूत है या पाँचों भूत हैं। पर एक भूत को उपादान या समवायी कारण मानने पर भी अन्य भूतों की उपष्टम्भक-रूप से निमित्तता माननी ही पड़ेगी। सारांश, इसमें सारे भूत ही हैं। हाँ, पृथिव्यादि भूत विशेष का प्राधान्य होने के कारण यह पार्थिव आदि नामों से प्रसिद्ध होती है।

जिस प्रकार इस देह के सम्बन्ध के बिना जीव का कर्तृत्व निष्फल है, उसी प्रकार भोक्तृत्व भी निष्फल ही है। अर्थात् जो जीव स्थूल देहधारी है उसी का कर्म में अधिकार है, अतएव वही कर्ता होता है एवं भोग का आश्रय या भोक्ता भी वही हो सकता है; क्योंकि इस देह का अभिमान रहने तक ही एक ओर कर्तृत्व एवं दूसरी ओर

भोक्तृत्व प्रकट होता है। जिस प्रकार कार्य के साथ कारण का अथवा हेतु के साथ फल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का भी परस्परसम्बन्ध है। 'मैं कर्म का कर्ता हूँ' इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान नष्ट होने के बाद सुखःदुखभोग की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि वास्तव में उस समय कर्म ही नहीं होता। अभिमान-हीन पुरुष के लिये कर्म और उसका फल नहीं के बराबर हैं। परन्तु देह का अभिमान रहते कर्म भी करने ही पड़ते हैं। एवं उसी के अनुसार फल भोग भी जरूरी है। देहाभिमान का मूल अविद्या है, अतः अविद्या ही कर्मफल-मय संसार-चक्र की प्रवर्तक है। ज्ञानोदय के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से अभिमान का नाश होता है। तब जीव कर्म और भोग की बेड़ी से छुटकारा पाता है।

स्थूल देह को भोगायतन इसलिये कहते हैं कि इस देह का आश्रय लेकर ही पूर्व कर्मों का फलभोग सम्भव है। सूक्ष्म और कारण देह भोगायतन नहीं हैं। जिस देह से कर्म होता है वह कर्मदेह है एवं जिसके द्वारा भोग होता है वह भोग-देह है। और जिस देह के द्वारा कर्म एवं भोग दोनों होते हैं वह उभयात्मक देह है। कहने की जरूरत नहीं है कि ये सब स्थूल देह के ही भेद हैं। चौरासी लाख योनियों में परि-भ्रमण करके जीव स्थावर, उद्भिज्ज, स्वदेज, अण्डज प्रभृति अवस्थाओं के ग्रहण एवं परिहार-पूर्वक क्रमशः स्वभाव के स्रोत से अन्त में जरायुज श्रेणी को प्राप्त होता है। फिर क्रमशः जरायुज श्रेणी की ऊर्ध्वतम सीमा पर पहुँच कर दुर्लभ मनुष्यदेह पाता है। एक-एक श्रेणी में नाना प्रकार की क्रमोत्कृष्ट देह की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार नदी का स्रोत स्वभावतः ही क्रमशः समुद्र की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार पुरुष-संसर्ग के वश विक्षुब्ध प्रकृति का अन्तःस्रोत भी पुरुष की ओर ही प्रवाहित होता है। इसीलिये जीव बीजरूप से प्रकृति के गर्भ में आविर्भूत होकर क्रमशः ऊँचा उठता रहता है एवं क्रमशः उत्कृष्टतर देह प्राप्त करता रहता है। यह कृतकर्म का फल नहीं है। प्राकृतिक स्रोत के स्वाभाविक परिणाम का फल है। अहंभाव की स्फूर्ति न होने तक जीव का कर्माधिकार नहीं होता। अतएव मनुष्य-देह पाने के पूर्व तक चौरासी लाख देहों में सञ्चरण केवल प्राकृतिक व्यापार ही है, उसके मूल में व्यक्तिगत इच्छा या कर्म-प्रेरणा नहीं है। परन्तु मनुष्य-देह के साथ संसर्ग होते ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न हो जाता है, एवं इसीलिये कर्माधिकार की उत्पत्ति एवं फलभोग आवश्यक होता है। उस समय प्राकृतिक स्रोत का प्रभाव नहीं रहता एवं जीव स्वकृत कर्मों के अनुकूल ऊर्ध्व या अधोगति प्राप्त करता है। प्राकृतिक गति सरल और ऊर्ध्वमुखी है; पर कर्म की गतिवक्र चक्राकार एवं अनन्त वैचित्र्यमयी है। क्योंकि अभिमान के विकास से अनन्त प्रकार की लीलामय इच्छा का स्फुरण होता रहता है। इस अभिमान के निवृत्त होने से ही स्वाभाविक सरल गति का सूत्रपात होता है। इस सरल स्वाभाविक गति को फिर पाने के लिये ही दीक्षादि ग्रहण करके योगादि साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

मनुष्यदेह की विचित्रता सूक्ष्मदर्शी साधकों के सिवा दूसरों के गोचर नहीं होती; शक्ति यन्त्रद्वारा नियमित होकर प्रकाशित होती है। मुक्त शक्ति अव्यक्त है,

उसका स्फुरण नहीं होता। उसी प्रकार पुरुषसंसर्गवश चेतन-शक्ति जड़ प्रकृति के गर्भ में प्रविष्ट होकर उससे निकलते समय जड़ का सत्तांश आकर्षण करके प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दीपक तैल आदि के बिना प्रकाशमान नहीं होता, उसी प्रकार सत्त्व से रहित चेतन भी प्रकाशित नहीं होता। यह सत्त्व जड़ के साथ सम्बन्धित है। चेतनशक्ति इसका क्रमशः उद्धार करके इसके संगद्वारा स्वयं पुष्टिलाभ करती है।

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति का सत्तांश जागृत होकर उसी के अनुरूप चेतनशक्ति के साथ योगयुक्त होता है। प्राण, मन और बुद्धि के विकास का यही मूलसूत्र है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश के विकास का यही क्रम है। चित् और सत् का मिलन भलीभाँति सम्पादन कर लेने पर, उससे आनन्द की अभिव्यक्ति स्वभावतः ही होती है। तब दिव्य भाव का उदय होता है एवं आनन्दमय कोश का विकास होता है। क्रमशः षोडशी कला का आविर्भाव होकर खण्ड जीव फिर पूर्णज्ञानमय पुरुषोत्तम की गोद में, यहाँ तक कि पुरुषोत्तम-रूप की ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। पर उसके पहले यह सम्भव नहीं है।

हम साधारणतः जिस स्थूल देह को देखते हैं उसका परिचालन शक्ति के द्वारा ही होता है। स्थूल देह के संचार के मूल में ज्ञान और क्रिया शक्ति अवस्थित है। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-शक्ति की धारा है एवं कर्मेन्द्रिय क्रिया-शक्ति की धारा है। दोनों धाराएँ ही अन्तःकरण में समान भाव से सम्मिलित रहती हैं। यह तेजोमयी शक्ति देह के अन्दर बहुत सी सूक्ष्म नाड़ियों के आश्रय से प्राणादि वायुतत्त्व का अवलम्ब लेकर काम करती है। यद्यपि सारी इन्द्रियाँ स्थूल देह का आश्रय लिये हुए हो जान पड़ती हैं, पर तो भी वे वास्तव में स्थूल देह की अंश नहीं हैं; क्योंकि मृत्यु अथवा दूसरे के शरीर में प्रवेश करने के समय जब लिङ्ग शरीर स्थूल देह का त्याग करके बाहर चला जाता है तब वे भी स्थूल देह में विद्यमान नहीं रहतीं। इन्द्रियाँ आदि वास्तव में तेजोमय शक्ति-विशेष ही की देहगत स्फूर्ति हैं, इस तेज को ही लिङ्ग शरीर कहते हैं। यह अविभक्त होकर भी आधार के अनुसार विभक्त के समान प्रतीत होता है। यह स्थूल देह के साथ ओतप्रोत भाव से व्याप्त होकर रहता है। जैसे काठ के टुकड़े में सुप्त अग्नि विद्यमान रहती है, परन्तु दिखलायी नहीं पड़ती, क्रिया-विशेष के द्वारा उसे जागृत करना पड़ता है, वैसे ही यह लिङ्गात्मक तेज या ज्योति भी समस्त स्थूल देह में व्याप्त है। संघर्षण द्वारा इसको प्रज्वलित करके इच्छानुरूप काम लिया जा सकता है। सांख्य मत से लिङ्ग शरीर सप्तदश या अष्टादश अवयव-वाला है। अथवा वेदान्त मत से प्राणादि त्रिकोशमय है। पर इन पारिभाषिक शास्त्रीय विचारों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। लिङ्ग के साथ साक्षात् परिचय बिना हुए ये सब बातें सरलता से बोधगम्य नहीं होतीं। यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि हम लोग जिसको अन्तःकरण कहते हैं, वह भी इस लिङ्ग-ज्योति के ही अन्तर्गत है; यह लिङ्ग, संसार में किसी का भी विशुद्ध नहीं है; क्योंकि नाना प्रकार के संस्कार, वासना प्रभृति इसमें सञ्चित होकर इसको धूल लगे दर्पण के समान मलिन किये हुए हैं। किसी

विषय का आश्रय लेने से चित्त पर जो दाग पड़ता है, वही वासना है। वह कर्म अथवा लौकिक ज्ञान दोनों से उत्पन्न हो सकती है। इस वासना नामक संस्कार का विश्लेषण करने पर जिस प्रकार एक ओर अन्तःकरण की सत्ता मिलती है उसी प्रकार दूसरी ओर विषय का अंश भी उपलब्ध होता है। आसक्ति के प्रभाव से चित्त में विषय का आकर्षण होता है। सकाम भाव से जो कुछ किया या सोचा जाता है, वहाँ सर्वत्र ही विषय का अंश आकर अन्तःकरण से संलग्न हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर से कितने संस्कार इस प्रकार इकट्ठे हो रहे हैं, उसका कोई हिसाब नहीं है। ये सब स्वभावतः स्वच्छ हृदय-दर्पण को मलिन कर देते हैं। इन सबको लिङ्ग से दूर कर सकने पर ही लिङ्ग निर्मल (शुद्ध) होता है, बिना दूर किये नहीं।

मृत्यु के उपरान्त जब स्थूल देह को त्याग कर लिङ्ग बाहर चला जाता है, तब इन सारे संस्कारों और उनके साथ सूक्ष्म भूत समूह को भी साथ ले जाता है। जीवित अवस्था में भी यही होता है। मृत्यु के समय जो संस्कार या भाव प्रबल हो जाते हैं, वे पूर्वसञ्चित दूसरे भावों को उद्‌बुद्ध करके अपने में मिला लेते हैं एवं पिण्डीभूत होकर प्रारब्ध कर्मों की सृष्टि करते हैं। जीव उसी के अनुसार गति पाता है। फलतः अधिकांश स्थलों में इस फलभोग के लिये फिर स्थूल देह ग्रहण करने की आवश्यकता हो जाती है। अतएव मरने पर भी छुटकारा नहीं है, क्योंकि अभुक्त कर्मों के फलभोग के लिये जीव को स्थूल देह धारण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

अतएव जब इन सञ्चित संस्कारों का पुञ्ज कोई काम नहीं कर सकता एवं अभिनव अर्थात् नये कर्म और उत्पन्न नहीं होते तब चित्तशुद्धि होती है। इसका एक-मात्र उपाय ज्ञान है। अन्य किसी भी उपाय से चित्त की सम्यक्-रूपेण शुद्धि नहीं हो सकती। देहादि से अलग विशुद्ध आत्म-स्वरूप को साक्षात् रूप से जान लेने पर अभिमान नष्ट हो जाता है एवं इसीलिये नवीन कर्मों का बीज भी नष्ट हो जाता है और देहात्म-बोध के अभाव से प्राक्तन कर्म दग्धवत् हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञानोदय का मार्ग क्या है? लिङ्ग शरीर से निरन्तर चारों ओर रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। फलतः लिङ्ग सदा ही विक्षुब्ध रहता हे। यदि कौशल से इन विक्षुब्ध रश्मियों को एकत्र कर लिया जाय तो लिङ्ग स्थिरता को प्राप्त होकर उज्ज्वल, अखण्ड ज्योति के आकार में विकास को प्राप्त होगा। यहाँ ज्ञानमयी अथवा ज्ञानरूपी सिद्धि है। साधारणतः मनुष्य-मात्र की लिङ्गदेह असिद्ध है, क्योंकि मनुष्य प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों का चिन्तन करता रहता है। वह जिस समय जिस विषय का चिन्तन करता है उस समय उसका चित्त तदाकार हो जाता है, एवं वह उसी विषय का उपादान संग्रह करता है। किन्तु वह स्थायी नहीं होता। तुरन्त दूसरे विषय के चिन्तन से पहले का आकार नष्ट हो जाता है एवं दूसरा स्वरूप बन जाता है। इस तरह आकार का टूटना-बनना चित्त में बराबर चलता रहता है। वास्तव में यही दुर्बलता का चिह्न है। परन्तु जब किसी उपाय-विशेष के आश्रय से चित्त एक ही विषय को ग्रहण करके सदा के लिये उसी के आकार में आकारित हो जाता है तब

वह वज्र के समान कठिन हो जाता है। उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है एवं वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

इस अवस्था में जीव अपने आधार के अनुसार सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न हो जाता है। यह एक प्रकार चित्त की अद्वय अवस्था है। परन्तु यथार्थ अद्वैत-स्थिति चित्त शान्त न होने तक नहीं हो सकती। चित्त की यह अवस्था उसी हालत में प्रतिष्ठित होती है जब उसमें सूक्ष्म-रूप से भी दूसरा विषय लेशमात्र विद्यमान नहीं रहता। दृष्टान्त रूप से सोचिये कि एक व्यक्ति निरन्तर श्रीकृष्ण की भावना करता है। गुरुदत्त कौशल के अनुसार भावना करते-करते एक ऐसी परिबोधित अवस्था का उद्भव होता है कि उसका चित्त उसकी भावना के विषय के साथ ओत-प्रोत होकर एकीभूत हो जाता है। दृष्टान्त-स्थल में, जब चित्त श्रीकष्ण का आकार धारण करके अवस्थित हो, उस समय यह समझना चाहिये कि इसकी भावना का उत्कर्ष हुआ है। यदि चित्त में श्रीकृष्ण के सिवा अन्य किसी प्रकार का भी संसर्ग न रहे तो फिर चित्त के श्रीकृष्ण-भाव से हट जाने की सम्भावना नहीं रहती। अर्थात् उस समय चित्त में अन्य भावना या विकल्प का उदय नहीं होता, चित्त और कोई नया आकार धारण नहीं करता। उस समय चित्त का आकार श्रीकृष्णमय और स्थायी हो जाता है। वास्तव में यह सायुज्य-मुक्ति की अवस्था है। जिसकी ऐसी अवस्था हो गयी हो उसके चित्त या लिङ्ग को सिद्ध कहा जा सकता है। सूक्ष्मदर्शी योगी इस प्रकार के मनुष्य को देखकर समझ जाते हैं कि इसको श्रीकृष्ण-भाव की सिद्धि प्राप्त हो गयी है। इस उदाहरण के अनुसार ही अन्यत्र भी समझना चाहिये।

चित्त अत्यन्त स्वच्छ है। यह आलम्बन के सम्बन्ध से तदाकार हो जाता है। वास्तव में यह जो श्रीकृष्ण का आकार है वह सच्चा श्रीकृष्ण नहीं है। यह साधक जीव का श्रीकृष्णाकार-चित्त है। इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यही लिङ्ग-सिद्धि है। इस प्रकार के लिङ्ग-शरीर की सिद्धि के बिना उज्ज्वल ज्ञान-ज्योति का विकास नहीं होता, एवं संसार-बीज-स्वरूप अन्तःकरण में अवस्थित संस्कारादि भी नष्ट नहीं होते।

लिङ्ग-साधना की प्रथम अवस्था ज्योतिःसिद्धि है। यही सालोक्य मुक्ति है; क्योंकि समानलोकता ही सालोक्य है। लोक से मतलब है आलोक अथवा ज्योति का, अर्थात् ध्येय देवता की अङ्गप्रभा समझनी चाहिये। जिसको जो आलम्बन इष्ट है उसके लिये उसी की ज्योति ही निकट है। यद्यपि मूल ज्योति एक ही है, फिर भी पहले-पहल उसका साक्षात्कार सबको नहीं होता। अतएव श्रीकृष्ण का तेज, श्रीराम-चन्द्र का तेज, श्रीगणेश का तेज, पारमार्थिक दृष्टि से एक होते हुए भी, व्यावहारिक भूमि में परस्पर विभिन्न हैं। साधक जब इस इष्टतेज से अपने लिङ्गतेज को मिला लेता है, तभी उसकी सालोक्यमुक्ति सिद्ध होती है। यह सर्वदा ही स्मरण रखना चाहिये कि जिसको साधारणतः कृष्णलोक, रामलोक, गणपतिलोक कहा जाता है, वह वास्तव में, उन श्रीकृष्णादि-रूप मध्य-बिन्दु से निःसृत उनकी मण्डलाकार प्रभा-

राशि ही है। सुतरां सालोक्य अवस्था में उन-उन देवताओं के लोकों में ही स्थिति होती है। लोक के बाद रूप है एवं रूप के बाद शक्ति या ऐश्वर्य है। चित्त क्रमशः तद्रूपता प्राप्त कर उसकी शक्ति का अधिकारी होता रहता है। यदि अग्नि का आकार धारण करके भी उसकी दाहिका शक्ति को न प्राप्त किया तो समझना होगा कि अभी अग्नि का स्वरूप दूर है। यह शक्ति-लाभ ही सार्ष्टिमुक्ति की अवस्था है। इसके उपरान्त शक्ति या ऐश्वर्य को अतिक्रान्त करने के बाद सामीप्य-भाव का उदय होता है। ऐश्वर्य-अवस्था में अधिक घनिष्ठता नहीं होती, किन्तु सामीप्य-अवस्था में नित्य सान्निध्य रहने के कारण माधुर्य-भाव का विकास होता है। इसके बाद इष्ट के साथ सर्वथा योग-सम्पत्ति हो जाती है। यही सायुज्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही सब लिङ्ग की ही क्रम-श्रेष्ठ सिद्धि है।

परन्तु लिङ्ग सिद्ध होने पर भी, अर्थात् परमात्मा के सगुण रूप के समभावापन्नवत् हो जाने पर भी गुणातीत परा सत्ता में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। लिङ्ग की सर्वथा निवृत्ति हुए बिना निर्गुण अवस्था की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। कहना नहीं होगा कि यह लिङ्ग निवृत्ति ही परामुक्ति है। साक्षात् भगवत्कृपा एवं तदुद्भूत जीव का आत्मसमर्पण होने से हो पूर्णावस्था उदय होती है।

वास्तव में लिङ्ग की निवृत्ति ही आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है। लिङ्ग के पीछे लिङ्ग का प्रयोजक अविद्यामय कारण-शरीर वर्तमान रहता है। जब तक ब्रह्मविद्या के प्रभाव से इस कारण-शरीर का नाश नहीं होता तब तक पूर्ण अद्वैतसिद्धि की आशा बहुत दूर है। इस कारणात्मक मूल अज्ञान को अक्लिष्ट जानकर भक्तगण त्याग करना नहीं चाहते। बौद्ध सम्प्रदाय में भी सम्यक् सम्बोधिमय बुद्धत्व लाभ के पूर्व तक इस अक्लिष्ट अज्ञान की सत्ता स्वीकृत हुई है। परन्तु यह मुक्तावस्था के ही अन्तर्गत है, क्योंकि दोनों आवरणों में क्लेशावरण के दूर होने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अज्ञानावरण की निवृत्ति न होने तक अद्वय-भाव में स्थिति नहीं होती।

लिङ्गदेह सिद्ध करने के कई उपाय हैं। सहजियागण एवं वैष्णव आचार्यगण जिसको भाव-देह कहते हैं वह सिद्ध लिङ्गदेह के सिवा और कुछ नहीं है। सिद्ध होने के कारण इसमें लौकिक संस्कार एवं कर्माशय नहीं रहते। स्थूल देह सिद्ध करने का कौशल भी साधकों को अविदित नहीं है। रासायनिकों के मत में अष्टादश संस्कार से संस्कृत पारे के द्वारा देह-वेध होता है। लोहवेध के फलस्वरूप जैसे लोह सुवर्णत्व प्राप्त कर लेता है वैसे ही देहवेध के द्वारा अशुद्ध देह वज्र-पञ्जर के समान सिद्धि प्राप्त करती है।

पातञ्जल सम्प्रदाय में भूत जय से कायसम्पत् अथवा देह-सिद्धि की बात है। गोरखनाथ आदि नाथगण एवं बौद्धगण भी कायसिद्धि के सम्बन्ध में अनेक आदेश दे गये हैं। सुना जाता है कि शुक्राचार्य, जलन्धरनाथ, गोविन्द भगवत्पाद आदि सिद्ध-देह-सम्पन्न थे। इस देह में वृद्धत्व का आविर्भाव नहीं होता। नित्य ही यह किशोरावस्थापन्न एवं रमणीय दिखलायी पड़ती है। किसी प्रकार का भी विकार इस देह में

लक्षित नहीं होता। मृत्यु का आघात भी इससे एक प्रकार दूर ही रहता है। परन्तु यह आपेक्षिक है। यहाँ मृत्यु-जय से कल्पान्त-स्थिति समझनी चाहिये। जिन उपादानों से इस कल्प का उदय हुआ है, उन उपादानों के साथ देह के उपादानों का साम्य हो जाने के कारण कल्पक्षय के पहले इस देह का लय भी सम्भव नहीं है।

अग्नि और सोम के रहस्य का उद्घाटन इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। परन्तु यहाँ यह कह देना उचित है कि सोमकला से यह देह उत्पन्न होती है एवं अग्नि-रूपी काल इसे भक्षण करता है। यदि सोमकला अग्नि से, यहाँ तक कि कालाग्नि से भी प्रबल होती है, तो वैसी देह का कल्पान्त में भी विनाश सम्भव नहीं है। सोमपान-जनित अमरत्व-प्राप्ति का यही तात्पर्य है। किसी भी साधना के द्वारा देहस्थ सोमतत्त्व का प्रधान करके यदि अग्नि को अभिभूत किया जा सके तो आपेक्षिक मृत्युजय-भाव की प्राप्ति अवश्य ही होगी। स्थूल देह की अथवा लिङ्ग देह की दीर्घ अवस्थिति का कारण यही है।

हमने पहले जो आलोचना की है, उससे यह समझ में आ जाता है कि देहतत्त्व पर पूर्ण रूप से अधिकार नहीं कर सकने से देहातीत, विशुद्ध एवं अद्वैत आत्म-भाव की सिद्धि कभी सम्भव नहीं है। देह का अवलम्बन लेकर ही विदेह अवस्था को पाना होगा। यही शास्त्रों का एवं महाजनों का एकमात्र सिद्धान्त है। अतएव मुक्ति-कामी के लिये भी देहतत्त्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

मृत्युविज्ञान और परमपद

(१)

एक कहावत है कि 'जप-तप में क्या धरा है, मरना सीखो।' बात सीधी-सी होने पर भी अत्यन्त सत्य है। जप, तपस्या, सदाचार आदि जीवन की सभी प्रकार की साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं, यदि मनुष्य मरना नहीं जानता। और जो मरना जानता है, उसके लिये पृथक् रूप में किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे कई साधकों के इतिहास पुराणादि में मिलते हैं, जो जीवन भर कठोर नियमों का पालन और उग्र साधना करते रहने पर भी मृत्यु-काल की लौकिक भावना के प्रभाव से मृत्यु के बाद उसी भावना के अनुसार अपेक्षाकृत निकृष्ट गति को प्राप्त हुए। इसके विपरीत ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो जीवनकाल में अत्यन्त साधारण रूप से रहने पर भी प्राणत्याग के समय दृढ़ भावना के फलस्वरूप उस उच्च भावना के अनुसार उच्च गति को प्राप्त हुए हैं। मरणोत्तर गति मृत्युकाल में भावना पर ही निर्भर करती है। श्रीभगवान् ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता० ८।६)

'मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ अन्तकाल में देहत्याग करता है, उसी भाव से भावित होकर सदा उसी भाव को प्राप्त होता है।' राजा भरत मृत्युकाल में हरिण के बच्चे की भावना करते हुए देह-त्याग करने के कारण हरिण-योनि को प्राप्त हुए थे, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। इसीलिये सभी देशों में आस्तिक लोग मुमूर्षु (मरते हुए मनुष्य) में सात्त्विक भावों को जगाकर उनकी रक्षा करने के लिये मृत्यु के समय नाना प्रकार की बाहरी व्यवस्था करते हैं। मरने वाले मनुष्य के देह को अशुद्ध और अपवित्र वस्तु के स्पर्श से यथासम्भव बचाकर रखना, भगवद्भाव और अन्य प्रकार के सद्भावों को उदीप्त करने वाले वचनों को उसे सुनाना, साधुओं का संसर्ग कराना, सद्भाव से पूर्ण होकर मुमूर्षु के समीप बैठना आदि—ये सारे उपाय एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये होते हैं।

मृत्युकालीन भावना का इस प्रकार असाधारण प्रभाव है; इसलिये अन्त-समय में शुद्ध भावना बनी रहे, प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष को इसका उपाय सीख रखना चाहिये। समस्त जीवन की सारी चेष्टाएँ यदि किसी योग्य उपदेष्टा के आदेश के अनुसार इस एक ही उद्देश्य को लेकर हों तो मृत्यु के समय मनुष्य निश्चय ही इष्टभावना को प्राप्त कर सकता है और मृत्यु के बाद उसी के अनुसार इष्टगति भी पा सकता है। उपासक की ओर कर्मी की गति अलग होने पर भी दोनों एक ही मूल विज्ञान की आलोचना के विषय हैं। अतएव मृत्युविज्ञान का मूल सूत्र समझ लेने पर मरण के बाद होनेवाली सभी गतियों का रहस्य समझा जा सकता है।

मृत्युविज्ञान का माहात्म्य पढ़कर कोई यह न समझ बैठें कि जीवन में साधना की आवश्यकता नहीं है। साधना की बड़ी ही आवश्यकता हैं, वस्तुतः साधना का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये, जिसमें जीवित दशा में ही मृत्युकाल की अभिज्ञता प्राप्त हो जाय और मृत्यु के अन्दर से नित्य जीवन का पता लग जाय।

जो जीते ही मरना जानता है, वह मृत्यु से नहीं डरता। मृत्यु को अतिक्रम किये बिना अतिमृत्यु अवस्था प्राप्त नहीं होती और पूर्ण सत्य की यथार्थ उपलब्धि किये बिना मृत्यु का अतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो जीवनकाल में पूर्ण सत्य की उपलब्धि कर पाते हैं, मृत्युकाल में भगवत्कृपा से उनकी वह उपलब्धि अपने-आप अनायास ही आविर्भूत हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि गति मनुष्य के अन्तिम भाव पर निर्भर करती है। साधारणतः परा और अपरा भेद से गति दो प्रकार की है। जिस गति में पुनरावर्तन नहीं है, वही 'परमा गति' है। और जिस गति में ऊर्ध्व अथवा अधःलोकों में जाकर कर्मफल भोगने के पश्चात् पुनः मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह 'अपरा गति' है। देवता, मनुष्य, प्रेत, नरक, तिर्यक् आदि योनियों के भेद से गतिभेद हुआ करता है। अर्थात् कर्मवश कोई देवलोक को जाता है और देव-देह प्राप्त करके नाना प्रकार के दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। कोई 'यातना-देह' पाकर नरक-यन्त्रणा भोगता है। उन-उन लोकों में इन सब भोगों के द्वारा कर्मक्षय होने पर शेष कर्मों के कारण फिर मनुष्य देह में आना पड़ता है।

परा गति एक होने पर भी उसमें भी भेद हैं। अवश्य ही सभी भेदों में सर्वत्र एक ही वैशिष्ट्य दिखलायी पड़ता है। मृत्यु के साथ ही भगवान् के परम-धाम में में प्रवेश किया जाता है, अथवा मृत्यु के बाद कई स्तरों में होते हुए वहाँ पहुँचा जाता है। यह दूसरे प्रकार की गति भी 'परमा गति' ही है। कारण, इस स्तर से अधोगति नहीं होती, क्रमशः ऊर्ध्वगति ही होती है और अन्त में परमपद की प्राप्ति हो जाती है। तथापि, यह परमा गति होने पर भी है अपेक्षाकृत निम्न अधिकारी के लिए ही।

इनमें पहली मृत्यु के बाद सद्योमुक्ति है और दूसरी क्रम-मुक्ति। एक अवस्था और है—जिसमें गति ही नहीं रहती। इस अवस्था में जीवन-काल में ही परमपद का साक्षात्कार हो जाता है। यही जीवनकाल की सद्योमुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति है। जो पुरुष यथार्थ में इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रारब्धवश शरीर चलता है और कर्म का क्षय होने पर शरीर का पात हो जाता है। उस समय अन्तःकरण, बाह्यकरण और प्राणादि सभी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं—लिङ्ग की निवृत्ति हो जाती है, उत्क्रान्ति नहीं होती। देह-त्याग के साथ ही साथ विदेह-कैवल्य लाभ हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति का भेद केवल उपाधिगत ही है, वास्तविक नहीं।

जन्मान्तर में अथवा मरने के बाद किसी अन्य देह की प्राप्ति न होने से ही जीव को परम-पद की प्राप्ति हो जाती है, ऐसी बात नहीं है। परम-पद की ओर जाने

के मार्ग में, क्रम-मुक्ति में मध्यमाधिकारी की साधारणतः यही अवस्था होती है। उसको जिन स्तरों अथवा धामों को लाँघकर जाना पड़ता है, वे शुद्ध हैं; उनमें वासना होने पर भी वह शुद्ध वासना है; वे समस्त स्तर मायातीत होने पर भी महामाया के अन्तर्गत हैं। उनमें अशुद्ध वासना नहीं है, इसलिये वहाँ अशुद्ध स्तरों का अधःआकर्षण नहीं होता है। विशुद्ध साधना का आस्वादन इन्हीं सब स्तरों में हुआ करता है। ये सब शुद्ध धाम होने पर भी भगवान् के परम धाम नहीं हैं। इन स्थानों से अधोगति अवश्य ही नहीं होती, परन्तु यहाँ अपूर्णता का बोध रहता है—यहाँ मिलन-विरह है, उदयास्त है, आविर्भाव-तिरोभाव है। यहाँ भगवान् की नित्योदित सत्ता का पूर्ण साक्षात्कार नहीं मिलता।

मनुष्य का जन्म क्यों होता है? मलिन भोग-वासना ही जन्म में कारण है। कर्तृत्वाभिमान के साथ सकाम भाव से कर्म करने पर चित्त में नयी-नयी वासनाओं का उदय होता रहता है और उसके प्रभाव से प्राचीन संस्कार जाग्रत् होकर उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। कालभेद से विभिन्न वासनाएँ क्रियमाण कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण और साधारणतः विक्षिप्त चित्त में पूर्वक्षणवर्ती और परक्षणवर्ती वासनाओं में परस्पर विजातीय भेद होने के कारण कोई भी वासना प्रबल आकार धारण करके फलोन्मुख नहीं हो सकती। कोई-सी भी पहली वासना अगली विजातीय वासना के द्वारा दबकर योग्य उद्दीपक कारण की प्रतीक्षा करती हुई अव्यक्त भूमि में सञ्चित रहती है। मन की क्रिया के साथ वासना-भावनादि का स्वाभाविक सम्बन्ध है, परन्तु मन की क्रिया प्राण की क्रिया के साथ सम्बन्धित है। प्राण के निश्चल होने पर मन कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर मन की क्रिया भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म हो जाती है। इसी के फलस्वरूप जो वासनाएँ व्यक्त होती हैं या भावनाएँ उदित होती हैं, वे भी सूक्ष्म स्तर की होती हैं। देहस्थ प्राण प्राणवाहिनी शिरा का आधार लेकर कार्य करता है। इसी प्रकार मन भी मनोवहा नाड़ी का अवलम्बन लेकर क्रिया करता है। इसीलिये वासना या भावना के तारतम्य के अनुसार विभिन्न नाड़ियों में क्रियाशीलता देखी जाती है। मनुष्य मृत्यु के पूर्वक्षण जो चिन्तन करता है, अर्थात् उस समय उसके चित्त में जिस भावना का उदय होता है, वही उसकी अन्तिम चिन्ता या भावना होती है; क्योंकि उसके बाद ही देहगत प्राणों की क्रिया निरुद्ध हो जाती है, इसलिये कोई नयी भावना उदय होकर उस अन्तिम भावना को दबा दे—ऐसी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह अन्तिम भावना ही एकाग्र होकर प्रबल आकार धारण कर लेती है। देहाश्रित विक्षिप्त करण-शक्ति की मृत्युकालीन स्वाभाविक एकाग्रता से भी इस तन्मयता को विशेष पुष्टि मिलती है। एकाग्रता के फलस्वरूप हृदय में एक दिव्य प्रकाश का उदय होता है, मुमूर्षु का (मरने वाले का) अन्तिम भाव इस ज्योतिर्मय प्रकाश में स्पष्ट विकसित हो उठता है और दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर वह अभिव्यक्त भाव ही जीव को यथोचित नाड़ी-मार्ग अथवा द्वारपथ से निकालकर बाहर ले जाता है और कर्मानुसार भोगायतन शरीर ग्रहण करवाकर निर्दिष्ट काल के लिये सुख-दुःख का भोग करवाता है।

मृत्युकाल में जो भाव का उदय होता है, उसका तत्त्व-विश्लेषण करने पर कई बातें जानने में आती हैं। उच्चाधिकार-विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थ-बल से इष्टभाव-विशेष को प्राप्त करके उसे बनाये रख सकते हैं। मध्यमाधिकारी पुरुष की स्वतन्त्रता परिच्छिन्न होने के कारण मृत्यु के समय हृदय में उस भाव-विशेष को उद्दीपित करने के लिये अथवा जिसमें वह भाव पहले से ही अविच्छिन्न भाव से जाग्रत् रहे, इसके लिये उसकी जीवनभर निर्दिष्ट साधन के द्वारा चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिकूल दैव न होनेपर भगवान् के मङ्गल-विधान से उसकी वह चेष्टा सफल हो सकती है। दैवशक्ति अथवा महापुरुषों का अनुग्रह होने पर मृत्यु के समय अपनी ओर से किसी प्रकार की विशेष चेष्टा न होने पर भी निश्चय ही सद्भाव की जागृति हो सकती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष की, इष्टदेवता की, सद्गुरु की अथवा ईश्वर की दया को इस अनुकूल दैवशक्ति के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। निम्नस्तर के मनुष्य अधिकांश स्थलों में पूर्व कर्म के अधीन होकर जड़ की भाँति काल के स्रोत में बह जाते हैं।

भाव की जागृति किसी भी प्रकार से हो, भाव के वैशिष्ट्य से ही मृत्यु के बाद जीव की गति निर्दिष्ट होती है। 'जैसा भाव वैसो ही गति।' 'अन्त मति सो गति।' जो पुरुष जीवन काल में ही भाव से अतीत हो गये हैं—जो सचमुच जीवन्मुक्त हैं, उनकी कोई गति नहीं है। वासना-शून्य होने पर गति नहीं रहती—वही श्रेष्ठतम परम गति है। गीता में भगवान् ने कहा है—

> अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
> यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (८।५)

'अन्तकाल में भगवद्भाव का स्मरण करते हुए देहत्याग कर सकने पर भगवान् का सायुज्य-लाभ किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

(२)

यहाँ एक रहस्य की बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भावोदय के साथ मन, प्राण आदि की अवस्था और नाड़ी विशेष की क्रिया का सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन, प्राण आदि को निर्दिष्ट प्रकार से स्पन्दित कर सकने पर और नाड़ी-विशेष का सञ्चालन करने पर तदनुसार ही भाव का उदय हुआ करता है। फलतः गति के ऊपर उसका प्रभाव कार्य करता है। आसन, मुद्रा, प्राणक्रिया प्रभृति दैहिक और प्राणिक चेष्टाओं से मन की क्रिया और भाव आदि नियन्त्रित होते है—इस बात को सभी जानते हैं। इस मृत्युविज्ञान को तिब्बत में बहुत से लोग अब भी जानते हैं और क्रिया-रूप में उसका प्रयोग भी किया करते है।[1]

१. देखिये 'With Mystics and Magicians in Tibet' by Alexandra David-Neel, pp. 29-33 (Penguin Books Ltd., Harmondsworth, Middlesex, England).

हमारे यहाँ उसका ज्ञान शास्त्रों में और कुछ थोड़े से महापुरुषों में ही सीमित रह गया है। साधारण लोगों को न उसका कुछ पता है और न उससे कोई लाभ ही उठाते हैं।

गीता के अष्टम अध्याय में दो जगह (श्लोक ९, १० और श्लोक १२, १३ में) इस विज्ञान का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। यथा—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(८।९-१०)

अर्थात् 'यदि कोई मृत्यु के समय भक्तियुक्त होकर स्थिर चित्त से योगबल के द्वारा सम्यक प्रकार से भ्रुवों के मध्य में प्राणों को आविष्ट करके, उस तमोऽतीत, सूर्य की भाँति दीप्तिशील, समस्त जगत् के कर्ता और उपदेष्टा, परम सूक्ष्म प्रज्ञानघन दिव्य पुराण-पुरुष का स्मरण करता है, वह उनको प्राप्त होता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥
(८।१२-१३)

अर्थात्—'सब द्वारों को संयत करके, मन को हृदय में निरुद्ध करके, योगधारणा के द्वारा प्राणों को मूर्ध देश में अथवा मस्तिष्क में स्थापन करके एकाक्षर शब्द ब्रह्म ॐकार का उच्चारण और भगवान् का स्मरण करते-करते जो देह-त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।'

किस प्रकार से देह-त्याग करने पर साक्षात् भाव से भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है, गीता के उपर्युक्त श्लोकों में उसी का वर्णन किया गया है। विचार-शील पाठक देखेंगे कि इस वर्णन में संक्षेप से अष्टाङ्गयोग, मन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि भगवत्प्रापक सभी साधनाओं का सार उपदेश भरा हुआ है। भगवत्कृपा से इस विज्ञान-रहस्य को जितना कुछ मैं समझ सका हूँ उसी का किञ्चित् आभास थोड़े शब्दों में इस छोटे-से लेख में देने की चेष्टा की जाती है। मेरी जड़ता के कारण जो त्रुटियाँ दिखलायी पड़ें, सुधीजन दया करके उनके लिये मार्जना करें।

(३)

गीता के वचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ॐकार के उच्चारण से पूर्व सर्वद्वारों का संयम, हृदय में मन का निरोध और प्राणों का भ्रूमध्यादि (मूर्धपर्यन्त) देश में स्थापन होना आवश्यक है। द्वार-संयम अवश्य ही नवद्वारों का नियन्त्रण है।

मनुष्य का शरीर नवद्वारों वाला है। मृत्यु के समय साधारणतः इन्हीं नव द्वारों में से किसी एक द्वार से प्राण बाहर निकलते हैं। अपने-अपने कर्मानुसार पुण्यवान् पुरुष ऊपर के द्वारों से, पापी नीचे के द्वारों से और मध्य श्रेणी के पुरुष बीच के द्वारों से जाते हैं (महाभारत-शान्तिपर्व, अध्याय २९८)। जीव जिस प्रकार के द्वार-पथ से बाहर निकलता है; उसकी उत्तर-कालीन गति भी उसी के अनुसार हुआ करती है। अथवा जो जीव जिस प्रकार की गति प्राप्त करने वाला होता है, कर्म देवता की प्रेरणा से परवश होकर उसे तदनुकूल द्वार से ही बाहर निकलना पड़ता है। परन्तु पुण्यवान् अथवा पापी कोई भी दशम द्वार से अथवा ब्रह्मरन्ध्र-पथ से नहीं निकल सकता। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण का मार्ग है। इस पथ से बाहर निकलने पर फिर मानव-आवर्त में पुनरागमन नहीं होता। मृत्यु-काल में नौ द्वारों के रोकने का प्रधान उद्देश्य यही है कि उन मार्गों से निकलने पर पुनरावर्तन अवश्यम्भावी है। उनके बन्द कर देने पर अपुनरावृत्ति-द्वार का अथवा ब्रह्म-पथ का खुलना सहज हो जाता है। घड़े के छेद को बन्द न करके यदि जल भरा जाय तो जैसे उसमें जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही इन सब बाहरी द्वारों को रोके बिना अन्तर्द्वार के खोलने की चेष्टा व्यर्थ होती है। बाह्य द्वारों के रुक जाने पर निश्चिन्त होकर भीतर का पथ ढूँढ़कर प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु इन द्वारों को किस प्रकार से संयत करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में गीता में स्पष्ट उपदेश नहीं दिया गया है। योगी लोग कहते हैं कि यद्यपि नवद्वारों में से किसी एक द्वार का अवलम्बन करके क्रिया के कौशल से इन द्वारों को रोका जा सकता है, तथापि मुद्राविशेष के द्वार गुद-द्वार को रोक दिया जाय तो सहज ही फल प्राप्त हो सकता है। कुछ ही देर तक उस विशिष्ट मुद्रा का अभ्यास करने पर एक आवेश का भाव उत्पन्न होता है, तब बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है और सारे द्वार-पथों में[1] ताला-सा लग जाता है। यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है। परन्तु याद रखना चाहिये कि इस मुद्रा का कार्य करने से पहले पूरक और तदनन्तर कुम्भक प्राणायाम कर लेना आवश्यक है। वायु को स्तम्भित करने के बाद ही मुद्रा का साधन करना पड़ता है। कुम्भक अच्छी तरह कर सकने पर समान वायु की तेजो-वृद्धि होती है, तब प्रबल समान वायु के द्वारा आकर्षित होकर देहस्थित सभी नाड़ियाँ (तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधःस्थ) मध्यनाड़ी या सुषुम्णा में एकीभूत हो जाती हैं और उन-उन नाड़ियों में सञ्चरणशील वायु-समूह भी समरसीभूत होकर एकमात्र प्राण के रूप में परिणत हो जाता है। यही नाड़ी का सामरस्य है। इसके बाद, सुषुम्णा नाड़ी ऊर्ध्वस्रोतस्विनी है या वह ऊपर की ओर बह रही है—इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है। सुषुम्णा देहस्थित सब नाड़ियों के बीच में है—यह नाभि से लेकर मस्तकस्थ ब्रह्मरन्ध्र का भेद करके शक्तिस्थान-पर्यन्त विस्तृत है। इस साधन के फलस्वरूप सभी नाड़ियाँ और हृदयादि समस्त ग्रन्थि-कमल (कुम्भक

---

१. यही इन्द्रियद्वार है।

और मुद्रा के प्रभाव से) रुककर (भावना के बल से) सर्वतोभाव से विकसित हो जाते हैं—ऊपर की ओर बहने लगते हैं[1] ।

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थानों में प्राणशक्ति सरलगति से रहित होकर कुटिल या वक्र हो गयी है, इसी से उन सब स्थानों को ग्रन्थि कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ सङ्कोच-विकासशील होने के कारण पद्म या कमल भी कही जाती हैं।

द्वार-संयम या प्रत्याहार सिद्ध होने पर, अर्थात् इन्द्रिय और प्राणों के प्रत्याहृत होने पर मन की बहिर्मुखी प्रेरणा या आकर्षण निवृत्त हो जाता है। कारण, इन्द्रिय ही वायु की सहकारिता से मन का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध करती है। द्वार-संयम सिद्ध हो जाने पर योग का बहिरङ्ग सम्पन्न हो जाता है।

अन्तरङ्ग अंश तब भी शेष रहता है, वह मनोनिरोध के द्वारा सम्पन्न होता है। धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरङ्ग योग वस्तुतः मनोनिरोध के ही क्रमिक उत्कर्ष के नाम हैं। मन के निरोध का स्थान है हृदय। द्वार-संयम के बाद इन्द्रियपथ रुक जाने के कारण मन यद्यपि बाह्य जगत् में नहीं जा सकता, तथापि वह देह के अन्दर प्राणमय राज्य में अबाध सञ्चरण करता रहता है। इस सञ्चरण के फलस्वरूप सुप्त संस्कार-समूह जाग्रत् होकर स्वप्न की भाँति दृश्य-दर्शन के कारण बन जाते हैं। स्थिरता-प्राप्ति के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। यह पहले कहा जा चुका है कि मन के सञ्चरण-मार्ग का नाम मनोवहा नाड़ी प्रसिद्ध है। देह-भर में व्याप्त अति सूक्ष्म आध्यात्मिक वायु के सहारे सूत के तन्तुओं से बने जाल की भाँति एक बहुत ही जटिल नाड़ी-जाल फैला हुआ है। यह देखने में अनेकांश में मछली के जाल के समान है और बीच-बीच में कूट ग्रन्थियों के द्वारा संयोजित है[2] ।

---

१. अब तक अपान-शक्ति की प्रधानता के कारण ये सब अधोमुखी और सङ्कुचित थे।

२. मनोवहा नाड़ी की अनेकों प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा यह जाल बना हुआ है। मन की एक-एक प्रकार की वृत्ति या भाव एक-एक प्रकार की नाड़ी के मार्ग में क्रिया करता है, अर्थात् एक-एक प्रकार के भाव के उदय होने पर मन एक-एक प्रकार के नाड़ी-मार्ग में घूमने-फिरने लगता है। ये सभी मार्ग सामान्यतया मनोवहा नाड़ी होने पर भी इनमें परस्पर वर्णादिगत अनेकों प्रकार के अवान्तर भेद हैं। रूपवाहिनी, शब्दवाहिनी आदि नाड़ियों के साथ मनोवहा नाड़ी का संयोग है। पञ्चभूत के सारतेज के द्वारा ही मन का प्रकाश होता है। मन के वृत्तिभेद में भी पञ्चभूतों का सन्निवेशगत तारतम्य है, जैसे क्रोध में तेज और काम में जल इत्यादि का प्राधान्य है (यद्यपि प्रत्येक वृत्ति में ही पञ्चभूतों का अंश है)। पूर्व के अनेक जन्मों की वासनारूपी सूक्ष्मवायु के कण या रेणुओं के द्वारा यह जाल भरा हुआ है। यही सब मन को चञ्चल करते हैं। हृदय के बाहर इस प्रकार एक बड़ा भारी जाल है। इस प्राणमय नाड़ी-जाल के द्वारा सारा शरीर व्याप्त है। यह वायुमण्डल मन का सञ्चार-क्षेत्र है। इसी के अन्दर यथास्थान लोक-लोकान्तर भासित होते हैं। चञ्चल मन इसमें सर्वत्र सञ्चरण करता रहता है। इस व्यष्टि-देह की ही भाँति ब्रह्माण्ड में भी सूर्यमण्डल के बाहर इसी प्रकार का जाल सारे विश्व में व्याप्त है। एक एक नाड़ी एक-एक रश्मि है।

मन सूक्ष्म प्राण की सहायता से वासनानुसार इन स्थानों में भ्रमण करता है और नाना प्रकार के दृश्य देखता है। इन दृश्यों का देखना और तज्जनित भावों का उदय होना पूर्व संस्कार का ही पुनरभिनय है। इन्द्रियपथ के द्वारा जो आत्मतेज अब तक बाह्य जगत् में फैला हुआ था, वही इन्द्रियों के रुक जाने के साथ-साथ उपसंहृत होकर अन्दर संस्कार-राज्य में फैल जाता है। उस समय बाह्य अनुभव, यहाँ तक कि बाह्य स्मृति तक लुप्त हो जाती है। इसी से इन संस्कारों के दर्शन अत्यन्त स्पष्ट और जीवित के सदृश अनुभूत होते हैं, प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। साधारणतः बहुत लोग इनको ध्यान-जनित दर्शन कहा करते हैं। परन्तु वास्तव में इनका बहुत अधिक मूल्य नहीं है। विक्षिप्त चित्त में ही ऐसा हुआ करता है। बाह्य ज्ञान लुप्त होने के साथ ही इन सारे दर्शनों का उदय होता है। सत्य की खोज में लगे हुए योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार के दर्शनों से यथासम्भव अपने को बचाकर चले, इनमें फँस न जाय। मन की चञ्चलता या चलन-शक्ति के रुके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं।

परन्तु प्राण को स्थिर किये बिना मन की इस चञ्चलता को दूर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिये द्वार-संयम के बाद और मनोनिरोध के पहले प्राणों को स्थिर करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। योगधारणा के द्वारा देह के अन्दर नाना प्रकार के कार्य करने वाली प्राणशक्ति को भ्रू-मध्य में और भ्रू-मध्य से मूर्धापर्यन्त स्थापित करना पड़ता है। प्राणशक्ति के सञ्चार-क्षेत्र असंख्य नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत किये बिना असंख्य प्राणधाराओं को एक मार्ग पर चलाना और समस्त प्राणों को एक स्थान में एकत्र करना सहज नहीं होता। श्रीभगवान् ने 'योगबल' और 'योगधारणा' के द्वारा इसी योजनात्मक कार्य की ओर ही सङ्केत किया है। इसे किस प्रकार करना पड़ता है, इसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है[१]। द्वार-संयम या प्रत्याहार द्वारा जैसे मन की इन्द्रियाभिमुखी बहुमुखी धारा रुकती है, वैसे ही इस योगधारणा के प्रभाव से प्राण की बहुमुखी धाराएँ एकत्र होकर मिल जाती हैं। प्राण की विभिन्न धाराएँ इडा और पिङ्गला के मार्ग से द्विधा विभक्त होकर सहज ही भ्रू-मध्य में गुप्तधारा सुषुम्णा के साथ मिलकर एक हो जाती हैं। यही ऊर्ध्व में त्रिवेणी-सङ्गम है। अथवा पहले मूलाधार में, अधःस्थ त्रिवेणीक्षेत्र में ये दोनों धाराएँ सुषुम्णा के साथ सङ्गत होती हैं। इसके बाद वह एकीभूत हुई धारा क्रमशः ऊपर उठकर भ्रू-मध्य में पहुँचकर स्थिर हो जाती है। इधर विक्षिप्त मनःशक्ति भी चञ्चलता छोड़कर हृदय-प्रदेश में सो जाती

इन रश्मियों के मार्ग से ही प्राण या मन सञ्चरण किया करते हैं, देह के भीतर के लोकों में भी करते हैं और बाहर के लोकों में भी।

१. कुम्भक के प्रभाव से समान-वायु उत्तेजित होकर सब नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत (नाड़ी-सामरस्य) और समस्त वायु-समूह को प्राण की धारा में पर्यवसित कर देती है, यही संयोजन की क्रिया है।

है। मन स्थिर होने पर वह नाड़ी-मार्ग में नहीं रहता। नाड़ियाँ मन के सञ्चरण का मार्गमात्र हैं। मन जितना ही स्थिर होता जाता है, उतना ही नाड़ीचक्रस्थ वायुमण्डल सङ्कुचित होकर हृदयाकाश में प्रविष्ट हो जाता है। तब मन की चञ्चलता शान्त हो जाती है, मन निरुद्धवृत्तिवाला होकर स्थित रहता है।

यह हृदय या दहर-आकाश ही स्थिर मन के रहने का स्थान है।

यतो निर्याति विषयः यस्मिश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम्॥

हृदय पुरोतत् नाड़ी के द्वारा घिरा हुआ शून्यमय अवकाश है। जब मन इस अवकाश को प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वात देश में स्थित होने के कारण अचल हो जाता है। यही मन का निरोध है। मन की क्रियाओं का अभाव होने के कारण उस समय वृत्ति-ज्ञान नहीं रहता। इसीलिये सुषुप्ति में मानसिक वृत्तिरूप ज्ञान का अभाव होता है। द्वार-संयम और मनोरोध होने पर सुषुप्ति की अवस्था ही द्योतित होती है। द्वार-संयम हो जाने से इन्द्रियों के विषयों का सन्निकर्ष नहीं रहता, इस कारण जाग्रत्-ज्ञान नहीं होता और मन की वृत्तियों के स्तम्भित हो जाने के फलस्वरूप स्वप्न-ज्ञान भी नहीं होता। अतएव यह जाग्रत् और स्वप्ननामक दोनों अवस्थाओं से अतीत सुषुप्ति के सदृश एक अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

केवल सुषुप्ति के सदृश ही नहीं—यह जड़वत् अवस्था है। कारण, सुषुप्ति में मन के कार्य न करने पर भी प्राण निष्क्रिय नहीं रहते। मनुष्य अज्ञान में निमग्न रह सकता है, ज्ञान और ज्ञानमूलक कोई वृत्ति उसके नहीं रह सकती; किन्तु उस समय भी देह-रक्षण के उपयोगी श्वास-प्रश्वास आदि की प्राणक्रिया तो होती ही रहती है। परन्तु इस अवस्था में प्राण भी अपने-अपने कार्यों से छुट्टी लेकर स्थान-विशेष में स्थिर हो जाते हैं। अतएव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की भाँति मन और प्राण के भी निस्तब्ध हो जाने के कारण उस समय मनुष्य एक तरह से शव-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। परन्तु मन की यह जो सुषुप्तिवत् स्थिरता है, यह वास्तविक स्थिरता नहीं हैं। यह तमोगुण का आवरण मात्र है। यह यथार्थ निरोध नहीं है। एकाग्रता के बाद ही निरोध होता है। एक के बाद एक एकाग्रता की समस्त सूक्ष्म भूमियों को लाँघ जाने पर निरोध अपने-आप ही आ जाता है, इसीलिये योगी लोग सम्प्रज्ञात समाधि के बाद ही निरोधात्मक असम्प्रज्ञात समाधि को योगपद पर वरण करते हैं। यही 'उपायप्रत्यय' है। सम्प्रज्ञात के हुए बिना प्राकृतिक कारणवश यदि मन का निरोध हो जाता है तो वह असम्प्रज्ञात होने पर भी 'भवप्रत्यय'—योगपदवाच्य नहीं है।

मन को संस्कृत अथवा शुद्ध किये बिना उसे स्थायीरूप में निरुद्ध नहीं किया जा सकता, कारण, उसमें बीज का ध्वंस नहीं होता। डूबी हुई चीज के पुनः ऊपर उठ आने की भाँति उसका फिर व्युत्थान होता है, पुनरावृत्ति होती है। प्रज्ञा का उदय होकर क्रमशः उसका निरोध होना ही आवश्यक है। जैसे पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला

का क्रमशः क्षय होते-होते बिल्कुल कलाहीन अमावस्या हो जाती है, वैसे ही इसको भी समझना चाहिये।

इसलिये हृदय से मन को चेतन करके उठाना होगा। वस्तुतः चेतन करना और उठाना एक ही चीज है। सुषुम्णा का स्रोत ही चैतन्य की धारा है—मन को जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा की धारा में डाल देना होगा। यह जाग्रत् मन ही मन्त्रस्वरूप है, जिसको एक तरह से प्रबुद्ध कुण्डलिनी की स्फूर्ति भी कहा जा सकता है। शिवसूत्र में एक सूत्र है 'चित्तं मन्त्रः।' इस सूत्र में इसीलिये चित्त या मन को मन्त्र कहा गया है। प्राण सुषुम्णा के स्रोत में बहकर ऊपर चले गये हैं। मन को भी उसी स्रोत का सहारा पकड़ना होगा। तभी प्राण और मन का पूर्ण मिलन सम्भव होगा। इस मिलन से ही दिव्य ज्ञान का उदय होता है। अतएव हृदय में जिस मन के रोकने की बात कही गयी है, उसे अशुद्ध मन का रोध ही समझना चाहिये। इसके बाद विशुद्ध सत्त्वात्मक मन का विकास (ऊर्ध्वारोहण मार्ग से), उसका क्रमिक क्षय और गीतोक्त ॐकार के उच्चारण का कार्य होता है।

और एक बात है। हृदयरूपी शून्य में जैसे असंख्य नाड़ियों का पर्यवसान होता है, वैसे ही असंख्य नाड़ियों के एकीभूत होने पर जिस ऊर्ध्वस्रोता महानाड़ी का विकास होता है, उसका भी पर्यवसान एक महाशून्य में हुआ करता है। हृदयाकाश में जैसे सञ्चार नहीं हैं, वैसे ही इस महाकाश में भी सञ्चार नहीं हैं। परन्तु हृदयाकाश जैसे गतागति के अतीत नहीं है, कारण, बहुमुखी मन यहाँ आकार लीन होने पर भी व्युत्थित हो फिर बहुमुखी होकर दौड़ता है, वैसे ही यह महाकाश भी गतागत से अतीत नहीं है। यहाँ एकीभूत मन विलीन होने पर भी वह फिर उठकर एकमुखी होकर चलता रहता है। यद्यपि यहाँ मन की बहुमुखी गति पहले ही निवृत्त हो चुकी है, पर उसकी एकमुखी गति तो है ही, गति का सर्वथा निरोध नहीं है। यह नित्य, स्थिर, निर्विकार अवस्था नहीं है। इसलिये इस महाकाश से भी मन को ऊपर उठाना होगा। इसके ऊपर उठने पर वहाँ न नाड़ी है और न गति ही है। वह निरोधावस्था है। परन्तु गति न होने पर भी, वहाँ भी मन का कम्पन रहता है, वह है विकल्प या मन का स्वभाव। इस विकल्प का भी उदयास्त है। जब इस कम्पन का भी पर्यवसान हो जाता है, तभी विकल्पहीन चैतन्य सूर्य का साक्षात्कार होता है। यह विकल्प मन की अतीत भूमि है। इसका उदयास्त नहीं है, इसलिये यह नित्योदित है, नित्य प्रकाशमान है। यही पूर्ण प्रकाशस्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। विकल्पहीन मन तब इस प्रकाश के साथ अभिन्न होकर विमर्श रूप में अथवा चिदानन्दमयी स्वरूप-शक्ति के रूप में स्थित रहता है। यह स्वरूप-विमर्श ही ब्रह्मविद्या है, परावाक् अथवा शब्द-ब्रह्मरूप ॐकार है। यह निष्कल होकर भी समस्त विद्यास्वरूपा है।

अतएव हृदय से मूलमन्त्र-स्वरूप इस ॐकार का उच्चारण ही पूर्ण ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का सोपान है। निष्कल ॐकार में उसकी ग्यारह कलाएँ भासती हैं। उच्चारण के प्रभाव से एक के बाद एक कला का विकास होता है और तत्तत् अनुभूति की जागृति होती है। क्रम-विकास के मार्ग से निम्नस्थ कला की अनुभूति

ऊर्ध्वस्थ कला की अनुभूति में स्थित हो जाती है। योगी लोग ग्यारह कलाओं को अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—इन ग्यारह नामों से पुकारते हैं। ॐकार की इन ग्यारह कलाओं के अनुभव के बाद ही उसके निष्कल अनुभव का उदय होता है, वही परमानुभूति है। ये दोनो अनुभूतियाँ मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मविद्या कहलाती हैं। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त जो मार्ग गया है, उसी मार्ग को पकड़कर साधक को चलना होता है। प्रणव की सारी कलाओं, उनसे सम्बन्धित देवताओं और स्तरों का अनुभव इसी मार्ग में हुआ करता है। हृदय, कण्ठ और तालुमूल—ये तीन स्थान अ, उ और म—इन तीन कलाओं के केन्द्र हैं। तालु माया-ग्रन्थि का स्थान है, हृदय और कण्ठ भी ग्रन्थिस्वरूप हैं। भ्रू-मध्य बिन्दुग्रन्थि का स्थान है, यहाँ ज्योति के दर्शन होते हैं। यह ज्योति अ, उ, और म—इन तीन मात्राओं के मन्थन से निकला हुआ उन्हीं का सारभूत तेज है। इन तीन मात्राओं में जगत् के सारे भेद और वैचित्र्य भरे हैं। और बिन्दु उनका संक्षिप्त, अविभक्त ज्ञानात्मक स्वरूप है। अतएव समस्त मायिक जगत् इन पहली तीन कलाओं में ही स्थित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थूल, पुर्यष्टक (लिङ्ग) और शून्य अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन भागों में विभक्त समग्र द्वैत-जगत् इन तीन कलाओं में प्रतिष्ठित है। चतुर्दश-भुवनान्तर्गत ब्रह्माण्ड इसी का एकदेश मात्र है। मायाग्रन्थि का भेद होने के साथ ही मायिक जगत् और उसकी कारणभूता माया अतिक्रान्त हो जाते हैं। मायिक जगत् में मन्त्र और देवता अथवा वाच्य और वाचक का भेद रहता है। इस जगत् में द्रष्टा दृश्यमात्र को अपने से अलग देखता है। यह भेद-दर्शन माया का कार्य है और सभी मायिक स्तरों में इसकी उपलब्धि होती है। बिन्दु में इस वैचित्र्य के अनुगत केवल अभेद के दर्शन होते हैं। यही अनन्त भेदों का एकीभूत भाव में अथवा अविभक्त रूप में दीखना है। अनन्त ज्ञेय पदार्थ यहाँ एक ज्ञानाकार रूप में प्रतिभासित होते हैं। यही ज्योति-रूप में उनका दृष्टिगोचर होना है। यह ज्योतिरूप बिन्दु ही ईश्वर-तत्त्व की अधिष्ठानभूमि है। ईश्वर योगीश्वर हैं। साधक बिन्दु का साक्षात्कार करके एक प्रकार से अखिल स्थूल प्रपञ्च के ही दर्शन करता है। बिन्दु-ध्यान के फलस्वरूप त्रिकालदर्शी होने का यही कारण है। ध्यान के उत्कर्ष से ईश्वर-सायुज्य-पर्यन्त प्राप्त हो सकता है। इस बिन्दु-सिद्धि को ही लौकिक दृष्टि में दिव्यचक्षु अथवा तीसरे नेत्र का खुल जाना कहते हैं।

योगी लोग 'बिन्दु' से 'समना' तक आठ पदों का परिचय प्राप्त करते हैं।[1] ये

---

१. बिन्दुभेद होते ही एक प्रकार से भेदमय संसार का उल्लङ्घन हो जाता है। तब साधक स्थूल और सूक्ष्म देह से मुक्त हो जाता है। स्थूल देह प्रसिद्ध षाट्कौशिक देह है। सूक्ष्म देह दो प्रकार की है—एव पुर्यष्टकस्वरूप, पाँच तन्मात्रा और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार, इन आठ अवयवों वाली। (इसी को सांख्य-दर्शन में सतरह या अठारह अवयव-युक्त लिङ्गशरीर कहा गया है।) दूसरी शून्यदेह के नाम से प्रसिद्ध है, यह निरवयव है। जाग्रत्-काल में प्राण स्थूल देह में, स्वप्न-काल में पुर्यष्टक में और सुषुप्ति में शून्यदेह में

संबं आज्ञाचक्र से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए विशाल मार्ग के अन्तर्गत हैं। यह

रहते हैं। बिन्दु के अतिक्रम कर जाने पर जीव इन तीन देहों से और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं से अतीत हो जाता है। बिन्दु ईश्वरवाचक है, स्वयं ईश्वर है। इसके ऊपर ललाट देश में **अर्धचन्द्र** और उसके कुछ ऊपर **निरोधिका** है। यह निरोधिका कला साधारण योगी की ऊर्ध्व-गति में प्रतिबन्धक है। एक बिन्दुज्योति ही अर्धचन्द्र और निरोधिकापर्यन्त व्याप्त है। बिन्दु में ज्ञेय का प्राधान्य रहता है, यद्यपि ज्ञेय अविभक्त—एकाकार ज्योति-मात्र है। अर्धचन्द्र में ज्ञेय-प्राधान्य बहुत कम है और निरोधिका में ज्ञेय-प्राधान्य बिल्कुल ही नहीं रहता। बिन्दु आदि तीनों कलाओं में प्रत्येक में पाँच अवान्तर कलाएँ हैं। इसी से उस ज्योति में पन्द्रह कलाएँ भासती हैं। यह बिन्दु-आवरण ही प्रथम आवरण है। इस आवरण में तीन सूक्ष्म स्तर हैं। इसके बाद मन्त्र-स्रोत ब्रह्मरन्ध्र या शक्ति-स्थान की ओर प्रवाहित होकर पहले **नाद** और फिर **नादान्त** भूमि में पहुँचता है। ललाट से मूर्धापर्यन्त यह भूमि व्याप्त है। बिन्दु-तत्त्व में जिस ज्ञेय प्राधान्य का परिचय पाया जाता है, वह निरोधिका में शान्त हो जाता है; इसीलिये नाद-भूमि में समस्त वाचकों या मन्त्रों की अभिन्नता का अनुभव प्रधानतया हुआ करता है। बिन्दु में वाच्य और वाचक का भेद लुप्त होने पर भी विभिन्न वाचकों के पारस्परिक भेद लुप्त नहीं होते। नाद और नादान्त में वे भी लुप्त हो जाते हैं। यहाँ सभी मन्त्रों की अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस भूमि के अधिष्ठाता सदाशिव हैं। इस नादावरण में पाँच और नादान्त में एक सूक्ष्म स्तर है। नादान्त में जो सूक्ष्म स्तर है, उसके साथ सुषुम्णा नाड़ी का साक्षात् सम्बन्ध है। यहाँ नाद का विश्राम होता है—इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यही देह का ऊर्ध्व छिद्र है। इसको भेद करना अत्यन्त कठिन है। मूर्धा के मध्य-देश में **शक्ति** का स्थान है—यहाँ श्वास-प्रश्वास के अथवा प्राणापान के मिलने के कारण एक अनिर्वचनीय स्पर्शमय तीव्र आनन्द की अनुभूति मिलती है। यहाँ केवल सुषुम्णा की क्रिया रहती है, यहाँ सृष्टि-प्रलय का द्वन्द्व नहीं है, केवल सृष्टि भासती है, दिन-रात एकाकार होकर दिनमात्र रह जाता है। हृदय से सूक्ष्म प्राणों का सञ्चरण इस शक्ति स्थान तक हुआ करता है। इस शक्त्यावरण में परा शक्ति का एक स्तर है, अत्यन्त दुर्भेद्य इस शक्तिकला को भेद करके योगी ऊर्ध्व प्रवेशमार्ग में **व्यापिनी** अथवा महाशून्य में प्रवेश करते हैं। वहाँ प्राणों का सञ्चरण नहीं है, सुषुम्णा की क्रिया भी अस्तमित है। नित्य सर्ग का अन्त है; महादिन भी नहीं है;—कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूप में स्थित है। यह महाशून्य ही शक्तिपर्यन्त नीचे के समस्त विश्व में व्यापक है। स्मरण रखना चाहिये कि यह महाशून्य भी ॐकार की ही एक कला है। इसमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं और उनमें प्रत्येक में एक-एक स्तर है। विशेष प्रक्रिया के बिना इस महाशून्य को भेद करना और परागति प्राप्त करना सम्भव नहीं। इस प्रक्रिया को योगी लोग 'दिव्यकरण' कहते हैं। इससे दिव्य ज्ञान का उन्मेष होता है। इस महाशून्य के बाद की अवस्था में **महामाया** का साक्षात्कार होता है। यही प्रणव की अन्तिम कला है। योगी लोग इसी को मनस्वरूप या इच्छाशक्ति कहा करते हैं। इसके बाद ही निष्कल परमपद है, जहाँ ॐकार परब्रह्म के साथ अभिन्न है।

मार्ग माया से अतीत होने पर भी महामाया की सीमा के अन्तर्गत हैं। जो लोग अशुद्ध विकल्प-जाल-रूपी भेदमय जगत् से मुक्त होना ही वाञ्छनीय समझते हैं, वे आज्ञा-चक्र का भेद करके महामाया के राज्य में प्रवेश करने को ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु वस्तुतः यही मुक्तिपद नहीं है। यद्यपि यहाँ कर्मजाल उपसंहृत है, माया क्षीण है; तथापि विशुद्ध विकल्प तो है ही। परमपद के यात्री के लिए यह भी बन्धन-स्वरूप है। महामाया के राज्य में भेदाभेदमय अभेददर्शन होने के कारण यह उपादेय होने पर भी चरम उपादेय नहीं है। कारण, भेददर्शन का सम्यक् रूप से अन्त हुए बिना, अर्थात् निर्विकल्प पद पर अधिरूढ़ हुए बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती।

मायिक जगत् में जैसे विविध लोक हैं, महामाया के शुद्ध राज्य में भी वैसे ही अनेकों धाम हैं। प्रत्येक स्तर में उस स्तर के उपयोगी जीव हैं, भोग्य वस्तुएँ हैं और भोगों के उपकरण हैं। प्रत्येक स्तर की अनुभूति विलक्षण है। जितना ही ऊँचा आरोहण किया जाता है, उतना ही अभेदानुभव बढ़ता जाता है। ऐश्वर्य और शक्ति प्रबल होती जाती है, व्याप्ति बढ़ती जाती है और देशकालगत परिच्छेद घटता जाता है।

'अ'कार की मात्रा १, 'उ'कार की २ और 'म'कार की ३—सब मिलाकर ६ मात्राएँ हैं। बिन्दु अर्ध-मात्रा है। अर्धचन्द्र आदि की मात्रा क्रमशः और भी कम है। 'बिन्दु' से 'समना' तक मात्रांश को जोड़ देने पर १ मात्रा होती है[1]। यद्यपि माया-जगत् में मन्त्र की ६ मात्राएँ, हैं, परन्तु मायातीत पद में वह केवल एक ही मात्रा है। वह एक मात्रा भी सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि बिन्दु में ज्ञेय और ज्ञान अथवा वाच्य और वाचक अभिन्नरूप में ज्योति के आकार में स्फुरित होते हैं। यह अभिन्नता ऊपर और भी परिस्फुट होती है। जितना ही ऊपर को चढ़ा जाता है, उतना ही ज्ञानात्मक ज्ञेयभाव क्रमशः शान्त होता चला जाता है; अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों में प्रथमावस्था में (माया की भूमि में) परस्पर स्पष्ट ही अत्यन्त पार्थक्य दिखलायी देता है। फिर अनन्त ज्ञेय-राशि एक विशाल ज्ञान में पिण्डित होकर उसके साथ

---

१. मात्रांश इस प्रकार है—

बिन्दु	—$\frac{1}{2}$	मात्रा
अर्धचन्द्र	—$\frac{1}{4}$	,,
निरोधिनी	—$\frac{1}{8}$	,,
नाद	—$\frac{1}{16}$	,,
नादान्त	—$\frac{1}{32}$	,,
शक्ति	—$\frac{1}{64}$	,,
व्यापिनी	—$\frac{1}{128}$	,,
समना	—$\frac{1}{128}$	,,
जोड़	—१	मात्रा

अभिन्न-भाव से प्रकाशित होती है। तब एक ही अभेदज्ञान रह जाता है। उसी के अन्दर सारे भेद निहित रहते हैं। यह ज्ञान और वह प्राथमिक ज्ञान एक नहीं है। प्राथमिक ज्ञान अशुद्ध विकल्परूप था और यह ज्ञान विकल्परूप होने पर भी विशुद्ध है। इसके बाद क्रमशः यह विशुद्ध विकल्प भी शान्त होता जाता है। महामाया की ऊर्ध्व सीमा का अतिक्रमण करने के साथ-साथ यह विशुद्ध विकल्प भी बिल्कुल शान्त हो जाता है, अर्थात् यह विशुद्ध विकल्प ज्ञाता में अस्तमित हो जाता है, तब एकमात्र ज्ञाता ही रह जाता है। यही शुद्ध आत्मा की द्रष्टारूप में स्वरूपावस्थिति है। कहना नहीं होगा कि पूर्वावस्था का ज्ञाता और यहाँ का ज्ञाता या द्रष्टा एक-सा नहीं है। उस ज्ञाता में विकल्प का संस्पर्श था, उसके ज्ञान से विकल्प हट नहीं गया था; परन्तु यह ज्ञाता विकल्प से अतीत है। इस अवस्था में द्रष्टा आत्मा समग्र मनोराज्य और विकल्पमय विश्व से उत्तीर्ण होकर अपने बोधमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह विश्वातीत आत्मा निर्विकल्प ज्ञान के प्रभाव से समना-भूमि को लाँघकर अपने को निर्मल और निर्विकल्प समझता है। परन्तु इसमें भी पूर्णता नहीं है। कारण, इस अवस्था में विश्व अथवा विकल्प से अपने शुद्ध विकल्पातीत रूप का भेद वर्तमान रहता है। इसमें भी पूर्णता का सङ्कोच है। इसके बाद पराशक्ति के अथवा उन्मना शक्ति के आश्रय से केवली पुरुष परमावस्था या पूर्णब्रह्मरूप में स्थिति प्राप्त करता है, तब विकल्प और निर्विकल्प का भेद भी मिट जाता है। इसीलिये पूर्ण सत्य विश्वातीत होकर विश्वमय है; वह एक ही साथ निराकार और साकार तथा साकार-दृष्टि से भी एक ही साथ एकाकार तथा भिन्न अनन्त आकारमय है। तब समझा जाता है कि एक पूर्ण सत्य ही अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति में या अपनी स्वरूप-महिमा में अपने निरञ्जन स्वभाव से अच्युत रहता हुआ ही विश्वरूप में प्रतिभासित होता है।

ओंकार की ग्यारहवीं कला की अनुभूति ही समस्त अनुभूतियों में चरम महामाया अथवा समना शक्ति की अनुभूति है। इसमें नीचे के समस्त स्तरों की अनुभूतियाँ अङ्गीभूत-रूप में वर्तमान रहती हैं। यही आत्मा का भिन्नाभिन्न-रूप में विश्वरूप-दर्शन है। पूर्ण निर्विकल्पक ज्ञान से पूर्व इसका निश्चय ही उदय होता है, ओंकार की यह अन्तिम कला या महामाया ही विकल्प या इच्छाशक्तिरूपिणी है। यही विशुद्धतम मन का स्वरूप है। इस अवस्था में जो मननात्मक बोध अवशिष्ट रहता है, उसमें कोई भी विषय नहीं रहता—सारे विषय पहले ही क्षीण हो जाते हैं। यह मन्तव्यहीन मनन इसीलिये अविकल्पक है; पर इस मनन का भी त्याग करना पड़ता है। अविकल्पक मन के द्वारा ही इस अविकल्पात्मक शुद्ध मन का परिहार होता है, शुद्ध मन एकाग्रता का प्रकर्ष प्राप्त करते ही त्यक्त हो जाता है। मन के त्याग का अर्थ आत्मा या जीव के सङ्कोचात्मक ज्ञान का प्रशमन समझना चाहिये। इस सङ्कोचात्मक ज्ञान का स्वरूप है ज्ञेयाभ्यास के ग्रहण की इच्छा। इस इच्छा के त्याग से ही आत्मा सत्ता या चिन्मात्र स्वरूप में स्थित होता है। यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है—मन की अतीत, इच्छाहीन अवस्था है। परन्तु यह भी परमपद नहीं है—भगवत्साधर्म्य नहीं है, पूर्णाहन्ता और चिदानन्द-रसघन स्वातन्त्र्यमय रूप इसका नहीं है। इसीलिये आत्मा विश्वातीत रहने

पर भी अपूर्ण रहता है, मुक्त होने पर भी भगवद्धर्म से वञ्चित रहता है। यहीं पर भगवान् की स्वतन्त्रभूता नित्य समवेता स्वरूपाशक्ति या उन्मनाशक्ति की उल्लासरूपिणी 'परा भक्ति' आवश्यक होती है। 'भक्त्या युक्तः' (गीता ८।१०) से भगवान् ने 'परा भक्ति' का ही लक्ष्य कराया है। उन्मना शक्ति एक ही साथ अशेष विश्व के अभेद-दर्शन में स्फुरित होती है। आत्मा इस शक्ति के आश्रित होकर भगवान् के साथ एकात्मता या पूर्णता प्राप्त करता है। फिर चलन नहीं रह जाता। सङ्कोच बिल्कुल ही मिट जाता है। आत्मा व्यापकत्व प्राप्त करके एक ही साथ विश्वरूप में और उससे उत्तीर्ण रूप में प्रकाशित होता है। अर्थात् पहले आत्मा विश्व को अतिक्रम करके अपने निर्विकल्पक पद को पहुँचता है, फिर भगवान् की परमा शक्ति के अनुग्रह से अपने पूर्णत्व को उपलब्ध करता है—भगवान् से अभिन्नता का अनुभव करता है। तब वह अनुभव करता है कि उस पूर्ण सामरस्यमय स्वरूप में एक ओर जैसे अनन्त शक्ति का सामरस्य है, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति और शक्तिमान् का भी सामरस्य है। उसमें विश्व और विश्वातीत एक अखण्ड बोध या प्रकाश के रूप में स्फुरित होता है—बन्धन-मोक्ष का भेद, सविकल्पक-निर्विकल्पक भेद, मन और आत्मा का भेद एवं दृश्य और द्रष्टा का भेद सदा के लिये सर्वथा मिट जाता है। इस अवस्थातीत अवस्था की उपलब्धि ही परा गति है। गीता में भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ (८।२२)

परम पुरुष ही समग्र विश्व में व्यापक हैं, उन्हीं के अन्दर सर्वभूत (विश्व) विद्यमान है, इस बात का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनन्य भक्ति और पराभक्ति के अतिरिक्त उनके इस परम स्वरूप को प्राप्त करँने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह विश्वरूप ही उनका 'परमरूप' है, इस बात को भगवान् ने अर्जुन से स्पष्ट ही कहा है (गीता ११।४७)। यह 'तेजोमय' शुद्ध चिन्मय रूप है; वेत्ता और वेद्य—ज्ञाता और ज्ञेय—इसके अन्तर्गत हैं (गीता ११।३८)। यही 'परमधाम' है (गीता ११।३८)।

मृत्युकाल में प्रणव का उच्चारण करते-करते कलात्याग होने पर निष्कल परा विद्या या दिव्य ज्ञान का आविर्भाव होता है, तब भगवान् की अनन्य भक्ति के प्रभाव से भगवान् का परम रूप प्रकाशित हो उठता है। यही मरणोत्तर परमा गति है।

वस्तुतः यह मृत्युकालीन 'निर्बीज वैज्ञानिक दीक्षा' का फल है। शास्त्रों में इसकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

हरिः ॐ तत्सत्।

वर्णविज्ञान और आत्मा की विचित्र अवस्थाएँ

(१)

स्वरूप दृष्टि से आत्मा सब भावों से परे हैं, इसलिए यह सब भावों के मध्य सर्वात्मक होकर भी सदा सर्वत्र अपने स्वभाव में स्वयंरूप से स्थित है। इसलिए यह निर्विकार द्वन्द्वातीत, निर्दोष और समरस है। किन्तु व्यवहार भूमि में और प्रतिभास-स्थलों में इसके अवस्थाकृत भेद दिखाई देते हैं। इन सब अवस्थाओं अथवा दशाओं के भेद असंख्य हैं, किन्तु इनके मुख्य विभाग जाग्रत् आदि के भेद से पाँच प्रकार के ही सर्वत्र माने जाते हैं। इन पाँच अवस्थाओं में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ सभी की सुपरिचित हैं। अन्य दो अवस्थाओं को ज्ञान का उदय और परि-पाक न होने तक कोई भी स्पष्ट रूप से नहीं जान सकता। वास्तव में कोई भी अवस्था विशुद्ध आत्मा की नहीं है, किन्तु देहादिसंसृष्ट आत्मा की ही सब अवस्थाएँ हैं, यह स्मरण रखना चाहिये।

प्रश्न हो सकता है कि ये परिदृश्यमान अवस्थाएँ किस तरह उदित होती हैं ? साधारण दृष्टि से मोटा-मोटी इन अवस्थाओं के उपपादन के सिलसिले में कहा जा सकता है कि आत्मा मन, इन्द्रिय, और बाह्य विषयों के परस्पर सम्बन्ध के वैशिष्ट्य से ही इन सब अवस्थाओं का उदय होता हैं। आत्मा कहने से यहाँ पर देहविशिष्ट-जीव-आत्मा ही समझना चाहिये, विदेही केवलात्मा नहीं। आत्मा और मन का संसर्ग, मन और इन्द्रियों का संसर्ग एवं इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग जिस अवस्था में विद्यमान रहता है उसको जाग्रत्-अवस्था कहा जाता है; किन्तु जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों का संसर्ग नहीं रहता, किन्तु अवशिष्ट दो संसर्ग पूर्ववत् अक्षुण्ण रहते हैं, उसका प्रचलित नाम स्वप्नावस्था है। जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध नहीं रहता है, उसके सिवा मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध भी नहीं रहता, एकमात्र आत्मा और मन का ही सम्बन्ध विद्यमान रहता है, उसका सुषुप्ति के नाम से वर्णन किया जाता है। अज्ञानाच्छन्न जीव निरन्तर इन तीन अवस्थाओं के चक्कर का अनुभव करता है। इस चक्कर से यदि त्राण पाना हो तो अपरोक्ष ज्ञान के उदय के लिए प्रयत्न करना चाहिये। जब तक अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता, अर्थात् जब तक आत्मा का सम्यक् ज्ञान उदित नहीं होता तब तक यह चक्कर अवश्यम्भावी है। व्यष्टिभाव में यह जैसा सत्य है, समष्टिभाव में भी वैसा ही सत्य है। मृत्यु के बाद दूसरे लोक में गमन अथवा जन्मान्तर-ग्रहण, यहाँ तक की प्रलय आदि के व्यापार, सभी इस नियम के अधीन हैं।

सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा के साथ मन का संयोग रहता है। यह अनादि संयोग है एवं मूल अज्ञान से उत्पन्न है। सुषुप्ति के समय मन पुरीतत् नाड़ी में अर्थात्

वेष्टन के भीतर हृदय-प्रदेश में रहता है। वह आकाश-स्थान है। वहाँ किसी प्रकार की नाड़ी नहीं है एवं वायु का भी वहाँ किसी प्रकार का स्पन्दन अनुभूत नहीं होता। सुषुप्तिकाल में मन हृदय के मध्य में निश्चल होकर स्थित होता है, इसलिए उस समय किसी प्रकार के लौकिक ज्ञान की संभावना नहीं रहती; क्योंकि मन यदि मनोवहा नाड़ियों में संचार न करे तो लौकिक ज्ञान आविर्भूत नहीं होता। प्रत्येक नाड़ी वायु से बना हुआ एक संस्थान है और सारा मानव-शरीर नाड़ियों के जाल से आच्छन्न है, किन्तु देह में एकमात्र वह हृदयस्थित दहराकाश ही नाड़ीशून्य, वायुशून्य तथा मन की क्रिया से शून्य स्थान है। देह में सर्वत्र ही मन का सञ्चार और वायु की क्रिया संभव है, किन्तु हृदय में वायु, मन आदि कुछ भी क्रिया नहीं करते हैं। मन जब हृदय में प्रविष्ट होता है तब वह वहाँ शुद्ध होकर विद्यमान रहता है—यह मन की लयावस्था है। मन की क्रिया न होने से उस समय विलक्षण आत्म-मन का संयोग न घट सकने के कारण ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के लौकिक विशेष गुणों की उत्पत्ति नहीं होती।

किन्तु जब गुरु-कृपा से तथा अपने पूर्व के शुभ अदृष्ट के परिपाक से अलौकिक ज्ञान का उदय होता है तब उस अनादि आत्ममनःसंयोग का हेतुभूत अज्ञान कट जाता है। तब वह आत्ममनःसंयोग भी नहीं रहता। तब हृदयाकाश नवोदित ज्ञान-सूर्य की स्निग्ध किरणों से आलोकित हो उठता है। यही अवस्था स्थूलरूप से आत्मा की तुरीयावस्था की पूर्व-सूचनारूप मानी जाती है। इस अवस्था का उदय होने पर और इसके स्थायी होने पर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में यह समानरूप से अनुस्यूत रहती है। यद्यपि यह पूर्णावस्था है तथापि इसका उन्मेष पहले ही साधारणतः पूर्णरूप से प्रतीत नहीं होता। इसलिए ज्ञानोदय के बाद भी जाग्रत् आदि अज्ञानावस्था कुछ समय तक बदस्तूर रहती हैं। पर वे क्रमशः ही अधिकाधिक क्षीणशक्ति होती जाती हैं। जब तक शरीर रहता है अथवा जब तक प्रारब्ध का बल भोग के द्वारा नष्ट नहीं होता तब तक साधारणतः इसी तरह चलता है। प्रारब्ध का भोग हो जाने पर देहाभिमान आभास रूप में भी नहीं रहता; जाग्रत् आदि अवस्थाओं के भेद भी नहीं रहते। उस समय एक ही अवच्छिन्न स्थिति विद्यमान रहती है। उस समय तुरीय अवस्था 'तुरीयातीत' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करती है। यद्यपि यह वस्तुतः नित्यावस्था है तथापि तुरीय अवस्था का उदय और परिपाक हुए बिना उसका स्वरूपसाक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् आदि तीन पृथक् अवस्थाएँ जितने दिनों तक रहती हैं उतने दिनों तक चतुर्थ या तुरीय नामों की सार्थकता है; जब तक अज्ञान है तब तक ज्ञान की सार्थकता है। किन्तु जब जाग्रत् आदि पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ नहीं रहती हैं, अज्ञान भी नहीं रहता, तब वह तुरीय ही तुरीयातीत या स्वरूपस्थिति के नाम से प्रख्यात होता है।

जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियाँ बहिर्मुख रहती हैं और रूपरसादिमय पाँच विषयों के साथ संसृष्ट होकर उन्हें ग्रहण करती हैं। इस तरह हम लोगों के बाह्य जगत् के ज्ञान का उदय होता है। किन्तु स्वप्नावस्था में यह बाह्य ज्ञान नहीं रहता। थकावटवश इन्द्रियों की बाह्योन्मुखता उस समय विरत हो जाती है। इन्द्रियाँ उस समय अन्तर्मुख

रहती हैं। किन्तु इन्द्रियों के अन्तर्मुख रहने पर भी मन उस समय भी बहिर्मुख ही रहता है, अर्थात् उस समय इन्द्रियाँ यद्यपि विषयाभिमुख नहीं रहती हैं तथापि मन की इन्द्रियोन्मुखी प्रवणता निवृत्त नहीं होती। इसी कारण स्वप्नानुभव का उदय होता है। यह संस्कारजन्य ज्ञान है। उसके सिवा, उस समय मन देह के अन्दर ही मनोवहा नाड़ियों का अवलम्बन कर आभ्यन्तर के वायुमण्डल में संचरण करता है और नाना प्रकार के दर्शन तथा स्पर्शों का उसे अनुभव होता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड अभिन्न हैं, इसलिए यह संचार एक ओर जैसे व्यष्टि में है, दूसरी ओर वैसे ही समष्टि में भी हो सकता है। सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। इसके पश्चात् जब इन्द्रियों की तरह मन भी थक जाता है तब मन की इन्द्रियोन्मुख गति रुक जाती है और मन उपरत होकर विश्राम करना चाहता है। उस समय स्वभावतः वह हृदय में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। मन के बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होने के साथ ही साथ हृदय का दरवाजा खुल जाता है; क्योंकि हृदयावच्छिन्न आकाश परिमित मालूम पड़ने पर भी वास्तव में सर्वव्यापक है। मन चाहे जब कभी और जिस किसी स्थान पर ही क्यों न रहे, वह नित्य उसके निकट रहता है। फिर भी मन सदा उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। मन बाह्योन्मुख भाव से हटकर अन्तर्मुख होने के साथ-साथ उस आकाश में, अर्थात् हृदय के भीतर प्रवेश का मार्ग पाता है। एक बार हृदय में प्रविष्ट होने के बाद मन में फिर संचरण करने का सामर्थ्य नहीं रहता, क्योंकि उस आकाश में चलने का कोई मार्ग नहीं है। इसीलिए मन वहाँ निश्चल होकर रहता है। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि मन के थक कर निश्चल होने के साथ-साथ हृदयगुहा में प्रविष्ट होने पर भी मन की ओर आत्मा की उन्मुखता नष्ट नहीं होती। इसलिए दोनों का संयोग विद्यमान रहता है। जब तक अनादि अविद्या यथार्थ ज्ञान के उदय से निवृत्त नहीं होती तब तक आत्मा की अर्थात् जीवात्मा की मन की ओर यह उन्मुखता निवृत्त नहीं हो सकती। इसलिए मन कुछ काल के लिए सुषुप्ति में स्थिर रहता है सही, पर यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रहती। पूर्व संस्कारों के जागने के साथ ही साथ मन बहिर्मुख हो जाता है और पूर्ववत् नाड़ी-मार्ग में संचरण करना आरम्भ कर देता है। पूर्व संस्कारों के जागने में वास्तविक कारण काल है। इसलिए जानना चाहिये कि सुषुप्ति अवस्था में भी मन कालातीत नहीं हो सका। इसलिए मन के स्थिर होने पर भी सुषुप्ति में ज्ञान का उदय नहीं होता। लौकिक ज्ञान मन की क्रिया की अपेक्षा रखता है। इसीलिए हृदयाकाश में लौकिक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जिस समय मन स्थिर होता है और साथ ही साथ लोकोत्तर ज्ञान का उदय हो उठता है उसी समय तुरीय अवस्था का उन्मेष समझना चाहिये। सुषुप्ति में जो स्थिरता है वह तामसिक है। उस अवस्था में सत्त्वगुण यद्यपि रहता है, पर वह शुद्ध सत्त्व नहीं है; इसलिए विशुद्ध सत्त्व का उदय और विकास हुए बिना मूल अज्ञान का विनाश नहीं होता और लोकोत्तर ज्ञान का भी आविर्भाव नहीं होता। गुरु की कृपा से यदि आत्मा की मनोभिमुखी दृष्टि रुक जाती है, अथवा उससे अधिक गुरुकृपा से यदि वह दृष्टि परमात्माभिमुखी दृष्टि में परिणत

हो जाती है, तो पूर्वोक्त अनादि अज्ञान उच्छिन्न हो जाता है और आत्ममनःसंयोग कट जाता है। उस समय मन निष्क्रिय और चेतनभावापन्न हो जाता है। इसी का नाम मन का जागरण, मन का उद्धार या मन का त्राण, अर्थात् ज्ञान का उन्मेष है। हमने जिस तुरीय अवस्था का उल्लेख किया है, वह इसी का नामान्तर है। तदुपरान्त यह चेतन और शुद्ध मन भी फिर नहीं रहता। वही तुरीयातीत अवस्था है। तब एकमात्र आत्मा ही अपने स्वरूप में विराजमान रहता है एवं अपने साथ स्वयं क्रीड़ा करता है।

(२)

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है वह प्रचलित साधारण दृष्टि की बात है। किन्तु विज्ञानदृष्टि से और भी अनेक रहस्यों का पता चलता है। विज्ञानवेत्ता लोगों ने इस सम्बन्ध में जो कुछ खोज की है उसका कुछ अंश साधारण जिज्ञासुओं के औत्सुक्य की निवृत्ति और ज्ञान-सम्पादन के लिए यथासंभव संक्षेप में दर्शाने की मैं चेष्टा कर रहा हूँ।

जो लोग देहविज्ञान में प्रवीण हैं, वे कहते हैं कि हमारा यह मानव शरीर सर्वमय है—इसमें सब कुछ है। केवल यही नहीं, सब कुछ से परे जो कुछ है, वह भी इसमें है। पिण्ड केवल ब्रह्माण्ड से अभिन्न हो, सो बात नहीं है। ब्रह्माण्डातीत या विश्वातीत सत्य-तत्त्व का भी पिण्ड में प्रकाश पाया जाता है।

इस देहचक्र का विश्लेषण कर इसका सांकेतिक यन्त्र के रूप में निरीक्षण करने पर इसका एक दृष्टि से चतुरस्र यानी चतुष्कोण के रूप में और दूसरी दृष्टि से षट्कोण के रूप में वर्णन किया जा सकता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं का जीव-भाव से सम्बन्ध है, इसलिए इन तीनों को जीव-अवस्था कह सकते हैं। तुरीय अवस्था का नाम शिव-दशा है। इस शरीर का आश्रय लेकर तीन जीव-अवस्थाएँ और एक शिव-अवस्था, अर्थात् कुल चार अवस्थाएँ प्रकाशित होती हैं इसलिए इसकी चतुरस्र रूप में कल्पना की जाती है। किन्तु तुरीय अवस्था के अवान्तर-भेदों की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि इस अवस्था में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का औपाधिक सम्बन्ध रह सकता है। इस औपाधिक सम्बन्ध के दृष्टिकोण से तुरीय को भी तीन प्रकार का माना जा सकता है। इस तरह देखने पर जीव अवस्थाएँ तीन होने से जीव त्रिकोण कहलाता है एवं शिव-दशाएँ भी तीन हैं, इसलिए शिव भी त्रिकोण-पदवाच्य है। देहचक्र में इन दो प्रकार की अवस्थाओं का परस्पर सम्मिलन है। इसलिए देहचक्र को सांकेतिक भाषा में षट्कोण कहा जाय तो कोई आपत्ति न होगी।

अतएव तुरीय को एक दशा मान लेने पर शरीर चतुरस्र (चतुष्कोण) के नाम से अभिहित होता है। और जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन जीवावस्थाओं के साथ जाग्रत् आदि उपाधिसम्पन्न शिवावस्था के रूप से तुरीय को तीन प्रकार का

मानकर जोड़ा जाय तब यह शरीर षट्कोण कहा जाता है। देहचक्र में एक नाभि या मध्यविन्दु है। वही सब चक्रों का धारण और नियन्त्रण करता है। जिसको हम लोग तुरीयातीत अवस्था कहते हैं वही उसका स्वरूप है—वही देहचक्र का केन्द्र है।

(३)

जाग्रत् एक सक्रिय अवस्था है, घट, पट आदि बाहरी पदार्थों का अनुसन्धान ही इसका स्वरूप है। सुषुप्ति अवस्था की निवृत्ति होने पर इस प्रकार के बाहरी पदार्थों का जो ज्ञान होता है, यही जाग्रत् है। इसमें क्रिया की प्रधानता रहती है। किन्तु सुप्ति अवस्था में क्रिया की प्रधानता नहीं रहती––वह जड़ता-प्रधान निष्क्रिय अवस्था है। इन दोनों अवस्थाओं के मध्य में और एक अवस्था है। उसका नाम स्वप्न है। सुप्ति ही निवृत्ति होने के पूर्व विविध प्रकार के मानसिक भेदमय विकल्पज्ञानों का उदय होता है, उन्हीं का नाम स्वप्न है। जीव की संसार-दशा का विश्लेषण करने पर इन तीन अवस्थाओं के साथ हमारा परिचय होता है। जिसका सुप्ति के नाम से निर्देश किया गया है वही संसार की बीज-दशा है; जिसका स्वप्न के नाम से उल्लेख किया गया है वह संसार की उन्मेष दशा है एवं जिस दशा का हमने जाग्रत् नाम रखा है वह संसार की गाढ़ और वृद्धिङ्गत अवस्था है। आत्मा के संस्कारों की क्रमवृद्धि के अनुसार एक के बाद एक इन तीन अवस्थाओं का निर्देश किया गया है। किन्तु तुरीय अवस्था इन तीन अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न है। इन तीन अवस्थाओं में परस्पर भेद रहने के कारण इनमें से कोई भी दो अवस्थाएँ एक साथ प्रकट नहीं हो सकती हैं, एक के बाद दूसरी होती है। अर्थात् जिस समय जाग्रत् अवस्था रहती है उस समय स्वप्न या सुषुप्ति नहीं रहती; जिस समय स्वप्न रहता है उस समय जाग्रत् या सुषुप्ति नहीं रहती, एवं जिस समय सुषुप्ति रहती है उस समय जाग्रत् या स्वप्न नहीं रहता। किन्तु तुरीय अवस्था इस तरह की नहीं है; क्योंकि वह उक्त तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक के साथ ओत-प्रोत रूप में विद्यमान रहती हैं। तुरीय अवस्था जाग्रत् में रहती है, स्वप्न में रहती है तथा सुषुप्ति में भी रहती है। तुरीय के प्रकाश के लिए किसी अन्य अवस्था का निवृत्त होना आवश्यक नहीं है। चित् का अनुसन्धान होना ही तुरीय अवस्था की विशेषता है। उक्त तीन अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था चित् से उत्पन्न है, इसलिए चित् उनका कारण है और वे चित् के कार्य हैं। कार्य में जैसे कारण व्यापक रूप से रहता है, वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में तुरीय अवस्था व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। तुरीय अवस्था यद्यपि शुद्ध और निर्मल है फिर भी उसमें जाग्रत् आदि भिन्न अवस्थाओं के कलङ्क का स्पर्श रहता है। वह स्पर्शमात्र है इसमें सन्देह नहीं है। यद्यपि वह सत्य है; किन्तु तुरीयातीत अवस्था में वह स्पर्श नहीं रहता है।

परम-शिव की प्राणस्वरूप पराशक्ति मातृका महायन्त्र की वाच्य है। यह महाशक्ति पाँच अवयवों से युक्त है— इनका स्वरूप जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं से बना है। मूर्ति के अवयवों के दृष्टिकोण से विचार करने पर जाग्रत् अवस्था को इसके शरीर

का दाहिना पार्श्व कहा जा सकता है, क्योंकि दाहिना पार्श्व क्रियाप्रधान है और जाग्रत् अवस्था भी क्रियाप्रधान है। सुषुप्ति को बांया पार्श्व माना जा सकता है, क्योंकि वह कई अंशों में निष्क्रिय है। स्वप्न अवस्था जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है उसकी कल्पना देवी के जघन या गुह्यप्रदेश के रूप में की जाती है। विकल्पराशियाँ इसी प्रदेश से उत्पन्न होती हैं। सुप्ति की निवृत्ति होने के बाद जो विषय-ज्ञान होता है वह जाग्रत् है एवं सुप्ति की निवृत्ति न होने पर भी यदि अर्थज्ञान होता है तो उसे स्वप्न जानना चाहिये। तुरीय अवस्था को देवी का मुख माना गया है। जाग्रत् आदि तीन प्रकार की अवस्थाओं में जो जड़भाव प्रकट होता है उसको निगलने की शक्ति एक मात्र तुरीय में ही है। मुख जैसे चर्वण और भक्षण का काम करता है वैसे ही चिदनु-सन्धान-प्रधान तुरीय अवस्था भी जड़त्व को निगल जाती है। तुरीयातीत अवस्था देवी का हृदय मानी गई है। वही सब अवस्थाओं की प्राणरूपा है। वास्तव में तुरीया-तीत अवस्था साक्षात् महाशक्ति का ही प्रतिपादन करती है। इस दृष्टि से अवस्थाओं के विचार के प्रसङ्ग में तुरीयातीत अवस्था का ही प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है। यद्यपि तुरीय और तुरीयातीत दोनों ही अवस्थाओं में चिद्भाव प्रकट होता है, तथापि तुरीय अवस्था में संसाररूप-कलङ्क का क्षीण आभास रह जाता है; किन्तु तुरीयातीत में वह भी नहीं रहता। परम-शिव की अवस्था षष्ठ अवस्था के रूप में गणना के योग्य है—वह अखण्ड और व्यापक है। किन्तु ऐसा होने पर भी परम-शिव से पराशक्ति का ही उत्कर्ष कहना चाहिये; क्योंकि परम-शिव की सत्ता चित्सारभूत-विमर्श-रूप परा-शक्ति के अधीन है। इसलिए शिव-शक्ति में वस्तुतः कोई भेद न रहने पर भी शक्ति की ही प्रधानता मानी जाती है।

(४)

यह जो विभिन्न दशाओं का वर्णन किया गया है, इसके साथ-साथ अकारादि वर्णों का एक निगूढ़ सम्बन्ध है। कालिदास ने रघुवंश के मङ्गलाचरण के श्लोक में शक्ति और शिव का अभेद्य सम्बन्ध बतलाने के लिए उपमा के बहाने शब्द और अर्थ के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख किया है। सृष्टि के प्रसङ्ग में शब्द का हो अर्थ के रूप में विवर्त होता है, ऐसा भर्तृहरि ने कहा है। वैदिक और तान्त्रिक साधनाशास्त्रों में सर्वत्र शब्द और अर्थ के इस निगूढ़ सम्बन्ध की चर्चा की गई है। ईसाई योगी गण भी यह जानते थे एवं इस विषय में अनेक गूढ़ तत्त्व उनके साधना-साहित्य में मिलते हैं।

शब्द-अध्वा या धारा का मूल वर्ण है। वर्ण से मन्त्र, पद आदि का आविर्भाव होता है। अर्थ-अध्वा का मूल कला है, जिससे तत्त्व, भुवन आदि कार्यवर्ग का क्रमिक स्फुरण होता है। दोनों धाराओं का परस्पर सम्बन्ध हर एक स्तर में विद्यमान रहता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम वर्ण को आत्मिक दशा का ज्ञापक या व्यञ्जक मान सकते हैं। इसलिए तदनुसार दशा और वर्ण के मध्य व्यंग्यव्यञ्जक-भाव सम्बन्ध है, यह कहा

जा सकता है। वर्ण से ही अवस्थाओं की अभिव्यक्ति होती है, यह तात्पर्य है। जिस निमित्त को लेकर दोनों में इस सम्बन्ध की कल्पना हुई है, वह दोनों का सादृश्य है। क्रमशः आलोचना के सिलसिले में यह विषय स्पष्ट होगा।

'अ' से लेकर विसर्ग तक स्वरवर्ण सुषुप्ति अवस्था के द्योतक हैं; ककार से से लेकर मकार तक पचीस स्पर्शवर्ण जाग्रत अवस्था के द्योतक हैं। य, र, ल और व, ये चार अन्तःस्थवर्ण स्वप्नावस्था के परिचायक हैं। श, ष, और स—ये तीन उष्मवर्ण तुरीय वाचक हैं एवं कूटाक्षर 'क्ष' तुरीयातीत-रूप माना जाता है। आपाततः इसका विचार तुरीय के साथ ही करना पड़ता है। जो तुरीय कहा गया है, वह जाग्रत् अवस्था में आविर्भूत सुषुप्ति का नामान्तर है। इसी की पारिभाषिक संज्ञा है योगनिद्रा।

वर्णों का उच्चारण करने के लिए जिस प्रयत्न की आवश्यकता होती है उसकी वैशिष्ट्य अवस्था सब के वैशिष्ट्य के अनुरूप है। उच्चारण के संकोच और विकास पर लक्ष्य रखकर ही यह बात कही गई है। स्पर्शवर्णों के उच्चारण में स्पृष्ट-प्रयत्न की आवश्यकता होती है—यह जाग्रत् अवस्था का द्योतक है। इस प्रयत्न में संकोच का भाव प्रधान रहता है; किन्तु विवृत-प्रयत्न में संकोच का भाव मिट जाता है, उसमें प्रसार की प्रधानता रहती है। स्वरवर्णों का उच्चारण विवृत-प्रयत्न के द्वारा ही होता है। स्वरवर्ण सुषुप्ति अवस्था के ज्ञापक हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। स्वरवर्ण नादकल्प हैं, इसलिए उनका नादरूप में ही ग्रहण किया जाता है। स्पर्शवर्ण सृष्टि-प्रलयविषक हैं। स्पृष्टता प्रयत्न कहने से कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों के निम्न और ऊपरी भागों का संगठन समझना चाहिए। इसी का नाम संकोचग्रहण है। विवृतता प्रयत्न का उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा पूर्वोक्त संगठित कण्ठ आदि के दो भागों का पुनः विघटन किया जाता है। इसका नामान्तर संकोच-त्याग है। जाग्रत् अवस्था में घट, पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है। इस अवस्था में आत्मा में संकोच-भाव का उदय होता है। सुषुप्ति अवस्था विश्राम की अवस्था है—उस समय आत्मा में पूर्णता का प्रकाश होता है।

यद्यपि वर्ण ही अवस्था के अभिव्यञ्जक हैं तथापि संकोचग्रहण और संकोच-त्याग-मूलक-अवस्था सादृश्य वर्ण के प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। इसलिए यत्न को उपचार से अवस्था-व्यञ्जक माना जाता है। स्वप्न अवस्था के ज्ञापक अन्तःस्थवर्णों में ईषत्स्पृष्टता प्रयत्न है। इस उच्चारण प्रयत्न में स्पृष्टता ही प्रधान है— पर गौणभाव से विवृतता इसमें है। इसलिए इसे मिश्र प्रयत्न या ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न कहा जाता है। तुर्यावस्था के ज्ञापक उष्म-वर्णों में ईषद्विवृतता प्रयत्न है। यह विवृतता प्रयत्न स्पृष्टता से मिश्रित है, अतः यह पूरा नहीं है—यह संकीर्ण या ईषत् है।

इसलिए सुषुप्ति की पूर्णता समग्र या पूर्ण है। क्योंकि वह निर्विकल्प-पद है, वह बाह्य या आभ्यन्तर इन्द्रियवर्ग का विश्रामस्वरूप है। विकल्प का अभाव ही पूर्णत्व का बोधक है। जाग्रत् की अपूर्णता ठीक इसी तरह सम्यक् या पूर्ण है; क्योंकि यह संसार-पद है और गाढ़ विकल्प का उदय-स्थान है। यह घट, पट आदि की अनुसन्धान-

रूप है, इसमें विश्राम का स्पर्श तक नहीं है। इन विकल्पों ने ही जाग्रत् अवस्था को महासंकोचमय बना रखा है। तुरीय अवस्था को जाग्रत् और सुषुप्ति का मिश्रण समझना चाहिये। यद्यपि तुरीय अवस्था में चिद्विश्रान्ति व्यापक रूप में है एवं चिद्-विश्रान्ति ही सुषुप्ति है, तथापि उस व्याप्ति का अनुसन्धान होता है चैत्य वर्ग में या जड़ वस्तु में, इसीलिए विकल्प स्पृष्टता भी जाग्रत् का अनुसरण करती है। स्वप्न भी मिश्ररूप है, क्योंकि वह जाग्रत् और सुषुप्ति का सम्मिलित रूप है। तुरीय में पूर्णता असमग्र है, किन्तु स्वप्न में संकोच असमग्र है।

(५)

ज्ञान और क्रिया की दृष्टि से जाग्रत्, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि जाग्रत् के दो ही रूप हैं—एक ज्ञानरूप अर्थात् सुषुप्ति और दूसरा क्रियारूप यानी प्रसिद्ध जाग्रत्। वैसे ही सुषुप्ति के भी दो रूप हैं—एक ज्ञान रूप अर्थात् तुरीय और दूसरा क्रियारूप अर्थात् प्रसिद्ध सुषुप्ति। इससे ज्ञात होता है कि स्वप्न- जाग्रत् का ही एक भेद है एवं तुरीय सुषुप्ति का ही अवान्तर भेद है। जाग्रत् की तरह स्वप्न में भी घट, पट आदि का ज्ञान होता है, इसलिए स्वप्न भी एक प्रकार का जाग्रत् ही है। पर स्वप्न में सुषुप्ति की अनुवृत्ति रहती है, किन्तु जाग्रत् में वह नहीं रहती। उसी प्रकार सुषुप्ति ही तुरीय है, क्योकि दोनों ही जगह विश्रान्ति प्राप्त होती है। पर तुरीय में जाग्रत् की अनुवृत्ति रहती है, परन्तु सुषुप्ति में नहीं रहती।

यह जो चार अवस्थाओं का दो श्रेणियों में विभाग किया गया है, इससे सब अवस्थाओं का स्वरूप समझना सहज होगा। जाग्रत् और सुषुप्ति से साथ स्वप्न और तुरीय अवस्था का सम्बन्ध स्पष्टरूप से जानना चाहिए। बोध (awakening) भीतर या अन्तःस्तर में यदि उदित हो तो वह ज्ञानरूप से उदित होता है। उसी का नाम स्वप्न है। किन्तु वह बाहर अर्थात् बाह्यस्तर में यदि उदित हो तो क्रियारूप में उदित होता है। उसका नाम है जाग्रत्। वैसे ही सुप्ति के ज्ञानरूप में अन्तःस्तर में उदित होने पर उसका नाम पड़ता है तुरीय एवं बाहर उदित होने पर उसका नाम पड़ता है सुषुप्ति। अतएव अन्तरिन्द्रियों के अनुसन्धान का नाम ज्ञान और बहिरिन्द्रियों के अनुसन्धान का नाम क्रिया है, यही तात्पर्य है।

संसार और विश्राम की प्रतीति पहले अन्तरिन्द्रियों के द्वारा होती है। तदनन्तर वह बाह्य-इन्द्रियधारा में उतरती है। स्मरण रखना होगा कि सभी भाव (पदार्थ) शिव-शक्तिरूप होने से ज्ञानक्रियारूप हैं। अतएव ज्ञान-जाग्रत् (स्वप्न), क्रिया-जाग्रत् (जाग्रत्), ज्ञान-सुषुप्ति (तुरीय), क्रिया-सुषुप्ति (सुप्ति), फिर ज्ञानजाग्रत् (स्वप्न), क्रिया-जाग्रत् (जाग्रत्) इत्यादि क्रम से चार अवस्थाओं में अवतीर्ण होने वाले कालचक्र का परिभ्रमण हो रहा है। इस कालचक्र का केन्द्र तुरीयातीत है। जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं का स्वभाव है भेदाभेदरूप संसार और उसकी विश्रान्ति। (१) जाग्रत् का

स्वभाव है भेदसृष्टि या भेदप्रवृत्तिरूप संसार का बाह्येन्द्रिय-धारा में प्रतिभासित होना; (२) स्वप्न का स्वभाव है—अन्तः-इन्द्रियधारा में भेदसृष्टि का स्फुरण करना। तुरीय क्या है ? पूर्वोक्त जाग्रत् और स्वप्न ये दोनों ही अवस्थाएँ अभेदसृष्टि में तुरीय नाम से प्रसिद्ध होती हैं। विश्रान्ति के उन्मुख होने से भेदनिवृत्तिरूप मार्ग का ग्रहण ही अभेद-अवस्था है। सुषुप्ति दोनों भूमियों की जन्म और लय स्थान है। यह भेदमय जीव-संसार के उदय और लय की भूमि है एवं अभेदमय शिव-संसार की भी उदय और लय की भूमि है। जीव की संसृति के तीन पद भेदात्मक हैं। उनका क्रम यों है—सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। जीव की विश्रान्ति के भी ये तीन ही पद हैं, ये अभेदात्मक हैं। उसका नाम तुरीय है। उन तीन पदों का क्रम यह है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। विश्राम का मार्ग भी बन्धन के अन्तर्गत है—पर वहाँ माया का स्पर्श नहीं है। शिव की संसृति के तीन पद हैं—भेदहीन सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् के तुल्य तीन अवस्थाएँ अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया। शिव की विश्रान्ति के तीन पद हैं—जाग्रत् से सुषुप्ति तक—निवृत्तिमार्ग। शिव में प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग दोनों ही अभिन्न और एकरूप हैं, क्योंकि दोनों ही अभेदात्मक हैं। इसलिए दोनों के लिए 'तुरीय' शब्द का व्यवहार किया जाता है। फिर भी 'तुरीय' पद-व्यवहार की मुख्यता निवृत्तिमार्ग में है, प्रवृत्तिमार्ग में नहीं है। अद्वैतसंसार का समाधान द्वैत-संसार के तुल्य ही समझना चाहिये।

(६)

पहले अवस्थाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया गया है। अब इन अवस्थाओं के अधिष्ठाता शिव और जीव का स्वरूप क्या है—इस विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। पहले मन्त्रशास्त्र में प्रचलित बिन्दु और विसर्ग, इन दो परिभाषाओं के अनुसार उन्हीं का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। शिव प्रकाशतत्त्व है। जिसका प्रकाशतत्त्व अपने से मानों बाहर विसर्जन (विदा) करता है, उसको विसर्ग या विमर्श कहते हैं। इसके दूसरे नाम हैं—स्वभाव और प्रकृति। वस्तुतः बाहर विसर्जन नहीं करता, क्योंकि सर्वव्यापी प्रकाश के बाहर कुछ रह नहीं सकता। प्रकाश की भित्ति से संलग्न होकर ही प्रत्येक वस्तु स्वसत्ता प्राप्त करती है। प्रकाश के बाहर सत्ता नहीं रहती। जो वस्तु प्रकाशमान नहीं होती, उसे 'सत्' कहना नहीं बनता। विसर्जन एक चमत्कारमात्र है। प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है। जिसके न रहने पर यदि प्रकाश विषय द्वारा उपरक्त हो जाय तो भी स्फटिक आदि के तुल्य उसमें जड़ता का प्रसङ्ग होता है। दीक्षा के बाद संवित् शास्त्र-सिद्धान्त में अधिकार उत्पन्न होता है। दीक्षित पुरुष ही परम रहस्यरूप मन्त्रार्थ के उपदेश का अधिकारी है। इसीलिए किसी-किसी आचार्य ने मन्त्रार्थ के प्रस्ताव में संवित्-मत का सार प्रकट किया है। यह जो विमर्श है यह प्रकाश का अपना निजी स्वभावरूप और आत्मविश्रान्त है; इसके दूसरे पर्याय पराप्रकृति, स्वातन्त्र्य, माया और अविद्या हैं। यही जगत् का बीज है। किसी समय प्रपञ्च का अनुसन्धान करने की इच्छा होने पर प्रकाश इस विमर्श का आत्मभित्ति में

हीं बाह्य की तरह विसर्जन करता है। वही विसर्ग है। यह विसर्गरूप विमर्श ज्ञेय का आकार धारण कर वेत्ता को ग्रस लेता है और स्वयं प्रमाता बन बैठता है। वेत्ता यद्यपि चिद्रूप है तथापि वह अपने वैभव को खोकर अर्थात् स्वाभाविक ऐश्वर्य से वञ्चित होकर प्रमाण का रूप धारण करता है और जीव या पशु के नाम से परिचित होता है। फिर जब वे शिवरूपी प्रकाश प्रपञ्च के संहार की इच्छा करते हैं तब विमर्श-रूपिणी प्रकृति को अपने में निगल लेते हैं। तब उनका नाम पड़ता है बिन्दु। बिन्दु का स्वभाव अपरिच्छिन्न है। अतएव वेद्य, विमर्श और विसर्ग एकरूप हैं। वैसे ही वेदक, प्रकाश और बिन्दु भी अभिन्न हैं। विमर्श का स्वभाव फैलना है। प्रकाश का स्वभाव विश्राम है। यह विचित्र संसार विसर्ग के द्वारा ही उद्भव को प्राप्त होता है। वस्तुतः पशु, शिव और परम-शिव सभी संसारी हैं, इसीलिए संसार विचित्र कहा जाता है।

अब किसका संसार किस तरह का है, इस पर प्रकाश डाला जाता है। पशु का संसार द्वैतरूप है, क्योंकि इस संसार में विसर्ग या विमर्श अविद्या के रूप से भेद की सृष्टि करता है। किन्तु शिव का संसार अद्वैतरूप है, यहाँ विमर्श विद्या के रूप से अभेद भाव ग्रहण करता है। मगर परमशिव का संसार द्वैताद्वैत-रूप है, क्योंकि उसमें विमर्श विद्या और अविद्या दोनों के रूप से एक साथ भेदाभेदरूप-रहस्य का प्रदर्शन करता है। इस त्रिविध संसार की विश्रान्ति कहाँ है, इसके उत्तर में सिद्ध पुरुष कहते हैं कि शुद्ध महाबिन्दुपद ही संसारकलङ्क से अस्पृष्ट, अन्तर्मुख और विश्रान्तिस्वभाव है। यही अनुत्तर परमधाम है। इस महाबिन्दु में भी दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति त्रिविध संसार की उपादानरूप पूर्ण विमर्शस्वभाव होने से महाविश्रान्ति स्थान होने पर भी तीन कक्षाओं में प्रकटित प्रपञ्च के कलरव और अनुसन्धान की गन्ध से एकदम शान्त नहीं है। यह चतुर्थ पद है। दूसरी स्थिति का नाम परम-व्योम है। यह पञ्चमाम्नाय से शोधित निष्कल महाबिन्दुतत्त्व है। यह पञ्चम पद है। इसलिए उक्त पाँच दशाएँ यों हैं—(१) भेदसंसार—यह पशु का संसार है; (२) अभेदसंसार—यह शिव का संसार है; (३) मिश्रित (भेदाभेदमिश्र)-संसार— यह परम-शिव का संसार है: (४) सब संसारों की एकमात्र विश्रान्ति अवस्था—यह तुरीय है। ये सकल महाबिन्दु हैं; और (५) निष्कल महाबिन्दु यह तुरीयातीत है।

बिन्दु अपरिच्छिन्न होने से शिवस्वरूप होने पर भी जब उसमें विकल्प का स्पर्श होता है तब वह परिच्छिन्नवत् हो जाता है। प्रश्न उठता है कि उस अवस्था में उसे 'बिन्दु' कहना उचित है या नहीं। इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था में विकल्प-स्पर्श रहने के कारण सम्पूर्ण-बिन्दु-लक्षण उसमें नहीं धटता। पर गौणरूप से 'बिन्दु' शब्द का व्यवहार विकल्पक्षेत्र में भी होता है; क्योंकि संवित्ति अथवा ज्ञान अभेदरूप हैं। पर यह गुणगर्भित अभेदरूप है, इसीलिए यह गुण है। इस प्रकार बिन्दु गौण है। 'बिन्दु' शब्द के व्यवहार का यही निमित्त है। यह ज्ञान ही शिव का स्वरूप अथवा शरीर है। इसी तरह मिश्र-संसार का अधिष्ठाता भी 'बिन्दु' है। प्रचुर व्यवहार के अभिप्राय से शिव को ही बिन्दु कहा जाता है। किन्तु परिच्छेद होने पर भी चिद्रूप होने के कारण पशु को भी बिन्दु कहा जाता है।

'वेद्य' शब्द से भेदपद या भेदस्थान की प्रतीति होती है। यह जीव का व्यापक है, इसलिए यह जीवस्वरूप है। जो जिसका व्यापक या आवरणकर्ता है, वह उसका स्वरूप होता है। वेद्य भेद का आवरणकर्ता या व्यापक होने से भेद का स्वरूप है। इसलिए जीव वेद्यरूप होने से वेद्य के तुल्य विसर्ग-पद-वाच्य है। मन्त्रवेत्ता लोग ऐसा ही व्यवहार करते हैं।

पशुपद में और शिवपद में वेद्य और वेत्ता आपस में एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं। क्यों ऐसा करते हैं, इसके हेतु का पता लगाना चाहिये। रहस्यागम का सिद्धान्त यह है कि यह जगत् शिव शक्ति का अथवा प्रकाश और विमर्श का परिणाम है। यद्यपि प्राचीन मत में जगत् विमर्श का ही विलास माना गया है, तथापि यह अवश्य ही अङ्गीकार करना पड़ता है कि प्रकाश के बिना विमर्श का स्वरूप सिद्ध ही नहीं होता। इसलिए विमर्श का जगत् के रूप में विकास होने पर भी वह जाग्रत् में प्रकाश के अंश को अपने अर्द्ध भाग से प्रकाशित करता है और शेष अर्द्ध भाग से अपने अंश को प्रकाशित करता है। प्रकाश का अंश वेत्ता है और विमर्श का अंश वेद्य है। इसलिए वेद्य या चैत्य विमर्श का परिणाम होने से विमर्श ही है। यह विमर्श चित् या प्रकाश का धर्म है; क्योंकि प्रकाश से ही इसका जन्म होता है और प्रकाश में ही इसका लय होता है। सभी वस्तुएँ स्फुरण के बिना सत्ताहीन हैं और स्फुरण प्रकाश के अधीन है। इसलिए सभी वस्तुओं का मूल कारण प्रकाश है। और एक बात है, वह यह कि शब्दरूप-विमर्श का उदय और लय स्थान आकाश है। यह प्रकाश का ही नामान्तर है। दूसरे पक्ष में प्रकाश विमर्श का धर्म है। प्रकाश के रूप का विसर्ग हुए बिना यानी यह ऐसा ही है. इस प्रकार के विमर्श-द्वारा प्रकाश के स्वरूप का निर्देश हुए बिना वह प्रकाश रह कर भी न रहने के समान है। जो वस्तु 'यह इसी तरह की है' यों विमर्श-विषय नहीं होती, उसकी सत्ता का यदि अङ्गीकार किया जाय तो शशशृङ्ग आदि की भी सत्ता माननो पड़ेगी। इसलिए सभी वस्तुओं का पार्थक्येन प्रतीत होना तथा स्वसत्ता-लाभ करना विमर्श के अधीन है। अतएव प्रकाश के अस्तित्व में भी विमर्श में कारणता होने के कारण प्रकाश को विमर्श का धर्म मानना पड़ता है।

शिव और शक्ति का परस्पर धर्मधर्मिभाव दिखलाया जा चुका है। उसकी प्रकृत में आवश्यकता है। पूर्वोक्त रीति से चित् और चैत्य का धर्मधर्मिभाव तुल्य होने के कारण एक दूसरे पर स्वभावतः आक्रमण करते हैं। धर्मी 'धर्म' पद का व्यापक होता है। जब चित् चैत्य से आवृत या व्याप्त होता है तब वह 'पशु' कहा जाता है। तब उसकी अपनी शक्ति आच्छन्न हो जाती हैं यानी उसमें दैन्य (अनैश्वर्य) आ जाता है। इसके विपरीत जब चित् चैत्य को आवृत करता है तब वह शिव कहा जाता है।

पशु और शिव के दो पदों का आपस का सम्बन्ध समझ में आ गया। अब चित् और चैत्य का समव्याप्ति-पद कैसा है, इस सम्बन्ध में विचार किया जाता है। जिस समय चित् और चैत्य समव्याप्ति वाले होते हैं उस समय उनका स्वभाव स्तिमित या निश्चल होता है—वह निश्चल मध्यमपद या मिश्रपद विश्रान्ति स्वभाव का अवगाहन

कर परमशिव के नाम से प्रसिद्ध होता है। शिव और जीव के दो व्यापार जहाँ एक काल में होते हैं उस स्थल में परस्पर के अभिघात से परस्पर का व्यापारवेग क्षीण होने पर जो निर्व्यापार अवस्था उपस्थित होती है वही समव्याप्ति-पद है। यह स्तिमितावस्था दोनों का मूल होने से दोनों पक्षों में रहती है और दोनों पक्षों पर अपना विशेष आधिपत्य रखती है। इस प्रकार मिश्रपद में प्रमाता शिव और जीव के व्यापार की युगपत्-प्रतीति होती है। इस तरह धर्मी तीन प्रकार के हैं—चित्, चैत्य और मिश्र, एवं उनका विमर्श भी उसी तरह तीन प्रकार का है, अर्थात् जीव का द्वैत-विमर्श, शिव का अद्वैत-विमर्श एवं परम-शिव का उभयात्मक-विमर्श है।

(७)

ज्ञान और क्रिया का स्वरूप क्या है, इसी प्रश्न की इस समय आलोचना करनी है। ज्ञान अभेदात्मक होने से चित् है; क्योंकि घट, पट आदि की प्रतीति के समय "ज्ञात होता है" यों विभिन्न घट, पट आदि में एकरूपता की प्रतीति होती है। इसीलिए चित् का अभिन्न रूप से अनुभव होता है। क्रिया भेदरूपा है—यह चैत्य है। घट, पट आदि चैत्य परस्पर व्यावृत्तस्वरूप होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। अतएव चित् अथवा चैत्य, ज्ञान या क्रिया आपस में भिन्न नहीं हैं। पर जो भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण विपर्यय ज्ञान अर्थात् माया है। तत्त्वदृष्टि से दोनों ही अभिन्न हैं। ज्ञान या प्रकाश ही विमर्श के आकार से कठिनत्व गुण धारण करने पर क्रिया कहलाता है। जैसे आकाश का कठिनत्व ही शब्द है; वैसे ही चिदाकाश का काठिन्य ही विमर्श है। जैसे पानी और ओलों का भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही प्रकाश और विमर्श का भेद भी वास्तविक नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि प्रकाश और विमर्श के बीच भेद वास्तविक न रहने पर भी यह मानना पड़ेगा कि चैत्यरूप होने से घट, पट, आदि नानारूप-क्रिया को ज्ञानरूप प्रकाश से मोटे तौर पर भिन्न न मानना सम्भव नहीं है। फिर एक बात और है। वह यह कि विमर्श वर्णरूप है। घट, पट आदि निर्दिष्ट आकारात्मक हैं—इस दृष्टि से विमर्श से घट, पट आदि के भेद का निश्चय होता है। इस प्रकार की आशंका निर्मूल नहीं है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि विवेकदशा में घट, पट आदि किसी भी वस्तु का घट, पट आदि शब्दरूप-विमर्श के अलावा कोई पृथक् स्वरूप पाया नहीं जाता। जिनके अज्ञानान्धकार की गुरु के कृपाकटाक्ष से निवृत्ति हो चुकी हो, वे ही इसको समझ सकते हैं। अतएव क्रिया ज्ञान से वस्तुतः अभिन्न है, यह बात सत्य है। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि विमर्शरूप-क्रिया काठिन्य का त्याग कर विश्रान्तिस्वरूप विरलता का ग्रहण करने पर ज्ञान कही जाती है, अर्थात् प्रकाश के साथ एकरस होती है। अतएव ज्ञान की बाह्यरूप क्रिया, क्रिया का वास्तविक रूप ज्ञान—दोनों का एक ही अर्थ है। यह ज्ञान ही प्रकाश या शिव है एवं क्रिया विमर्श या शक्ति है। दोनों की प्रधानता एक-सी है; इसलिए दोनों ही युगपत्-सत्य हैं। सिद्ध लोग कहते हैं कि यह यामलसिद्धान्त मन्त्रविज्ञान का रहस्य-स्वरूप है।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ज्ञान क्रिया का कारण है और क्रिया ज्ञान का कारण है—यह कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि क्रिया या विमर्श के बिना ज्ञान का प्रकाशस्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। ठीक उसी तरह ज्ञान के बिना क्रिया की उपलब्धि भी सिद्ध नहीं होती। इसलिए सिद्ध लोग कहते हैं कि ज्ञान और क्रिया यामल या युगपत्-सिद्ध हैं। यही मन्त्र का रहस्य है। ज्ञान और क्रिया में पौर्वापर्य नहीं है, यौगपद्य ही है। वेद-वेदक के रूप से, प्रकृति-पुरुष के रूप से, देह-आत्मा के रूप से और शब्द-अर्थ के रूप से अथवा अन्य किसी प्रकार के पर्याय के आकार से ज्ञान और क्रिया दोनों ही युगपत्सिद्ध हैं।

(८)

शिव का दक्षिण अर्धभाग क्रिया है, इसीलिए कर्मकाण्ड दक्षिण मार्ग है। उनका बाँया अर्धभाग ज्ञान है, इसीलिए, ज्ञानकाण्ड वाममार्ग है। सिद्ध लोगों के मत से शैवमत दक्षिणाचार और शाक्तमत वामाचार है, ऐसी प्रसिद्धि है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया विमर्शरूप होने के कारण शक्तिरूप है; ज्ञान प्रकाशरूप होने से शिवस्वरूप है। यह रहस्य जानना चाहिये। ज्ञान और क्रिया रूप शिवशक्ति में परस्पर अनुरागवश परस्पर का स्वभाव परस्पर में उपरक्त होता है। शिव का स्वभाव ज्ञान जड़ाकार क्रिया के द्वारा उपरक्त या रञ्जित होता है। तब वह जड़ की शुक्लता से (चन्द्रमा की शुक्लता से) शुक्ल होता है। शक्ति की स्वभावरूप क्रिया अजड़ ज्ञान के द्वारा उपरक्त होकर अजड़ सूर्य की रक्तता से रक्त होती है। दोनों का मिश्रित रूप दो वर्णों के संसर्ग से सुवर्ण तुल्य (Golden) होता है। शिव, शक्ति और मिश्र, इन तीनों का स्वरूप पर्याय और गुरुपादुका के अन्तर्गत तीन चरणों की तरह वर्णवासना भी समझनी चाहिये। इसीलिए शिव ज्ञानस्वरूप होने पर भी शक्ति के स्वभाव क्रिया के स्वरूपानुसन्धान कार्य में सदा निरत रहने के कारण ज्ञानमार्ग या वामाचार में प्रतिष्ठित हुए हैं। यही कौलिक रहस्य है। यह तत्त्व अत्यन्त दुर्ज्ञेय है, ज्ञान और क्रिया को सत्य पुरुष के वाम और दक्षिण अर्ध के रूप में कल्पना कर सिद्ध लोग समझाने की चेष्टा करते हैं कि ज्ञान और क्रिया की व्याप्ति बराबर-बराबर होने पर उसका नाम पड़ता है इच्छा। यही मध्य है। इच्छातत्त्व परमात्मस्वभाव के ज्ञान और क्रिया, इन दो पक्षों का मूलरूप है—दोनों का बीजस्वरूप है। यद्यपि एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि ज्ञान क्रिया और इच्छा का मूल है एवं क्रिया ज्ञान और इच्छा का मूल है, तथापि यह सत्य है कि इच्छा मध्यवर्ती होने के कारण सुषुम्नास्वरूप है। इसलिए सिद्ध लोगों ने इच्छा को ही एक साथ ज्ञान-क्रिया के रूप में स्वीकार किया है। इच्छा का स्वभाव अचल और स्तिमित है। यही विशेष रूप से बीजत्व की समर्पिका है; क्योंकि बीज निश्चलरूप से स्थित रहता है एवं मूल और अंकुर भीतर और बाहर की ओर फैलते हैं। ज्ञान अन्तर्मुखी गति के द्वारा निवृत्ति के रूप में फैलता है। इसलिए ज्ञान को मूल कहा जाता है। बीज के नीचे की ओर फैलने वाले अवयव होते हैं। क्रिया बहिर्मुखी गति के द्वारा प्रवृत्ति के रूप में

फैलती है। इसलिए क्रिया को बीज का अंकुर कहा जाता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया, ये तीन, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय माने जाते हैं। ज्ञान क्रिया और इन दोनों की समष्टि-स्वरूप और सामरस्यरूपी इच्छा—ये तीन तत्त्व परस्पर-परस्पर का आश्रय कर प्रकट होते हैं। एक को छोड़ कर अन्य दो प्रकट नहीं हो सकते। नित्ययुक्त प्रमाता आदि भी त्रिपुटीरूप होने के कारण ठीक उसी तरह सम्बद्ध हैं। इस विवरण से ही इच्छा ज्ञान आदि के साथ प्रमाता आदि का सादृश्य समझ में आ सकेगा।

——

अद्वयतत्त्व के प्रकार-भेद

मायिक जगत् के आविर्भाव के मूल में अज्ञान की, आवरण और विक्षेप नाम की, दो शक्तियों की क्रिया स्वीकार की जाती है। आवरण-शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप आत्मा का स्वरूप आवृत हो जाता है तथा विक्षेप-शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप नाना प्रकार के वैचित्र्य सृष्टि के द्वारा प्रस्फुटित हो उठते हैं। वैचित्र्य के प्रकाशित होने के पूर्व आत्मा के स्वरूप का आवृत होना आवश्यक है। यह स्वरूप शक्तिहीन नहीं होता, अतएव स्वरूप के आवरण के साथ-साथ स्वरूप के साथ अभिन्नभाव से विद्यमान शक्ति का भी आवरण हो जाता है। आत्मा का स्वरूप चिदानन्दमय है, यह मानकर इस अभिन्न-शक्ति को भी चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति के नाम से वर्णन किया जाता है। जिसके द्वारा शक्ति का आवरण होता है और विक्षेप का उदय होता है, वह भी शक्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वह आत्मा अथवा चित्स्वरूप की ही शक्ति है—इसमें संदेह नहीं। परन्तु पूर्वोक्त चित्-शक्ति से उसको भिन्न जाति की कहे बिना काम नहीं चल सकता। चित्-शक्ति को अभेद-शक्ति के नाम से ग्रहण करने पर इस विपरीत शक्ति को यदि भेदशक्ति कहें तो असंगत न होगा। भेदशक्ति का प्रथम उन्मेष भेदज्ञान के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि-विषयक जो ज्ञान हमें होता है वह इस भेद-ज्ञान का ही नामान्तर है। यद्यपि यह आत्मा अथवा ब्रह्म को अवलम्बन करके ही उदित होता है, परन्तु इसके पहले आवरण-शक्ति की क्रिया होती है; अतएव आत्म-स्वरूप का भान नहीं होता। अर्थात् यह ज्ञान नहीं होता कि एक ही आत्मा विद्यमान है और प्रकाशित हो रही है, अपितु नानात्व का भान होता है। इसी कारण इस सृष्टि को अज्ञानमूलक सृष्टि कहते हैं। जब ज्ञानशक्ति का उदय होता है, तब यह आवरण-अंश उसके प्रभाव से कट जाता है। ज्ञानशक्ति चित्-शक्ति की ही एक अवस्था है। इसमें क्रिया-शक्ति अवश्य होती है, परन्तु ज्ञान में अन्तर्लीन रहती है। अतएव ज्ञानशक्ति वस्तुतः चैतन्य-शक्ति है—इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानशक्ति यदि शक्ति न होती तो आवरणात्मिका अज्ञान-शक्ति को अभिभूत न कर सकती। ज्ञान-शक्ति के विकास में मात्रागत वैलक्षण्य अवश्य ही रहता है। अतएव मृदु मात्रा में ज्ञानशक्ति का विकास होने से जो फल होता है, तीव्र मात्रा में उसका विकास होने पर तदपेक्षा अधिक फल की प्राप्ति होती है। दो प्रकार के इस फलगत भेद में पहला आत्मा के स्वरूपगत आवरण का अपसरण है और दूसरा उस अपसरण की अनुभूति है। ज्ञान की मात्रा मृदु होने पर साधक का आवरण तो निवृत्त होता है, परन्तु वह उसे स्वयं अनुभव नहीं कर पाता है। भूत-शुद्धि और चित्-शुद्धि के अभाव के कारण आत्मज्ञान प्राप्त करके भी साधक उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। मलिन देह और अन्तःकरण इस उपलब्धि के प्रतिबन्धक हैं। मल और वासना के रूप में इसका निर्देश किया जाता है। साधक चेष्टा-द्वारा अथवा साधना के द्वारा देह और

मन को शुद्ध कर सके तो गुरु-दत्त-ज्ञान का संधान पा सकता है। परन्तु ज्ञान की मात्रा तीव्र होने पर साधक के लिये यह साधनारूपी कर्म आवश्यक नहीं होता। परन्तु इस स्थल में ज्ञान तीव्र होने के कारण साधक के देह और मन उसे सहन नहीं कर सकते। ज्ञानाग्नि के प्रभाव से देह और मन दोनों ही दग्धवत् हो जाते हैं। साधक विशुद्ध आत्मज्ञान की उपलब्धि के साथ-साथ विदेह अवस्था को प्राप्त होता है। अतएव तीव्र निर्विकल्प अवस्था के उदय होने पर देहपात अवश्यम्भावी हो जाता है। इस स्थल में ज्ञान प्रारब्ध कर्म को भी ध्वंस कर देता है, ऐसा नहीं कि केवल संचित कर्म का ही नाश करे। और यदि साधक के साधनरूपी स्वकृत कर्म सहायक हों तो देहपात नहीं होता। इस अवस्था में कर्म की पूर्णता के साथ-साथ पूर्वप्राप्त स्वरूप-ज्ञान की अनुभूति होती है। फिर विक्षेप-शक्ति की प्रतिबन्धकता नहीं रहती; परन्तु न रहने पर भी विक्षेप-शक्ति-जनित देह ज्ञान के अधीन नहीं होतो। यद्यपि प्रारब्ध कर्म के अनुभव की प्रतिबन्धकता कट तो जाती है, तथापि उसका फल तिरोहित नहीं होता, अतएव देह का सङ्ग भी रहता है और उसके द्वारा साध्य भोगादि भी रहते हैं। परन्तु जब आत्मज्ञान की अनुभूति प्रतिष्ठित होती है, तब देहजनित-भोग होते हुए भी न होने के समान हो जाते हैं।

केवल ज्ञान के उदय में ही जीवन्मुक्ति नहीं होती। जीवन्मुक्ति के आस्वादन के लिये उदित ज्ञान का बौद्धिक अनुभव भी आवश्यक होता है। वस्तुतः ज्ञान का उदय केवल आवरण-निवृत्ति के रूप में ही पहले प्रकट होता है। उसके बाद सम्भव हो तो बुद्धि के द्वारा उसकी अनुभूति होती है। तब बुद्धि का आवरण कट जाता है। यही जीवन्मुक्त अवस्था है। विक्षेपशक्ति का पूर्ण तिरोधान होने पर, अर्थात् प्रारब्ध के अवसान में तदुत्पन्न देह का परिहार होने पर ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है। तब यह आवरण को दूर करनेवाला ज्ञान पूर्णरूप से सफलता प्राप्त करता है। यह अवस्था ही शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करना है।

परन्तु यह पूर्णता नहीं है। शक्ति ने बहिर्मुख होकर भेद-सृष्टि की अवतारणा की थी, जिसके मूल में स्वरूप का आवरण निहित था। परन्तु शक्ति की यह बाह्य प्रवणता अथवा बहिर्मुख गति केवल उसकी कार्य-निवृत्ति के साथ-साथ साम्यभाव को प्राप्त नहीं होती। सममात्रा में अन्तर्मुखी गति के द्वारा उसका साम्य स्थापित करना होता है। ऐसा न कर सकने पर प्रकृत स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसी कारण क्रियाशक्ति का उन्मेष और विकास आवश्यक है। यह क्रियाशक्ति साधारणतः गुरुशक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह चित्-शक्ति की क्रिया है। क्रियाशक्ति के क्रमिक विकास में अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है। यह गति मन, वायु और बिन्दु सबके अन्तराल में प्रवाहित होती है, इसमें संदेह नहीं। शक्ति की बाह्य गति के फलस्वरूप जिस प्रकार सृष्टि होती है, इस अन्तर्गति के परिणाम में भी उसी प्रकार सृष्टि होती है। पहली सृष्टि जड़शक्ति का कार्य है, परन्तु यह सृष्टि चैतन्य-शक्ति का कार्य है। इस अन्तःशक्ति की क्रिया का एक बार सूत्रपात होने पर वह निरन्तर चलती रहती है। जब तक बहिःशक्ति के साथ यह साम्य प्राप्त नहीं करती, तब तक इसकी निवृत्ति नहीं होती।

जिस क्षेत्र में जितना बाह्य विकास होता है, उस क्षेत्र में उतना ही आन्तर विकास आवश्यक होता है। भीतर-बाहर समान हो जाने पर दोनों गतियाँ एक-दूसरे को अभिभूत करके एक अभिन्न गति के रूप में संचारित होती हैं, परन्तु यह बहुत दूर की बात है।

क्रियाशक्ति क्रमश: चित्-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। चित्-कला चैतन्य-शक्ति की ही मात्रा है। चित्-कला का विकास हुए बिना ज्ञान की विक्षेप-शक्ति वशीभूत नहीं हो सकती; अर्थात् माया-शक्ति को अधीन करने के लिये महामाया-शक्ति की साधना करनी पड़ती है। महामाया-शक्ति की साधना क्रियात्मिका गुरु-शक्ति का ही क्रम-विकास-मात्र है। एक ही आत्मा जब बहिर्मुखी शक्ति-विशिष्ट होता है, तब उसकी परमात्मा के रूप में प्रसिद्धि होती है। दोनों में यह गतिरूपा शक्ति का खेल होता रहता है। परन्तु जो गतिहीन अवस्था है, उसमें शक्ति का खेल नहीं होता, उस समय शक्ति अव्यक्त रहती है। इस अव्यक्त शक्ति में कोई धर्म नहीं रहता। बिन्दुरूपी आत्मा या ब्रह्म से शक्ति जाग्रत् होकर बहिर्मुख और अन्तर्मुख खेल करती है। बहिर्मुख खेल के द्वारा बाह्यजगत् की उत्पत्ति होती है, यही जड़जगत् है तथा आभ्यन्तरीण खेल के द्वारा अन्तर्जगत् या विश्व की उत्पत्ति होती है। दोनों जगत् जब साम्यभाव को प्राप्त होते हैं, तब अखण्ड-मण्डलाकार को प्राप्त होकर अनन्त विश्व का रूप धारण करते हैं।

क्रिया-शक्ति के द्वारा अर्थात् शक्ति की अन्तर्मुखी गति से देह में प्रवेश प्राप्त होता है। शक्ति की बाह्यगति से जो देह-निर्माण हुआ है, जब तक शक्ति की अन्तर्मुखी गति नहीं होती तब तक उसमें प्रवेश प्राप्त नहीं होता। भेदज्ञान अचित्-शक्ति का कार्य है, यह पहले कह चुके हैं। उसी प्रकार अभेद-दर्शन चित् शक्ति का कार्य है—यह याद रखना होगा। अतएव क्रियात्मिका गुरु-शक्ति अभेद-ज्ञान-रूप में कार्य करती है। यह अभेदज्ञान पुष्ट होते-होते क्रमशः समस्त देह में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में क्रियाशक्ति के द्वारा देह-भेद नाम दिया जाता है। मन, प्राण और बिन्दु की अन्तर्मुखी गति अभेद ज्ञान का ही क्रमिक विकास है। इस ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर, अर्थात् क्रिया-शक्ति का कार्य सम्पन्न होने पर आत्मा की परमात्म-रूप में स्थिति होती है और उसका व्यष्टि-देह समष्टिदेहमय विश्वरूप में परिणत हो जाता है। इसको योगावस्था कहते हैं। क्रियाशक्ति के उन्मेष या कुण्डलिनी के जागरण से ही इस योगावस्था की सूचना मिलती है तथा क्रिया-शक्ति की पूर्णता ही इसका पूर्ण विकास है। आत्मा में जब क्रियाशक्ति का पूर्ण विकास होता है, तब आत्मा परमात्म-रूप में वर्णन के योग्य हो जाता है। कहना न होगा कि यह क्रियाशक्ति वस्तुतः चैतन्य-शक्ति ही है; क्योंकि ज्ञानशक्ति सबसे पहले उपलब्ध हुई है। ज्ञानशक्ति यदि पहले प्रस्फुटित न हो तो क्रिया-शक्ति का उन्मेष सम्भव नहीं होता। ज्ञानशक्ति के विकास में द्रष्टा या साक्षीभाव का आविर्भाव होता है। इस साक्षीभाव के साथ क्रिया-शक्ति का विकास न हो तो आत्मा क्रमशः परमात्मा की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। स्थिति उपलब्ध न हो तो केवल गति संसार का ही नामान्तर है; अर्थात् आत्मा का

स्वरूप जब आवरणयुक्त होता है, तब उसका आश्रय लेकर जो गति उदय होती है, वह वस्तुतः भेदज्ञान का ही नामान्तर है। स्वरूप का आवरण जब कट जाता है, तब उस अनावृत आत्मा का आलम्बन करके जिस गति का उदय होता है वह अभेद ज्ञान की क्रीड़ा होती है—वही चित्-शक्ति का विलास है।

जीव और ईश्वर का भेद स्वीकार्य है; परन्तु आत्मा और परमात्मा में भेदाभेद क्रिया-शक्ति के पूर्ण विकासपर्यंन्त मानना ठीक है।

गुरु-शक्ति-रूपी क्रियाशक्ति क्रमशः देह-भेद करती रहती है। सबसे पहले अज्ञान-राज्य में—जो काल की प्रणाली में स्थापित है, प्रवेश प्राप्त होता है। इस राज्य में प्रविष्ट होकर क्रमशः अग्रसर होना क्रियाशक्ति का कार्य है। इस स्तर में पड़े हुए अज्ञान-राज्य का अतिक्रमण करने पर, काल की प्रणाली को पार करके, ज्ञान-राज्य में प्रवेश करना सम्भव हो जाता है। अणु के कर्म के द्वारा अज्ञान-राज्य को पार करना नहीं बनता तथा ज्ञान-राज्य में भी अग्रसर नहीं हुआ जाता। अतएव परमाणु का कार्य आवश्यक है। परमाणु परम पदार्थ का अंश होता है। वह नित्य और चिन्मय है। यही सृष्टि काल में क्रमशः विभिन्न स्तरों को भेद करके अवतीर्ण होता हुआ मातृगर्भ में प्रविष्ट होता है। इसके पश्चात् ही क्रमशः विभिन्न प्रकार के अणु के संश्रव में आकर वह पुष्टि प्राप्त करता है। मातृगर्भ में विकास के पश्चात् जब प्रसव और नाल-भेद हो जाता है, तब बहिर्जगत् के अणु के साथ इसका योगायोग होने लगता है। जागतिक ज्ञानवृद्धि आदि सब प्रकार के कर्म तत्तत्प्रकारके अणु के ही खेल हैं; इन सबको परमाणु की क्रिया नहीं कहा जा सकता। दीक्षा के बिना चैतन्य-शक्ति का सम्बन्ध परमाणु के साथ नहीं होता तथा परमाणु अपनी सुप्तवत् अवस्था हो जाने पर दीक्षा के बिना जाग्रत् नहीं होता। योग-दीक्षा के समय शिष्य जो गुरु से चिन्मय शरीर प्राप्त करता है, उसे ही जाग्रत् कुण्डलिनी के नाम से पुकारते हैं; उसके संस्पर्श के द्वारा परमाणु कार्य-विशिष्ट होकर कर्म करके में समर्थ होता है। परमाणु का कर्म ही यथार्थ क्रिया-शक्ति है। धीरे-धीरे प्रयोजन के अनुसार क्रियाशक्ति का विकास होता है और उसके फलस्वरूप देहराज्य सिद्ध होता है। अयोगी साधक भी दीक्षा के फल से चैतन्य शक्ति प्राप्त करता है; परन्तु वह कायाकार में परिणत नहीं होती। कायाकार में परिणत अवस्था ही जाग्रत्-अवस्था है। अतएव साधक को कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् करनी पड़ती है। यह जागरण दीक्षाकालीन जाग्रत् आभास का पूर्ण विकास है। दोनों स्थानों में चैतन्य-शक्ति के प्रभाव से परमाणु की ही क्रिया होती रहती है। अज्ञान-राज्य को भेद करना और ज्ञानराज्य में अग्रसर होना, दोनों ही चैतन्य-रूपी क्रिया-शक्ति का कार्य है। दोनों राज्य देह के ही भीतर हैं। अज्ञानराज्य और ज्ञानराज्य दोनों ही राज्य-रूप में आलोचना के योग्य हैं। अज्ञानराज्य काल की सृष्टि है, परन्तु ज्ञानराज्य काल की सृष्टि होने पर भी काल की सीमा के परे है। यह ज्ञानराज्य वस्तुतः चैतन्य-शक्ति की विशिष्ट रचना के द्वारा विभूषित है।

जब मृत्यु-काल में परमाणु और अणु का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब जो परमाणु दीक्षादि के द्वारा चैतन्य को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे स्वकर्म के अभाव के कारण अज्ञान-राज्य को भेद न कर सकने के कारण काल की सीमा के भीतर प्रसुप्तवत् अवस्थित रहते हैं। उनके सारे अणु लौकिक जगत् में निरन्तर नाना प्रकार से संचरण करते रहते हैं। इनकी सुप्तवत् नाना प्रकार की गति में सुषुप्तिमग्न परमाणु कुछ भी विचलित नहीं होते। अतएव अणु के कर्म और परमाणु के कर्म परस्पर पृथक् होते हैं। अणु के सहस्रों प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप अणु में नाना प्रकार के धर्मों का आविर्भाव होता रहता है। उसी प्रकार परमाणु के कर्मों के फलस्वरूप परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया के प्रभाव से परमाणु स्वकर्म-विशिष्ट होकर अज्ञानराज्य को पार करते हैं।

जब परमाणु और अणु का पारस्परिक विच्छेद सम्पन्न हो जाता है, तब परमाणु की दृष्टि के सामने एक विशेष ज्योतिर्मय सत्ता का आविर्भाव होता है। इस सर्वव्यापक महान् आलोक में स्तरगत कोई क्रम लक्षित नहीं होता। जिसे अज्ञान-जगत् कहते हैं, वह भी इस विशाल आलोक में आभासित होता है। कर्म के प्रभाव से अज्ञान-जगत् को पार करने पर एक शून्यावस्था का उदय होता है। उस समय काल की सीमा (कार्य-क्षेत्र) को पार करने के साथ-साथ आत्मबोध का स्फुरण होता है और चैतन्य-शक्ति क्रमशः ज्ञानराज्य की सृष्टि करके और उसे भेद करके अग्रसर होती है। यह जो शून्यावस्था की बात कही गयी, वह वस्तुतः शून्य है। इस शून्य में प्रविष्ट होने पर क्रमशः विभिन्न स्तर-विशिष्ट ज्ञान का राज्य अभिव्यक्त होता है। अज्ञान-जगत् को पार किये बिना ज्ञान-जगत् में अग्रसर होने की सम्भावना नहीं होती। चैतन्य-शक्ति की सहायता पाये बिना देहभेद असम्भव होने के कारण स्वदेह विश्व-देह के रूप में परिणत नहीं हो सकता।

इन्द्रिय-स्तर से हृदय-रूपी शून्य में प्रवेश करने के लिये नाना प्रकार के जाल रचित होते हैं। बीच-बीच में ग्रन्थियाँ और घने आवरण दिखलायी देते हैं। निर्दिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके इस विराट् जाल को भेद करना पड़ता है। इसका ही नाम मायाजाल है। मृत्यु के पश्चात् इस जाल का भेदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि असाधक और अयोगी के परमाणु कर्म-हीन होने के कारण इस जाल को नहीं देख सकते—भेद भी नहीं कर सकते। जाग्रत्-अवस्था में गुरुदत्त काया में कर्म के द्वारा यह जाल-भेद करना पड़ता है। दीक्षा के बाद कुछ भी कर्म न करने पर भी केवल गुरुशक्ति के प्रभाव से ही उसका भेद हो जाता है। गुरुशक्ति का मुख्य कार्य है मोहमाया के जाल से जीव को उठा कर ज्ञान के राज्य में पहुँचा देना। अज्ञान-राज्य को पार करने के बाद जब शून्य में प्रवेश प्राप्त हो जाता है, तब देखने में आता है कि उसके आवरण-रूप में जो दीवाल खड़ी थी, उसमें असंख्य द्वार अथवा छिद्र वर्तमान हैं। उसके किसी भी मार्ग-द्वारा इस शून्य में प्रवेश किया जा सकता है। जब शून्य ज्योति से उद्भासित होता है, तब क्रमशः चारों दिशाओं के सहस्रों द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं और ऊपर की ओर एक नया द्वार खुल

जाता है। यह द्वार पहले से प्रकाशित नहीं होता। अधोद्वार की क्रिया के रुद्ध हुए बिना इसकी आविर्भूति नहीं होती। इस आभ्यन्तरीण राज्य से ऊर्ध्वद्वार के द्वारा ही निकला जाता है।

अज्ञान-राज्य बाह्य और ज्ञान का राज्य आभ्यन्तरीण होता है। देहभेद के समय क्रमशः इन दोनों राज्यों को भेदन करना पड़ता है। अन्तर्मुखी क्रियाशक्ति ठीक उसी मात्रा में कार्य करती है, जितना उसने बहिर्मुख कार्य किया था। जब अन्तर्गति और बहिर्गति में साम्य हो जाता है, तब उसके साथ-साथ देहभेद सिद्ध होता है। अन्तर्मुखी क्रिया के प्रभाव से पिण्डगत देह विश्वरूप में परिणत होता है। अतएव यह जो देहभेद की बात कही गयी, इसे विश्वभेद भी समझना होगा। विश्वभेद हो जाने पर भी देह सम्पूर्णरूप से अतिक्रान्त नहीं होता; क्योंकि विश्वातीत भावराज्य में तब भी प्रवेश प्राप्त नहीं होता। भावराज्य में प्रविष्ट होकर उसकी पूर्णता की साधना करके उससे निकल जाना अत्यन्त आवश्यक है। इतना सम्पन्न होने पर यह कहा जा सकता है कि शक्तिराज्य एक प्रकार से अतिक्रान्त हो गया। कालशक्ति, गुरुशक्ति, इष्टशक्ति, आत्मशक्ति आदि शक्ति के विभिन्न विकास को क्रमशः भेद करके विशाल जाग्रत् सत्ता के अन्त में एक ऐसी वस्तु पायी जाती है, जिसके द्वारा सुषुप्ति के राज्य में क्रिया, साधन या संचरण सम्भव हो जाता है।

विश्वातीत भावदेह साकार न होते हुए भी साकार, तथा साकार होकर भी निराकार है। भावराज्य के परे जाने पर जो भावातीत परमगुह्य सत्ता प्राप्त होती है, वही निजस्व मन है। इसका जो आकार है वह पिण्डातीत, विश्वातीत तथा भावातीत होकर भी साकार है। यही निराकार साकार कहलाता है। जिस मन का उल्लेख यहाँ हुआ है, वह भी एक प्रकार से शक्तिपद-वाच्य है। परन्तु इस आकार को शक्ति कहते नहीं बनता। इस अवस्था से परम पद का पता मिलता है। परम स्वरूप साकार और निराकार, अथवा सगुण और निर्गुण दोनों के परे होते हुए भी उभयात्मक है।

क्रियाशक्ति का विकास तथा परमात्मभाव की अभिव्यक्ति एक ही बात है। क्रियाशक्ति का विकास पूर्ण होने पर ज्ञान और क्रिया अभिन्न रूप में प्रकाशित होकर पूर्ण चैतन्य शक्ति के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस अवस्था में आकर्षण और विकर्षण समान होने के कारण इसको कुम्भक की अवस्था कहते हैं। चैतन्यशक्ति का विकास होने पर वह इच्छा रूप में प्रकट होती है। यह इच्छाशक्ति स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा नहीं, क्योंकि इसका भी विकास होता है। जब तक निजस्व मन अभिव्यक्त नहीं होता, स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा का आविर्भाव सम्भव नहीं है। यहाँ जिस इच्छा का उल्लेख किया गया है, वह इच्छाशक्ति शुद्ध इच्छा नहीं है।

स्वातन्त्र्यरूपी इच्छा मर्त्य देह में भगवत्सत्ता की अभिव्यक्ति के बिना सम्भव नहीं होती; क्योंकि निजस्व मन मर्त्य देह के बिना प्रकट नहीं हो सकता। अमरलोक में जो अमरदेह का प्रकाश है उसमें मरण-क्रिया नहीं होती, इसलिये स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति के लिये मर्त्य देह की आवश्यकता होती है।

बहिर्मुखी शक्ति और अन्तर्मुखी शक्ति के समान होने पर दोनों प्रकार की शक्तियाँ प्रतिबद्ध हो जाती हैं और शून्य का आविर्भाव होता है। यही देह का हृदय विश्व का हृदय है। क्रियाशक्ति के पूर्ण हुए बिना हृदय में स्थिति नहीं होती। क्रिया-शक्ति के उन्मेष के साथ-साथ जो अन्तर्मुखी गति प्रारम्भ होती है, क्रियाशक्ति की पूर्णता होने पर परमात्मरूप से हृदय में स्थिति हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में आकर्षण और विकर्षण की क्रिया नहीं रहती। यही राग-द्वेष से अतीतावस्था है। आत्मा जिस परिमाण में क्रियाशक्ति का विकास प्राप्त करता है, उसी परिमाण में परमात्मा के समीप हो जाता है। उसी परिमाण में उसकी योगभूमि उत्कर्ष प्राप्त कर लेती है। क्रियाशक्ति के उन्मेष के पहले योगभूमि की प्राप्ति नहीं होती तथा क्रियाशक्ति की पूर्णता के बाद भी योगभूमि नहीं रहती। बीच में एक-एक करके भूमि को भेद किया जाता है तथा क्रमशः सोपान-परम्परा के समान निम्न से ऊर्ध्वभूमि प्राप्त होती है। योगभूमि का परम उत्कर्ष ही परमात्मभूमि है।

परमात्मा और ईश्वर एक ही आत्मा की शक्ति-युक्त दो अवस्थाएँ हैं। बहिर्मुखी मायाशक्ति-युक्त आत्मा ईश्वर है। इसका ही अंशविशिष्ट आत्मा जीव है। माया भेदशक्ति है। इसी कारण ईश्वर और जीव परस्पर भिन्न हैं। अन्तर्मुखी क्रियाशक्ति का नाम महामाया है। इस शक्ति से विशिष्ट आत्मा ही परमात्मा है। इस महामायाशक्ति के आंशिक विकास से सम्पन्न आत्मा ही मुक्त पुरुष हैं। इस शक्ति से अभेदज्ञान की उत्पत्ति होती है—इसी कारण मुक्त और परमपुरुष या परमात्मा परस्पर अभिन्न, अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। अर्थात् जीव ईश्वर का भिन्न अंश है। परन्तु मुक्त पुरुष परमात्मा का अभिन्न अंश है। अतएव मुक्त पुरुष ही क्रिया-शक्ति के विकास के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक योगी हैं। ईश्वर और परमात्मा एक ही वस्तु हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है, अतएव ईश्वर में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति पूर्ण मात्रा में रहती हैं, परन्तु जिस शक्ति का वे प्रयोग करते हैं, अर्थात् वे जिस शक्ति में अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं, वह ज्ञान से विपरीत आवरण-शक्ति तथा क्रिया से विपरीत विक्षेपशक्ति है। ये दोनों माया या अज्ञानशक्ति के रूप हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। परन्तु अपने स्वरूप में वे अन्तर्मुखी महामाया की शक्ति के द्वारा बहिर्मुखी (माया) शक्ति को निरस्त करके ही विराजमान रहते हैं। अतएव अन्तर्मुखी शक्ति के दो व्यापार देखने में आते हैं। उनमें एक है साक्षीरूप में दृष्टि के द्वारा बहिर्मुख शक्ति को संचालित करना, तथा दूसरा है बहिर्मुखी शक्ति की क्रिया-निवृत्ति की परावस्था में शून्यमय हृदयदेश में अवस्थान करना।

यद्यपि हृदय में यह स्थिति शाश्वत होती है, तथापि बहिर्मुखी शक्ति को संचालित करने के समय वह भान नहीं होती। योगी इस अन्तरङ्गा चित्-शक्ति के द्वारा ही स्वसामर्थ्य के अनुसार माया को वश में कर सकता है। जब माया पूर्णरूप से वशीभूत हो जाती है तो योगी परमात्मरूप में हृदय के शून्य प्रदेश में अवस्थान करता है। क्रियाशक्ति की पूर्णता के बिना यह अवस्था नहीं आती। यह व्याप्ति की अवस्था होती है। आत्मा जब हृदय में प्रवेश करता है, तभी वह साक्षीभाव प्राप्त होने के

कारण समस्त जगत् को, अर्थात् विश्व को, दृश्य रूप में एक साथ देखता है। यही उसका सर्वज्ञत्व, अर्थात् सर्व-जगत्-विषयक अपरोक्ष ज्ञान, का विकास है। परन्तु यह ज्ञान अपरोक्ष होते हुए भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि दृश्य दृष्ट होने पर भी अप्राप्य रहता है। क्रिया के बिना, केवल ज्ञान के द्वारा उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ज्ञान के द्वारा जो सूक्ष्म रूप में दिखलायी देता है, क्रिया के द्वारा वही अपने साथ अभिन्नरूप में प्राप्त हो जाता है। क्रिया के पूर्ण होने पर सारे व्यवधान दूर हो जाते हैं, अतएव उस समय कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती, जो अप्राप्य कही जाय। इसी को आत्मा की व्याप्ति या विभुत्व कहते हैं। जब क्रियाशक्ति पूर्ण होती है, तब आत्मा ही परमात्मरूप में सिद्ध होता है। यह केवल सब पदार्थों का द्रष्टा ही नहीं होता, बल्कि प्रति पदार्थ के साथ अभेदभाव-युक्त भी हो जाता है।

हृदय-गर्भ से निकलने पर परमात्मा को परावस्था की अभिव्यक्ति होती है। क्रियाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है। जब तक अज्ञान-राज्य का भेद नहीं किया जाता, तब तक हृदय में प्रवेश नहीं होता। परन्तु प्रवेश के मार्ग में अवस्थिति होती है। अज्ञानराज्य को भेद करके जो शून्यावस्था में स्थिति होती है, वही हृदय-प्रवेश कहलाता है। इस अन्तर्मुखी गति के द्वारा अज्ञान की विक्षेप-जनित सृष्टि के उपर एक पर्दा पड़ जाता है, यह याद रखना चाहिये। उसके बाद शून्य में रचनाकार्य प्रारम्भ हो जाता है। पूर्व चित्रों के मिटे बिना नवीन चित्रों को कहाँ स्थान मिल सकता है? पूर्वचित्रों को मिटा डालना ही हृदयप्रवेश है। इसके बाद नवीन चित्रों का अङ्कन ही वस्तुतः हृदयरूपी शून्य में अभिनव सृष्टि का विकास है। अभिनव सृष्टि एक प्रकार की देहसृष्टि के बिना और कुछ नहीं है। यह देह ही विश्व और देही परमात्मा है।

शून्य में सबसे पहले ज्योति का उदय होता है। आकाश में सूर्योदय के पहले जिस प्रकार प्रकाश की किञ्चित् आभा आ जाती है, हृदय में भी उसी प्रकार एक क्षीण प्रकाश की आभा फूट पड़ती है। वह प्रकाश क्रमशः परिस्फुटित होने लगता है। इस प्रकाश की सीमा मण्डलाकार होती है; क्योंकि यह हृदयस्थ शून्य में अभिव्यक्त होता है। धीरे-धीरे इस व्याप्त प्रकाश में घनीभूत आलोक दृष्टिगोचर होता है। जलराशि में जिस प्रकार बुद्बुद उठते हैं, वैसा ही यह आलोक भी है। यह घनीभूत आलोक ज्योतिःस्वरूप होता है, इसी का दूसरा नाम है कला। यह क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है। फल यह होता है कि व्यापक प्रकाश के मध्य में स्थित वह ज्योति एक मण्डलाकार में परिणत हो जाती है। यह कला के क्रमिक विकास से ही होता है। मण्डल के पूर्ण होने पर उसमें एक आकार फूट उठता है। यह आकार क्रमशः पूर्ण आकार में परिणत होता हैं। देह के भीतर जो अवकाश—स्थान है, वह हृदय है। हृदय में आलोक का आविर्भाव और आलोक के बीच में घनीभूत आलोक या ज्योति का आविर्भाव तथा क्रमशः ज्योति का मण्डलाकार होना एवं मण्डल में आकृति का आविर्भाव—इस प्रकार क्रमशः आकृति के पूर्णरूप से प्रस्फुटित होने पर उसे रूप कहते हैं। ज्योतिर्मण्डल के मध्य की आकृति के क्रमशः पुष्ट होते-होते हृदय का

तेजोमय आलोक और घनीभूत ज्योति इस रूप में परिणत होती है, अर्थात् यह रूप क्रमशः ज्योति और आलोकरूपी हृदयकोष के समस्त रस को खींच लेता है। यह अवस्था ही परमात्मभाव की पूर्णता है।

इसके पश्चात् हृदय से निर्गम होता है। गर्भस्थ सन्तान के अवयव जब पुष्ट हो जाते हैं, तब वह आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से गर्भ से बाहर निकल पड़ता है। उसी प्रकार परमात्मभाव के पूर्ण होने पर भगवत्कृपा प्राप्त होती है और ऊर्ध्व-पथ से निकलना होता है। इस बार गठन बहुत कुछ सम्पन्न हो जाता है, परन्तु कुछ अब भी शेष रह जाता है। वह कुछ और ही प्रकार का होता है। मातृगर्भ में सन्तान की जो देह-रचना होती है, उसके पूर्ण हुये बिना स्वभावतः मातृगर्भ से वह बाहर नहीं निकलता। परन्तु बाहर निकलने के बाद वह बाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओं में विकास को प्राप्त होता है। उसी प्रकार परमात्मभाव के पश्चात् रूप मूर्त अवस्था को धारण करता है। रूप के विकास की अब आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु मूर्ति का विकास अवश्य ही होता हैं। इसकी एक-एक अवस्था का नाम एक-एक वयस है। वैष्णव लोग बाल्य पौगण्ड और कैशोर—इन तीन अवस्थाओं को स्वीकार करके षोडश वर्ष में, अर्थात् नवयौवन में स्थिति स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यौवन के पश्चात् और विकास नहीं होता तथा इसका ह्रास भी नहीं होता। बाल्य, पौगण्ड और कैशोर—यह काल होते हुए भी नित्य हैं; क्योंकि बाल्यदेह नित्य ही बाल्यभावापन्न होता है, यह कभी पौगण्ड भाव को प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार पौगण्ड भी नित्य ही पौगण्ड रहता है; उसका न कभी बाल्य था और न कभी कैशोर ही होगा। इस देह का पूर्ण विकास ही सोलह कला का विकास है। वस्तुतः प्रत्येक कला में ही यह नित्य रहता है। अतः यह भगवत्स्वरूप ही नित्यषोडशी है। कहना न होगा कि इसको भी अतिक्रमण करना होता है, अन्यथा सप्तदशी में जाने का कोई उपाय नहीं है।

परमात्मभाव-पर्यन्त भीतर-बाहर भेद रहता है। भीतर का राज्य जैसे-जैसे विकास को प्राप्त होता है, ठीक उसी परिमाण में बाहर का राज्य उसके अधीन होता जाता है। आन्तर राज्य की पूर्ण परिणति तभी होती है जब बाहर का राज्य उसके अन्तर्गत हो जाता है। साथ-ही-साथ एक परा अवस्था का उदय होता है। तब अन्तर और बाहर समान हो जाता है, अर्थात् बाहर अन्तर के अन्तर्गत हो जाता है। परिणाम-स्वरूप बाहर और अन्तर की विरुद्ध क्रिया शान्त हो जाती है। वस्तुतः तब दोनों मिलकर एक ही राज्य में प्रतिष्ठित होते हैं। यह राज्य समस्त विश्व के हृदय-रूपी शून्य में प्रतिष्ठित है। बाह्य और आभ्यन्तर का आकर्षण परस्पर समान होने पर इस अवस्था का उदय होता है। इस अवस्था में योगी समस्त जगत् के केन्द्रबिन्दु में प्रतिष्ठित होता है। उसके साथ किसी वस्तु का साक्षात् स्पर्श नहीं रहता। अतएव इस प्रकार का योगी सारी वस्तुओं के साथ अस्पर्श-योग से युक्त होता है।

क्रियाशक्ति के क्रम विकास के समय चित्-कला-सम्पन्न योगी अपने को परमात्मा का उपासक तथा परमात्मा को अपना उपास्य जानकर क्रमशः उपासना के

गाढ़तर होने पर कला वृद्धि के प्रभाव से अपने को परमात्मा का अधिकतर निकटवर्ती जानता है। यह उपासना हृदय के आभ्यन्तर परमात्म-साक्षात्कार-मूलक उपासना है।

शान्त ब्रह्म पद में प्रतिष्ठित होकर क्रमशः ब्रह्मोपासना में तत्पर होना पड़ता है। ब्रह्म में स्थित हुए बिना ब्रह्मोपासना नहीं होती तथा ब्रह्मोपासना के बिना ब्रह्म में स्थिति भी नहीं होती। परन्तु दोनों स्थितियों में भेद है।

जब व्यापक अनन्त अपरिच्छिन्न महासत्ता में माया और विकल्प की निवृत्ति के साथ-साथ साक्षीभाव का उदय होता है, तब वह असीम सत्ता मानो वेष्टन के आकार में प्रकाशित होती है। ज्ञानशक्ति के उन्मेष के साथ-ही-साथ ऐसा होता है।

ज्ञानशक्ति का उन्मेष हुए बिना यह असीम सत्ता स्थितिरूप में रह जाती है। इस अवस्था में साक्षीभाव रहता है, यह कहते नहीं बनता। परन्तु सत्ता स्वयं प्रकाशित होती है. अतएव उसे साक्षीभाव न कहने में भी कोई विशेष क्षति नहीं होती। साक्षीभाव कैसा होता है, इस विषय में एक दृष्टान्त देता हूँ। अनन्त विस्तीर्ण महा-समुद्र के ऊपर भासमान एक जहाज पर खड़े होकर पर्यवेक्षण करने पर चारों ओर एक विशाल जलमय गोल दृश्य दिखलायी देता है। इस स्थिति में चारों दिशाओं के गोलक का अखण्ड मण्डल द्रष्टा का दृश्य बन जाता है और जो इसको देखता है वह इसका द्रष्टा या साक्षी होता है। साक्षी की दृष्टि राग-द्वेष रहित होने के कारण चारों ओर समभाव से प्रसारित होती है, इसी कारण यह मण्डलाकार में व्याप्त होती है। अपरिच्छिन्न ब्रह्म सत्ता में साक्षी-भाव के आभास में एक गोलाकार वेष्टन आविर्भूत होता है। इस वेष्टन के बाहर भी अपरिच्छिन्न सत्ता ही रहती है—इसमें संदेह नहीं, परन्तु वह अव्यक्त होती है। जो कुछ साक्षी के आलोक में आलोकित होता है उतना व्यक्त है। यह वेष्टन वस्तुतः प्रसारित दृष्टि का विस्तार-क्षेत्र होता है।

ब्रह्म निराकार है। विदेह अवस्था की निराकार-सत्ता में वेष्टन नहीं रहता। शक्ति की क्रिया न होने पर वेष्टन नहीं होता, उसका होना ही सम्भव नहीं है। शक्ति की क्रिया होने में देह का सम्बन्ध आवश्यक है। अतएव याद रखना होगा कि यह जो साक्षी-भाव की बात कही गयी है, वह देह-युक्त अवस्था में ही हो सकती है। देह न रहने पर साक्षी कहाँ और मण्डल कहाँ ? माया की निवृत्ति होने से पहले जीव का देह से सम्बन्ध रहता है, परन्तु इस अवस्था में लिप्तता या भोग-भाव रहने के कारण साक्षी-भाव नहीं रहता। वस्तुतः यह मण्डलावच्छिन्न आकाश ही हृदयाकाश है। जब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, देह के साथ तादात्म्य-बोध रहता है, अतएव उस समय हृदयाकाश में इस प्रकार की निर्लिप्त स्थिति समझ में नहीं आती। देह के साथ अभेदभाव रहने के कारण भेदज्ञान का उदय होता है। आत्मविस्मृति के कारण देह के साथ तादात्म्य उत्पन्न होता है और उस तादात्म्य के कारण भेदज्ञान के मूल में बाह्य सृष्टि का उदय होता है। परन्तु निर्मल हृदयाकाश में आत्मा की उपलब्धि कर सकने पर देह के साथ तादात्म्य अथवा अभेदभाव नहीं रहता और आत्मा की असङ्गता स्फुटित हो उठती है। तब साक्षीभाव का उदय होता है। यद्यपि तब देहाभिमान नहीं रहता; फिर भी देह के साथ योग रहने के कारण साक्षीभाव प्राप्त

किया जा सकता है। यह ज्ञानशक्ति की क्रियाशील अवस्था है; अतएव शक्तिहीन अवस्था नहीं है। अज्ञान-निवृत्ति के साथ-साथ शक्तिहीन अवस्था की स्थिति में देह-सत्ता को लेकर बने रहना सम्भव नहीं, अतएव यथार्थ निर्विकल्प समाधि का उदय होने पर देह-भग्न हो जाता है।

यह हृदयाकाश ही पूर्ववर्णित साक्षी के द्वारा परिदृष्ट मण्डल है। जीव इसको नहीं देख पाता। इसे देखता है मुक्त पुरुष। जब तक कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान गलित नहीं हो जाता, अर्थात् बन्धन कट नहीं जाता, इस मण्डल का दर्शन नहीं होता।

शक्ति के उन्मेष से परमात्मा का ज्योतिर्मय राज्य ब्रह्मसत्ता के ऊपर स्तर-स्तर में गठित होने लगता है। शक्ति का प्रथम उन्मेष ज्ञानशक्ति के रूप में होता है—यह जान लेना चाहिये। ज्ञानशक्ति के साथ क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति का स्वरूपतः अभेद रहने पर भी विकास के पथ में गुणप्रधान भाव के अनुसार प्रत्येक का पार्थक्य निर्दिष्ट होता है। ज्ञानशक्ति के उन्मेष और विकास के सिद्ध होने पर क्रिया प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव क्रमशः सम्भव होता है। क्रिया प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति के बिना ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। उसी प्रकार ज्ञानादि शक्ति के प्रकाश के बिना क्रिया प्रभृति शक्तियों की अभिव्यक्ति भी पूर्ण नहीं होती। जब कोई एक शक्ति पूर्णरूप में अभिव्यक्त होती है, तब अन्याय शक्तियों की अभिव्यक्ति भी पूर्णरूप से होने लगती है। शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति भी सामान्य और विशेष - दो दिशाओं में होती है। सामान्य अभिव्यक्ति हुए बिना विशेष अभिव्यक्ति नहीं होती। ज्ञानशक्ति का प्रथम आविर्भाव सामान्य रूप में ही होता है, उसके विशेष आविर्भाव के लिये क्रिया प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव आवश्यक है।

सामान्यतः ज्ञानशक्ति का आविर्भाव ही साक्षीभाव का स्फुरण है। देह के बिना शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता। अतएव साक्षीभाव का आविर्भाव देहावस्था में ही सम्पन्न होता है। जिनके ज्ञान का उदय होता है, परन्तु ज्ञानशक्ति का उदय नहीं होता, उनका ज्ञानप्राप्ति के साथ-साथ देहपात अवश्यम्भावी है। ज्ञान के उदय से अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञाननिवृत्ति के साथ-साथ देह स्खलित होता है। इनके ज्ञानोदय के कारण साक्षीभाव की प्राप्ति नहीं होती। साथ-ही-साथ विदेह—कैवल्य आ उपस्थित होता है। इस प्रकार का ज्ञान जीवन्मुक्ति का साधक नहीं। इस प्रकार का ज्ञान माया का कार्य होता है—केवल अन्तःकरण का धर्म होता है। अज्ञान भी वही वस्तु है; दोनों जड़ शक्ति हैं। यद्यपि ज्ञान और अज्ञान में विभेद होता है। सत्त्वगुण के प्राधान्य से ज्ञान का उदय होता है और अज्ञान का मूल है रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता। तमोगुण से विक्षेप उत्पन्न होता है। ज्ञान के मूलस्वरूप सत्त्वगुण का जब सम्यक् विकास होता है, तब आवरण की निवृत्ति के साथ-साथ विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। संचित कर्मों के साथ-साथ प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है और साथ ही देहपात भी हो जाता है। परंतु यदि सत्त्वगुण के एक अंश में और दूसरे अंश में विकासगत व्यवधान रहता है तो आवरण के निवृत्त होने पर भी

विक्षेप की निवृत्ति अवशिष्ट रह सकती है। ऐसी अवस्था में विक्षेप-निवृत्ति भोग के द्वारा सम्पन्न करनी पड़ती है। आवरण-निवर्त्तक ज्ञान की सहायता से विक्षेप-निवृत्ति नहीं होती। वास्तव में तो जानना चाहिये कि इस अवस्था में आवरण-निवृत्ति भी नहीं होती; क्योंकि ऐसा होने पर भोक्ताभाव भी नहीं रहता। भोक्ता का भोगायतन देह भी नहीं रहता तथा इस देह के द्वारा भोग भी सिद्ध नहीं होता। इस अवस्था में आवरण का सम्यक् अभाव होने के कारण ठीक-ठीक साक्षीभाव का उदय नहीं हो सकता। जो होता है वह आभासमात्र है—वास्तविक साक्षीभाव नहीं। कहना न होगा कि देह के होने पर अभ्यास भी सम्भव है। जब आवरण पूर्णतः दूर हो जाता है, तब अविद्या का लेश भी नहीं रहता। अतएव देह भी नहीं रहता। इसलिये भोक्ता, भोग्य और भोग कुछ भी नहीं रहते। यही कैवल्य अवस्था है—जिसे लौकिक व्यवहार में जीवन्मुक्ति कहते हैं। वह साक्षी का आभास पाकर ही सम्भव होता है।

महामाया शक्ति के उन्मेष के बिना वास्तविक साक्षीभाव कहाँ ? महामाया ही चित्-शक्ति है। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और चित्-शक्ति महामाया के ही प्रकार-भेद हैं।

जो लोग अणुरूपी जीव की सत्ता नहीं मानते, उनके लिये विभुरूपी शिव की सत्ता भी स्वीकार्य नहीं। चिद्-अणु के मानने पर माया-निवृत्ति के बाद भी ब्रह्मस्वरूप में साक्षीभाव से उसकी स्थिति सम्भव है। ऐसा न होने पर ब्रह्मस्वरूप में उसे ढूँढ़ पाने का कोई उपाय नहीं है। वस्तुतः यह चिद्-अणु चित्-शक्ति के ही ज्ञानशक्ति-रूप अंश से विशिष्ट आत्मा है। इसकी स्थिति ही साक्षीभाव है, परन्तु इस साक्षीभाव की प्राप्ति के साथ क्रियाशक्ति का विकास होते रहने पर चिद्-अणु मुक्त पुरुष के रूप में अर्थात् परमात्मा के अभिन्न अंश के रूप में हृदय में स्थित होता है। यह देहा-वस्था के रहते हुए ही होता है। विश्व को भेद करना मुक्त पुरुष का ही कार्य है। परन्तु विश्वभेद करने के लिये पुरुष को सर्वप्रथम अपना देह-भेद करना पड़ता है। वस्तुतः यह देहभेद ही विश्वभेद है। जो साक्षी नहीं, अर्थात् जो देहाभिमानी है और भोक्ता है, वह देहभेद नहीं कर सकता—वह बद्ध है। जो अभिमानहीन और चेतन हैं, जो देह-सम्बन्धविशिष्ट हैं, वे ही परमात्मा के अंशभूत द्रष्टा-रूप में देह में रहकर भी देहस्थ शून्य में अर्थात् हृदयाकाश में असङ्गरूप में अवस्थान करते हैं। क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ अन्तर्यामित्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् एक-एक करके योग में उन्नति प्राप्त करते हैं।

क्रियाशक्ति के उन्मेष के साथ-साथ उपासना का सूत्रपात होता है। क्रियाशक्ति के पूर्ण विकास में ही उपासना की समाप्ति होती है और उपासना ही योग है। योग शब्द से ज्ञात होता है कि दो वस्तुएँ सम भावापन्न हुईं। इन दो वस्तुओं में एक मुक्त पुरुष है, जिसमें क्रियाशक्ति का प्रथम उन्मेष हुआ है और दूसरी वस्तु है परम पुरुष, जिसमें क्रियाशक्ति का विकास समाप्त हो गया है, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही योग कहलाता है। जिस मात्रा में क्रियाशक्ति का विकास होता है, ठीक

उसी मात्रा में योग स्थापित होता है । योगावस्था में जीवात्मा में क्रमशः परमात्मभाव जागने लगता है । जीवात्मा जब अपने को परमात्मरूप में उपलब्ध करता है, तभी योग पूर्ण होता है– यह याद रखना चाहिये । पूर्णयोग ही परमात्मा का सायुज्य है । क्रियाशक्ति का उन्मेष होने के साथ-साथ बाहर से शक्ति लेनी पड़ती है तथा उसके फलस्वरूप बाहर का आकर्षण क्रमशः कम होता जाता है । बाहर से बाह्य जगत् का सारभूत रस क्रियाशक्ति के प्रभाव से साक्षीस्वरूप मुक्त आत्मा को प्राप्त होता है, इसके फलस्वरूप पहले ज्योतिरूप में और उसके पश्चात् ज्योति के मध्य स्थित आकृति के रूप में रचना होती रहती है । यह रूप की ही रचना है, जो ज्योति की घनीभूत अवस्था है । यह रूप जैसे-जैसे पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे चारों ओर की ज्योति को आकर्षित कर लेता है । कहना न होगा कि यह ज्योति कर्म-शक्ति का ही सार अंश है । कर्म का आकर्षण पूर्णरूप से सिद्ध होने पर बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं रह जाता । अन्तिम अवस्था में भीतर में भी ज्योति पूर्ण हो जाती है । फलतः उस समय रूप का पूर्ण विकास होता है । तब फिर वह ज्योतिर्मण्डल के बीच का रूप नहीं, बल्कि शुद्ध रूप होता है । इस अवस्था में हृदय के असंख्य द्वार रुद्ध हो जाते हैं तथा साथ-साथ ऊर्ध्वमुख एक द्वार उन्मुक्त हो जाता है । हृदय के समस्त द्वारों को बन्द कर ऊर्ध्वमार्ग से इस द्वार का छेदन करके निकलने पर मूर्त्ति आविर्भूत होती है । रूप तब तक मूर्त्तरूप में परिणत नहीं होता, जब तक वह हृदय से ऊर्ध्वमुख होकर नहीं निकलता । यही एकाग्रता का फल है ।

पहले जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ जायेगा कि भीतर और बाहर से आकर्षण और विकर्षण समान रूप में न होने पर अबाधित रूप में एकाकी नौका स्रोत में नहीं बह सकती । योग की धारा अन्तर्मुखी होती है । इसका कार्य तबतक आवश्यक है, जब तक बहिर्मुखी धारा को वशीभूत करके साम्य प्रतिष्ठित नहीं होता । साम्यभाव आने पर एक ओर जिस प्रकार बाह्य नहीं रहता, दूसरी ओर उसी प्रकार भीतर भी नहीं रहता । रूप का गठन पूर्ण हो जाने पर फिर बाहर से कर्मशक्ति का उपार्जित रस आवश्यक नहीं होता । इसी कारण तब पूर्व पथ या नाना मार्ग, जिसके द्वारा बाह्य-जगत् के साथ सम्बन्ध चलता था, वह रुद्ध हो जाता है । रूप पूर्ण होने पर ही फिर रूप नहीं रह जाता । तब रूपभेद होकर मूर्ति का आविर्भाव होता है । मूर्ति से सब गुणों का विकास होता है । परन्तु रूप में केवल एक ही गुण होता है । इसी कारण रूप एकेन्द्रिय-ग्राह्य होता है, परन्तु मूर्ति सर्वेन्द्रिय-गोचर होती है ।

रूप से मूर्तिपर्यन्त अवस्था की प्राप्ति दूसरे शब्दों में परमात्मा से भगवद्भाव तक की प्राप्ति ही है । अब मूर्ति-रहस्य के सम्बन्ध में आपाततः कुछ न कहकर रूप के विकास के सम्बन्ध में कुछ आलोचना की जाती है । गुरुभक्ति के उन्मेष के बाद निरन्तर जो धारा उठती है, उसे बिन्दु, प्राण और मन इनकी सम्मिलित धारा ही जानना चाहिये । गुरुशक्ति अभिन्न और अभिन्नता की साधक है । भेद में अभेद की प्रतिष्ठा इसी के द्वारा होती है । बिन्दु, प्राण और मन भिन्न हैं और भिन्न धारा में

प्रवाहित होते हैं, तो भी गुरुशक्ति के प्रभाव से क्रमशः इनका भेद तिरोहित हो जाता है और ये तीनों धाराएँ क्रमशः मिलकर एक अभिन्न धारा में परिणत हो जाती हैं।

बिन्दु स्वभावतः साधारण रूप में भी निरन्तर क्षरणशील होता है। इसी कारण यह अक्षर को प्राप्त नहीं हो सकता। बिन्दु क्षरित होकर खण्ड-खण्ड वर्णरूप में प्रकट होता रहता है। परन्तु ये सारे वर्ण परस्पर मिलकर एक आकार को प्राप्त नहीं होते। वर्णों के संयोग-वियोग से ही पद, वाक्य और भाषा की उत्पत्ति होती है। यदि नाना वर्ण विलीन होकर एक रूप ग्रहण कर लें तो उनसे पद-वाक्यादि कुछ भी नहीं बन सकते। तब जो कुछ रहेगा वह ऊर्ध्व-प्रवाहशील नादरूपी शब्द होगा। वर्ण-समूह से हमारे व्यावहारिक विकल्प ज्ञान का उदय होता है। अतएव नादभाव की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ही परमार्थ ज्ञान का मार्ग खुल जाता है। गुरुशक्ति के उन्मेष के पश्चात् नाद के विकास के समय यह ऊर्ध्वगति लक्षित होती है। यही यथार्थ ब्रह्मचर्य है। इस अवस्था में गुरुशक्ति अन्तःसलिला फल्गु के समान कार्य करती रहती है। यही अक्षरभाव की प्राप्ति की धारा है। बाहर के आपात प्रतीयमान क्षरण के होते हुए भी भीतर का अक्षरभाव क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो उठता है। प्राण की श्वासरूपी धारा की भी यही बात है। गुरुशक्ति की प्राप्ति के पहले श्वास निरन्तर खण्डित होता है। परन्तु गुरुशक्ति की प्राप्ति के बाद इसमें अविच्छिन्नता आ जाती है है; क्योंकि बाह्य दृष्टि से श्वास की अन्तर्गति और बाह्यगति के होते हुए भी दोनों एक ही धारा के रूप में उपलब्ध होते हैं। यह उपलब्धि क्रमशः व्यापक रूप में परिणत होती है और गति की अविच्छिन्नता सिद्ध हो जाने के बाद वक्रता भी निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार सरल गति की प्राप्ति के साथ-साथ बिन्दु और ब्रह्म का भेद मिट जाता है।

ठीक यही बात मन के संकल्प-विकल्प के विषय में भी समझनी चाहिये। साधारण मन में विकल्प के द्वारा संकल्प कट जाता है; परन्तु गुरुशक्ति की प्राप्ति के बाद सत्य संकल्प की अवस्था क्रमशः अभिव्यक्त होती है। तब आपाततः संकल्प-विकल्प के होते हुए भी वस्तुतः उस संकल्प-विकल्प के भीतर भी अविच्छिन्न संकल्प का भाव ही जाग्रत् रहता है। इस प्रकार रूप का विकास अविच्छिन्न धारा के द्वारा ही होता रहता है तथा रूप की क्रम-परिणत अवस्था ही मूर्ति है।

इस विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे अद्वयतत्त्व के प्रकार-भेद के सम्बन्ध में कुछ धारणा उत्पन्न हो सकती है। श्रीमद्भागवत में अत्यन्त संक्षेप में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के सम्बन्ध में जो निर्देश किया गया है, उसका अवलम्बन करके आचार्यगण अपनी-अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का विश्लेषण करते हुए अनेक प्रकार की आलोचना कर गये हैं। श्रीरूप गोस्वामी ने 'लघु-भागवतामृत' प्रभृति ग्रन्थों में, जीव गोस्वामी ने 'षट्सन्दर्भ' में, सनातन गोस्वामी ने 'बृहद्-भागवतामृत' में, कविवर कृष्णदास ने 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में तथा विभिन्न आचार्यों ने भागवत की टीका प्रभृति में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इस विषय में बहुत आलोचना की है। 'लघुब्रह्म-संहिता' में भी इसका किंचित् आभास मिलता है। महाप्रभु के समकालीन

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक श्रीमान् वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्म और भगवान् के सम्बन्ध में तदनुरूप ही आलोचना की है। कबीर प्रभृति सन्तों में भी कुछ अंशों में इस प्रकार का मत प्रचलित था; क्योंकि उनके मत से जीव कैवल्य-देह की प्राप्ति के बाद जब तक हंस-देह प्राप्त नहीं करता, अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। परमपुरुष तत्त्वातीत हैं। वे चिदात्मक ब्रह्मभूत कैवल्यस्वरूप के भी परे हैं।

इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार करने के लिये यहाँ स्थान नहीं है। मैंने गुरु-परम्परा के क्रम से प्राप्त इस जटिल रहस्य को अपनी निजी अनुभूति के आलोक में जिस प्रकार समाधान किया है, उसका ही आभासमात्र यहाँ देने की चेष्टा की गयी है। आशा करता हूँ कि देहतत्त्व-भेद के विषय में अभिज्ञ पाठक इस आभास से अपने आधार के अनुसार पूर्ण सत्य की धारणा करने में समर्थ होंगे।

●

शून्यवाद और विज्ञानवाद

शून्यवाद और विज्ञानवाद माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायों के सिद्धान्त हैं। अद्वैतवाद इन दोनों वादों का प्राणभूत है। शून्यवाद प्राचीन मत है। नागार्जुन तथा उनके अनुगामी आर्यदेव आदि आचार्यों ने प्रज्ञापारमिता आदि शास्त्रों के आधार पर उसका प्रचार किया था। इन लोगों का कथन है कि सद्, असद् आदि चार कोटियों से शून्य, निर्विकल्पक, निष्प्रपञ्च, आकाश के समान निर्लेप और असंग सत्य ही शून्यपदवाच्य है। वह अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित है। वही पारमार्थिक सत्य है और बुद्धि का अगोचर है। सत्य का एक दूसरा भी स्वरूप है, वह बुद्धि अथवा संवृति के नाम से परिचित है। बुद्धिमात्र ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अविद्या संवृति का ही नामान्तर है। अतएव यह निश्चित है कि बुद्धि में ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं है जिससे वह पारमार्थिक सत्य का यथार्थरूप में ग्रहण कर सके। यथार्थ बात तो यह है कि पारमार्थिक पदार्थ सांवृतिक ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकता। जो पदार्थ सांवृतिक ज्ञान का विषय होता है वह परमार्थ से विलक्षण है। अविद्या या संवृति का कहीं-कहीं मोह अथवा विपर्यासरूप से भी वर्णन मिलता है। आर्यशालिस्तम्बसूत्र में यह तत्त्व से अप्रतिपत्ति, मिथ्याप्रतिपत्ति तथा अज्ञान शब्द से कही गयी है। माध्यमिक लोग इस अविद्या के दो कार्य मानते हैं—(१) स्वभावदर्शन का आवरण, (२) असत्पदार्थस्वरूप का आरोपण।

> अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
> अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत्॥

यही अविद्या का वर्णन है। संवृति दो प्रकार की है—(१) तथ्यसंवृति—प्रतीत्यसमुत्पन्न घट, पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जिस समय अदुष्ट इन्द्रियों से उपलब्ध होता है, उस समय लौकिक दृष्टि से वह सत्य माना जाता है। यही तथ्यसंवृति है। (२) मिथ्यासंवृति—मायामरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत्यजात होने पर भी जब दुष्ट इन्द्रियों से उपलब्ध होते हैं तब लौकिक दृष्टि से भी मिथ्या कहे जाते हैं, इसी का नाम मिथ्यासंवृति है। संवृतिसत्य का स्वरूप लौकिक दृष्टि से अवितथ अर्थात् सत्य ही है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह सत्य नहीं है। इसीलिये यद्यपि वह किसी प्रकार सत्य कहा गया है तथापि परमार्थ सत्य तथा तत्त्व में उसका परिगणन नहीं होता। पारमार्थिक सत्य आर्यगण तथा योगियों के लिये विसंवादशून्य सत्य है। इन दोनों सत्यों के आधार पर ही बुद्ध लोग जीवों को धर्मोपदेश देते हैं। बाह्य अथवा आध्यात्मिक सभी पदार्थों के दो स्वभाव हैं—(१) सांवृतिक और (२) पारमार्थिक। इनमें से एक की सत्ता पृथग्जनों के मिथ्यादर्शन के विषयरूप में प्रकाशित होती है। ये सब पृथग्जन अभूतार्थदर्शी हैं, क्योंकि उन लोगों का बुद्धिनेत्र अविद्यारूपी अन्धकार से

आच्छन्न रहता है। दूसरे की सत्ता तत्त्ववित् आर्यों के सम्यग्दर्शन के विषयरूप में आविर्भूत होती है। इन लोगों का सम्यग्ज्ञानरूप नेत्र अविद्यापटल के प्रविचय (विवेक-ज्ञान) रूप अञ्जनशलाका से छिन्न होने के कारण उन्मीलित रहता है।

दुःख, समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःखनिवृत्ति) और मार्ग (दुःख-निवृत्ति का उपाय)—ये चार आर्य सत्य भी वास्तव में दो ही हैं; क्योंकि दुःख, समुदय और मार्ग, ये तीन संवृतिस्वभाव होने के कारण संवृतिसत्य के अन्तर्भूत हैं। एकमात्र निरोध ही परमार्थ सत्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये दो सत्य भी वास्तविक नहीं हैं, क्योंकि संवृति लौकिक प्रतीति के अनुरोध से ही सत्य कही गयी है, वस्तुतः परमार्थ ही एकमात्र सत्य है—

"वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्, अतो न काचित् क्षतिः; यथोक्तं भगवता—एकमेव भिक्षवः, परमं सत्यं यदुताप्रमोषधर्मनिर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषामोष-धर्माणः।"

अतएव सिद्ध होता है कि माध्यमिक-मत में वस्तुतः अद्वय ही तत्त्व है। वह यद्यपि अवाच्य है तथापि दृष्टान्त-द्वारा उसका वर्णन किया जाता है—

"अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥"

(मध्यमकवृत्ति, पूँसे संस्करण, पृ० २६४)

व्यवहार के आधार पर परमार्थ का उपदेश किया जाता है। परमार्थ की उपलब्धि होने पर निर्वाणप्राप्ति होती है। परमार्थ सत्य आर्यों के लिये संविदित-स्वभाव है, इसीलिये वह प्रत्यात्मबोध कहा जाता है। एकमात्र योगी ही उसके ज्ञाता हैं। परन्तु सांवृतिक सत्य के ज्ञाता प्राकृत जन हैं। सर्वधर्मानुपलम्भरूप समाधि ही 'योग' पद से कही जाती है। उक्त समाधि से सम्पन्न पुरुष ही माध्यमिक शास्त्र में योगी कहा गया है। प्राकृत जनों का अनुभव योगियों के अनुभव से बाधित होता है। निर्मल होने के कारण योगी का ज्ञानचक्षु अनास्रव ज्ञानमय है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि शुद्ध होने के कारण योगी का ज्ञान प्राकृत जनों के ज्ञान को बाधित कर देता है, तथापि योगियों में भी परस्पर तारतम्य है। इसमें हेतु यह है कि सब योगियों में प्रज्ञा अथवा समाधिसम्पत्ति का प्रकर्ष समानरूप से नहीं रहता। जिनके ज्ञाननेत्र से जितना अधिक आवरण उन्मुक्त हुआ रहता है, उनमें उतना ही अधिक उत्कर्ष होता है, जैसे प्रमुदिता भूमि के (प्रथम भूमिका के) ज्ञान आदि से विमला भूमि के ज्ञान आदि अधिक उत्कृष्ट हैं। यही बात ध्यान में भी समझनी चाहिये।

यह अद्वय परमार्थसत्य ही शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में तथागत-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। जितने स्वहित और परहित हैं उन सबका यही एकमात्र आधार है, क्योंकि जब तक इसका अवलम्ब नहीं मिलता तब तक न अपना कल्याणलाभ होता है और न दूसरे के कल्याण-साधन में सामर्थ्य ही होती है। अविद्या से अस्पृष्ट होने के कारण वह सब प्रकार के मलों से उन्मुक्त है। एक ओर क्लेशरूप आवरण से और

दूसरी ओर ज्ञेयरूप आवरण से वह मुक्त है। पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य—इन दो प्रकार के नैरात्म्यों की प्राप्ति ही उसका स्वभाव है।

सम्यक् संबोधि के बिना इस अद्वयतत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधि को प्राप्त करने के लिये प्रज्ञा की आवश्यकता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि शुष्क प्रज्ञा से कोई लाभ नहीं हो सकता। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार से ही प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से पुण्यसंभार का उदय होता है। वीर्य और समाधि के अभ्यास के प्रभाव से ज्ञानसंभार उत्पन्न होता है। इन दोनों से विशुद्ध प्रज्ञा का उन्मेष होता है। धीरे-धीरे प्रज्ञा की निर्मलता का सम्पादन करना पड़ता है। प्राथमिक प्रज्ञा हेतु अथवा साधनस्वरूप है, उससे फल-स्वरूप यथार्थ प्रज्ञा का विकास होता है। साधनप्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था में साधक अधिमुक्तचरित कहा जाता है। इसके बाद अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ प्रज्ञा बोधिसत्त्व भूमि में प्रविष्ट होकर क्रमशः निम्नवर्ती भूमियों का परिहार करती हुई ऊर्ध्व भूमि को प्राप्त कर प्रकृष्टता लाभ करती है। पर्यवसान में अर्थात् अन्तिम भूमि में राग आदि पञ्च-क्लेशरूप क्लेशावरण तथा पञ्चविध ज्ञेयावरण के छूट जाने पर बोधिसत्त्वभूमि अतिक्रान्त हो जाती है। इसी के साथ ही द्वैतभाव की समाप्ति होती है; एवं फलभूत बुद्धत्वरूप अद्वैत प्रज्ञा आविर्भूत होती है। बोधिसत्त्वभूमियाँ दस मानी जाती हैं[1]।

---

१. बोधिसत्त्वभूमियाँ कुल कितनी हैं, इस विषय में सन्देह है। महायान साहित्य में प्रायः दस भूमियाँ मानी गयी हैं। दशभूमिकसूत्र में इसका विशेष विवरण मिल सकता है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा – इन दस भूमियों के बाद तथागत-भाव का—बुद्धत्व का – विकास होता है। पहली भूमि में विशेषरूप से दानपारमिता, दूसरी भूमि में शीलपारमिता, और तीसरी भूमि में क्षान्तिपारमिता का अभ्यास करना पड़ता है। इस तीसरी भूमि में ही चार रूप-ध्यानों, चार आरूप्य-समापत्तियों, चार ब्रह्म-विहारों और पाँच अभिज्ञाओं का लाभ होता है; कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव छूट जाते हैं। चौथी भूमि में ३७ बोधिपक्ष-धर्मों का और वीर्यपारमिता का अभ्यास करना पड़ता है। पाँचवी तथा छठी भूमि में ध्यान तथा प्रज्ञापारमिता का अभ्यास आवश्यक है। छठी भूमि में ही योगी प्रतीत्यसमुत्पाद का—कार्य-कारण-भाव का—स्वरूप समझ सकते हैं। उस अवस्था में संसार तथा निर्वाण, दोनों ओर चित्त का आभिमुख्य रहता है। सप्तमी भूमि में योगी को ज्ञात होता है कि सब बुद्ध ही धर्मधातु की दृष्टि से एक अद्वैत और अखण्ड तत्त्व हैं। बुद्ध के अनन्त गुण उनमें प्रकट होने लगते हैं। असंख्य स्थानों में उन्हें अपने असंख्य शरीर दीखने लगते हैं। इस भूमि में दस पारमिताओं का अभ्यास प्रत्येक क्षण में होता है। यहीं पर शीलाभ्यास की समाप्ति होकर मुक्ति प्राप्त होती है। बोधिसत्त्व उस समय इच्छा करने पर निर्वाण में प्रविष्ट हो सकते हैं; किन्तु समस्त जगत् का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है, अतएव वे निर्वाण का ग्रहण नहीं करते, अपितु अनन्त बुद्धज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं।

बुद्धत्व ही प्रज्ञा का आत्यन्तिक उत्कर्ष है। आध्यात्मिक लोग इस प्रज्ञा को सर्वाकारोपेत, सर्वधर्मशून्यताधिगमस्वभाव और निर्विकल्पक कहते हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने पर स्वदुःख और परदुःख सदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं। समस्त धर्म स्वभावहीन हैं, यही शून्यता है। बुद्ध की अवस्था को प्राप्त हुए बिना इसकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती।

शून्यवाद के अनन्तर विज्ञानवाद ने विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थान में स्थान प्राप्त किया। परन्तु विज्ञानवाद का सिद्धान्त लङ्कावतारसूत्र, सन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में पहले ही किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था। साधारणतः मैत्रेयनाथ और आचार्य असंग विज्ञानवाद के विशिष्ट प्रचारक माने जाते हैं। उत्तर काल में असंग के भ्राता वसुबन्धु भी वैभाषिक सिद्धान्त का परिहार कर योगाचारमत का ग्रहण करते हुए विज्ञानवाद के प्रचार में तत्पर हुए थे।

लङ्कावतार में भी परमार्थ तथा संवृति का भेद दिखाया गया है; परन्तु नागार्जुन के माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस विषय पर जितना सूक्ष्म विचार है, लङ्कावतार में उतना सूक्ष्म विचार नहीं मिलता। संवृतिसत्य परिकल्पित तथा परतन्त्र सत्य स्वभाव के साथ संपृक्त है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बाद परिनिष्पन्न ज्ञान होता है, जिससे परमार्थ सत्य का सम्बन्ध माना जाता है। परमार्थ का नामान्तर भूतकोटि है—संवृति उसी का प्रतिबिम्बमात्र है। लङ्कावतारमत में बुद्धि दो प्रकार की मानी गयी है—(१) प्रविचय बुद्धि और (२) प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से पदार्थों के तत्त्व का ग्रहण होता है। सभी पदार्थ सत्, असत् आदि चारों कोटियों से मुक्त हैं। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेदप्रपञ्च आभासित होता है और सत् रूप से प्रतीत होता

उस समय चारों प्रकार के विपर्यास उनसे निवृत्त हो जाते हैं। उस समय उपायकौशल्य पारमिता का अभ्यास होता है। आठवीं भूमि में अनुपपत्तिक धर्म क्षान्ति की प्राप्ति होती है, जिसके प्रभाव से किसी प्रकार का कर्म उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। इस अवस्था में चारों तरफ के बुद्ध आकर उन्हें अनन्त ज्ञान में दीक्षित करते हैं। उस दीक्षा के बल से ही वे परोपकार करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, अन्यथा निर्वाण से बचना उनके लिये असम्भव हो जाता है। इस भूमि में सब प्रकार के वशित्व का लाभ होता है और प्रणिधान-पारमिता का अभ्यास चलता है। नवीं भूमि में योगी और भी आगे बढ़ जाते हैं। उस समय योगी चार प्रतिसंविदों को प्राप्त कर बहुत समाधियों को अपने आयत्त कर लेते हैं। धारणा से उनकी आत्मरक्षा होती है और बहुपारमिता का अभ्यास चलता है। इसके बात दसवीं अथवा अन्तिम भूमि में उनकी अभिषेक-क्रिया निष्पन्न होती है। उस समय दिव्य उज्ज्वल देह उन्हें प्राप्त होता है, रत्नमण्डित दिव्य कमल के ऊपर उनका आसन होता है और उनके विशुद्ध ज्योतिर्मय देह से रश्मियाँ विकीर्ण होने लगती हैं, जिनके प्रभाव से जीवों की दुःखनिवृत्ति होती है। असंख्य निर्माण-कायों के द्वारा वे उपदेश देते हैं और ज्ञानपारमिता का अभ्यास चलता है। दस भूमियों के अतिक्रान्त होने पर वे दशभूमीश्वर कहलाते हैं। यह बुद्धत्व-लाभ है—इसी का दूसरा नाम पूर्णता है।

है। यह आपेक्षिक है। यह प्रतिष्ठापन-व्यापार (समारोप) कहा जाता है। लक्षण, इष्ट, हेतु और भाव, इन चारों का आरोप होता है, जिसके प्रभाव से विवाद और विरोध का सूत्रपात होता है। इसीलिये दोनों पक्षों से बाहर रहने—द्वन्द्वातीत होने के लिये योगी को चाहिये कि प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण कर ऊपर उठ जाय। परतन्त्र स्वभाव की क्रिया बाह्य सत्यसापेक्ष है। किन्तु परिकल्पित केवल अमूलक कल्पनामात्र है। परतन्त्र उतना दूषणीय नहीं है, परन्तु परिकल्पित के सम्बन्ध से दोष का आविर्भाव होता है। इन दोनों का स्वभाव एक दूसरे के अधीन है। परतन्त्रलक्षण स्वयंभूत नहीं है, किन्तु हेतुप्रत्ययजन्य है। परिकल्पितलक्षण में ग्राह्य-ग्राहकभाव का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान के स्वरूप में वस्तुतः न ग्राह्यत्व है और न ग्राहकत्व है। ग्राह्यभाव और ग्राहकभाव दोनों ही परिकल्पित हैं। जिस समय ग्राह्य अथवा ग्राहकभाव निवृत्त हो जाता है, उस समय की अवस्था परिनिष्पन्न-लक्षण कही जाती है। परतन्त्र की सर्वदा परिकल्पितस्वभावहीनता ही परिनिष्पन्नता है। इस प्रकार विविध सत्ता का विवरण विशेष रूप से हृदयंगम होना चाहिये, नहीं तो लङ्कावतार के तात्पर्य का ग्रहण करना कठिन हो जायगा। त्रैधातुक अर्थात् काम, रूप तथा अरूप जगत् में विद्यमान चित्त और चैत्त ही अभूतपरिकल्प्य हैं। पहले जो परिनिष्पन्न, परतन्त्र तथा परिकल्पित, इन तीन प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया गया है, वह सब इसी का समझना चाहिये।

लङ्कावतार के मत से सम्पूर्ण भाव निःस्वभाव हैं। समग्र प्रपञ्च मेघ, अलातचक्र अथवा गन्धर्वनगर के सदृश है। कहीं-कहीं यह अनुपम मायामरीचिका अथवा स्वप्नरूप में भी वर्णित हुआ है। बाह्य वस्तु अनादिकाल से ही भ्रान्तिजन्य मनोविजृम्भणमात्र है। लङ्कावतार का मत है कि इस दृष्टि से बाह्य सत्ता को देखने से विकल्प का बन्धन टूट जाता है। तब समझ में आता है कि देह, मोक्ष और प्रतिष्ठा, अर्थात् समग्र जगत् आलयविज्ञान अथवा चित्त का परिणाममात्र है। उस समय दृष्ट और दृश्य के ज्ञान की निवृत्ति होने पर निराभास अवस्था का, जिसमें द्वैतभाव का लेश तक नहीं रहता, स्फुरण होता है। तन्मयता के साथ-साथ चित्त अभेद को प्राप्त हो जाता है। जन्म, स्थिति और नाश, सब अपने चित्त के ही भाव हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये उस समय नाम आदि का ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्था के उदय से संसार तथा निर्वाण में भी साम्यदृष्टि हो जाती है।

महाकरुणा, उपाय तथा अनाभोगचर्या—जिस प्रकार सूर्य सब वस्तुओं के ऊपर समानरूप से अपनी किरणों को फेंकते हैं, किसी के साथ पक्षपात नहीं करते; ठीक उसी प्रकार इसके द्वारा बोधिसत्त्व सब कुछ देखते हैं और जानते हैं कि यह विश्व-प्रपञ्च मायिक है, छाया के सदृश अलीक है; क्योंकि यह कारण के बिना उद्भूत है (अकारण-क्लृप्त है)। वे जानते हैं कि चित्त के बाहर जगत् की सत्ता नहीं है। इसके अनन्तर क्रमशः उच्चतर भूमि में आरूढ़ होकर इस प्रकार की समाधि की प्राप्ति करते हैं, जिससे अपरोक्षतया अनुभूत होता है कि तीनों धातु ही, अर्थात् समग्र जगत् ही चित्तमात्र है। इस समाधि का नाम मायोपम समाधि है। इसके

अनन्तर वज्रबिम्बोपम समाधि का आविर्भाव होता है, जिसके बल से चित्त के सब आकार निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् चित्त निराकार हो जाता है, ज्ञान पूर्ण हो जाता है और सब वस्तुओं में अजातत्व स्पष्टतया अनुभूत होने लगता है। बुद्धकाय-प्राप्ति का यही समय है। यह भूततथता में अवस्थिति है। इस अवस्था में योगी दस बल, छः अभिज्ञाओं और दस वशित्वों को अपने आयत्त करते हैं और एक साथ असंख्य-रूप में प्रकट होते हैं। वे उपाय के बल से सब बुद्धक्षेत्रों का दर्शन करते हैं, और दार्शनिक मतवाद, चित्त के मल और विज्ञान से मुक्त होकर अपने भीतर 'परावृत्ति' का अनुभव करते हैं। इसके अनन्तर धीरे-धीरे तथागत-काय में, अर्थात् बुद्धकाय में, विशुद्धरूप से वे अवस्थित होते हैं। बुद्धकाय में अवस्थान होने के लिये स्कन्ध, धातु, आयतन, कारण, कार्य, नीति, जन्म, स्थिति तथा विनाश—इन सबसे दूर रहते हुए चित्तमात्र से प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। संसार अनादिकाल से सञ्चित वासनाओं के प्रभाव से चित्तमात्र से ही विकल्पवश उद्भूत हुआ है। परन्तु बुद्धत्व निराभास, अजात तथा स्वसंवेद्य है। चित्त के पूर्ण संयम और अनाभोग-चर्या के द्वारा बुद्धभाव का अधिगम होता है। लङ्कावतार में वर्णित पाँच धर्मों में तथता ही श्रेष्ठ है। मन जिस समय नाम (संकेतमात्र) और निमित्त (इन्द्रियग्राह्य विषयों का गुण, जैसे रूप)-स्वरूप दो धर्मों के द्वारा स्पृष्ट न होने के कारण शान्त रहता है, उस समय इस अवस्था का उदय होता है। सम्यक्-ज्ञान-रूप धर्म-द्वारा नाम और निमित्तमय जगत् का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यह सब सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है; यह सब समारोप और अपवाद से परे है, अर्थात् इसके विषय में न कुछ विधान ही किया जाता है और न कुछ निषेध ही किया जा सकता है। विकल्प-रूप धर्म भी उस समय नहीं रहता, इसीलिये वस्तु और गुण का परस्पर भेद-ग्रहण भी नहीं रहता।

निर्वाण के विषय में इस ग्रन्थ का कथन है कि यह यथाभूतार्थ-स्थानदर्शन से ही प्राप्त होता है। यह सब प्रकार के विकल्पों से अतीत है।

आलयविज्ञान में अनादिकाल से असंख्य वासनाएँ विद्यमान रहती हैं। ये वासनाएँ जब तक अविद्या, मिथ्यादृष्टि, अभिनिवेश आदि से रञ्जित रहती हैं तब तक सत्य का अर्थात् तथता का स्वरूप-दर्शन ठीक-ठीक नहीं होता। इसीलिये निर्वाण भी नहीं हो सकता। इसी से उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि, भवदृष्टि और अभवदृष्टि—इन सब विकल्पों का परिहार करके आलय का संशोधन करना चाहिये। यही आश्रय-परावृत्ति है। महायानमत में वस्तुतः संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है, इसलिये वे जागतिक सत्ता का आत्यन्तिक विनाश नहीं मानते। जिस मार्ग अथवा योग से संसार से निर्वाण-प्राप्ति होती है, उसके प्रभाव से उस सत्ता का ध्वंस नहीं होता, केवल आश्रय की परावृत्ति-मात्र होती है, अर्थात् वह सत्ता बुद्धकाय-घटक उपादान में परिणत हो जाती है[1]। उस समय सभी पदार्थ शून्य अर्थात् स्वभाव-रहित

१. महायानसंग्रह में आश्रयपरावृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—धातु अथवा सत्ता का जिस अंश में आवरण-संस्कार और संक्लेश विद्यमान है, यदि उस अंश का हेतु-फल-

प्रतीत होते हैं। यही नित्य अपरोक्ष-दर्शन का स्वरूप है। आश्रय-परावृत्ति की सिद्धि होने पर ज्ञात होता है कि निर्वाण निर्धर्मक तथा निर्विशेष है। इसमें न लाभ है, न हानि है; न त्याग है, न ग्रहण है; न एकत्व है और न नानात्व ही है[1]।

ऊपर संक्षेप से लङ्कावतारसूत्र के दार्शनिक सिद्धान्त के विषय में कुछ आलोचना की गयी है। सन्धिनिर्मोचनसूत्र में भी योगाचार-मत ही आलोचित हुआ है। इसके बाद बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु आदि दार्शनिकों ने योगाचार-सिद्धान्त का विशेषरूप से परिष्कार कर विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण किया। मैत्रेयनाथ के पाँच ग्रन्थ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, जिनमें मध्यान्तविभागसूत्र अन्यतम है। महायानसूत्रालङ्कार का कारिकांश भी मैत्रेयनाथ द्वारा रचित है, यह Pandit H. Ui ने अच्छी तरह से प्रमाणित किया है। साधारणतया यह ग्रन्थ असंगकृत माना जाता था। योगाचार (अथवा योगाचार्य)-भूमिशास्त्र भी मैत्रेयनाथ-रचित ही है। सुप्रसिद्ध बोधिसत्त्वभूमि नामक ग्रन्थ इसी का एक भाग है। असंग का महायानसंग्रह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के लोकोत्तर प्रभाव से प्रभावित होकर जिस समय सर्वास्ति-सम्प्रदाय से सम्बन्धविच्छेद किया था उस समय उनके आदेश से वे योगचार-सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों के निर्माण में प्रवृत्त हुए थे। विंशिका तथा त्रिंशिका नामक विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की दो पुस्तकें, मध्यान्तविभागसूत्र का भाष्य, और महायानसूत्रालङ्कारवृत्ति—ये सब ग्रन्थ वसुबन्धु के हैं। स्थिरमति ने वसुबन्धुरचित त्रिंशिका और महायान-सूत्रालङ्कार-वृत्ति के ऊपर भाष्य बनाया था और मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य के ऊपर टीका भी लिखी थी।

विज्ञानवादी योगी के मत से क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति से ही परमार्थ-लाभ हो सकता है। जब तक ये दो प्रकार के आवरण रहते हैं तब तक किसी भी उपाय से मोक्ष तथा सर्वज्ञत्वलाभ नहीं हो सकता। क्लेश मोक्ष का अन्तराय है। क्लेशनिवृत्ति सिद्ध होने पर ही मोक्षलाभ होता है। परन्तु सर्वज्ञत्व तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जबतक द्वितीय आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण पूर्णरूप से न कट जाय। अक्लिष्ट और क्लिष्ट भेद से अज्ञान दो प्रकार का है। क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति क्लेश के साथ-ही-साथ हो जाती है। परन्तु क्लेशों का उपशम होने पर भी, अर्थात् मुक्तावस्था में भी, अक्लिष्ट अज्ञान रह ही जाता है। जब उसका भी निरोध हो जाता है, तभी सर्वा-

---

भाव निवृत्त हो जाय, यदि धर्म से आरोपित-भाव निवृत्त हो जाय, तब सब प्रकार के आवरणों से मुक्ति होती है और सब धर्मों के ऊपर अपना प्रभाव या स्वामित्व (वश-वर्तित्व) अधिगत होता है, और उसी के प्रभाव से धर्म का दूसरा स्वभाव (जिससे शुद्धि अथवा 'व्यवदान' होता है) अभिव्यक्त होता है। 'परावृत्ति' का विशेष विवरण असङ्गकृत महायानसूत्रालंकार में देखना चाहिये।

१. हीनयानियों का निर्वाण संसार से विलक्षण है, किन्तु लङ्कावतार के मत में संसार और निर्वाण में वस्तुतः कोई भेद नहीं है।

कारक आसक्तिहीन तथा अप्रतिहत ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। सर्वज्ञत्व लाभ करने के लिये यह प्राथमिक अवस्था है।

आत्मदृष्टि से राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। जब साधक को पुद्गल-नैरात्म्य-ज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, तब सत्काय-दृष्टि अथवा देहात्म-बोध की निवृत्ति होकर तन्मूलक सब क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसके अनन्तर धर्मनैरात्म्य-ज्ञान से द्वितीय प्रकार का आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण, कट जाता है। इससे सर्वज्ञत्वभाव अधिगत हो जाता है।

आत्मा, जीव, जन्तु, मनुष्य—ये सब आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये सब धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकार के उपचार ही वस्तुतः विज्ञान के परिणाम हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है, अर्थात् विज्ञान के परिणाम से अतिरिक्त आत्मा या धर्म नहीं माना जा सकता। अन्यथाभाव का नाम ही परिणाम है। आत्मादि विकल्पवासनाओं की पुष्टि होने से आलयविज्ञान से आत्मादि का निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रूपादिविकल्पवासना की पुष्टि से आलयविज्ञान से ही रूपादिनिर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इस रूपादि-निर्भास को अथवा आत्मादिनिर्भास को विज्ञानबहिर्भूत के सदृश मानकर रूपादि उपचार—व्यपदेश—अनादिकाल से ही प्रवृत्त है। रूपादि या आत्मादि के न रहने पर भी तादृश उपचार अनादि काल से ही है। वस्तुतः जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसका उपचार होता है। विशेषरूप से यदि विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा तथा धर्म न विज्ञान के स्वरूप में हैं, न विज्ञान के बाहर हैं—ये दोनों ही परिकल्पित हैं। इसीलिये ये पारमार्थिक या सत्य नहीं हैं।

कोई-कोई लोग समझते हैं विज्ञान तथा विज्ञेय दोनों ही सत्य हैं। परन्तु यह एकान्तवाद ठीक नहीं है, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि आत्मा तथा धर्म परि-परिकल्पित होने के कारण विज्ञान के स्वरूप में अथवा बाहर हैं ही नहीं, इसी कारण से विज्ञेय अर्थात् आत्मा या धर्म सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपचार निराधार नहीं होता, इसीलिये मानना पड़ता है कि वह वस्तुतः विज्ञान का परिणाम है, जिसमें आत्मा तथा धर्म का उपचार हो सकता है।

कोई-कोई लोग यह भी कहते हैं कि जैसे विज्ञेय सांवृतिक अथवा मिथ्या है, तद्वत् विज्ञान भी मिथ्या है। परन्तु यह मत ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि उपादान संवृतिरूप मानने के योग्य नहीं है। इसीलिये विज्ञानवादी आचार्यों का सिद्धान्त है—

सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वात् वस्तुतो न विद्यते, विज्ञानं पुनः प्रतीत्य-समुत्पन्नत्वात् द्रव्यवतः अस्ति इत्यभ्युपेयम्।

'परिणाम' शब्द से मालूम पड़ता है कि विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न है। बाह्य अर्थ के व्यतिरेक से भी विज्ञान स्वयं ही अर्थ के रूप में परिणत होता है। बाह्यार्थ विज्ञान के आलम्बन-प्रत्ययरूप में माना जाता है, इसमें संशय नहीं है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान बाह्यार्थ से उत्पन्न होता है। सिद्धान्त यह है कि बाह्यार्थ स्वभास ज्ञान का जनक है, क्योंकि कारणता आलम्बन प्रत्यय के अनुरूप

समनन्तर आदि सभी प्रकार के प्रत्ययों में समरूप से ही वर्तमान है। विज्ञान का परिणाम विपाक, मनन तथा विषयविज्ञप्तिरूप से तीन प्रकार का है। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक से आक्षेपानुरूप फलाभिनिवृत्ति विपाक नाम का परिणाम है। इसी का नामान्तर आलयविज्ञान है। जितने प्रकार के क्लिष्ट धर्म हैं सब इसी बीज से उत्पन्न होते हैं। कारणरूप में सभी धर्मों में इसकी उपलब्धि होती है। इस आलयविज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—(१) आध्यात्मिक अथवा आभ्यन्तरीय और (२) बाह्य। प्रवृत्तिविज्ञान तथा आलयविज्ञान में कुछ भेद है। प्रवृत्तिविज्ञान का आलम्बन तथा आकार परिच्छिन्न है। परन्तु आलयविज्ञान का आकार जैसे अपरिच्छिन्न है उसी प्रकार इसका आलम्बन भी अपरिच्छिन्न है। विज्ञान-परिणाम का द्वितीय भेद मनन अथवा क्लिष्ट मन है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है, इसीलिये इसको 'मनन' कहते हैं। जैसे चक्षुरादि विज्ञान के आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियाँ और उसके आलम्बन रूप आदि विषय हैं, उसी प्रकार क्लिष्ट मन का भी आश्रय आलयविज्ञान है; क्योंकि आलयविज्ञान अथवा विपाक जिस धातु में या भूमि में रहता है, उसी धातु या भूमि में क्लिष्ट मन भी रहता है। क्लिष्ट मन की वृत्ति आलयविज्ञान से नियत सम्बद्ध है, अर्थात् आलय में आश्रित होकर ही क्लिष्ट मन अपना कार्य करता है। क्लिष्ट मन का आलम्बन आलय-विज्ञान ही है। सत्कायदृष्टि, देहाध्यास प्रभृति के सम्बन्ध से 'अहम्', 'मम' इत्यादि आकार में आलयविज्ञानरूपी आलम्बन से क्लिष्ट मन काम करता है। जिस आलय या चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है उसी चित्त को उस मनोविज्ञान के लिये आलम्बन मानना चाहिये। मननाख्य विज्ञान का ही नामान्तर मन है। यह जैसे आलय से पृथक् है, वैसे ही प्रवृत्तिविज्ञान से भी पृथक् है। मनन इसका स्वभाव है। यह विज्ञानात्मक हैं, इसीलिये सब प्रकार के चित्तधर्मों से इसका सम्प्रयोग होता है। चित्तधर्म दो प्रकार के हैं—(१) क्लेश, (२) क्लेशभिन्न। छः प्रकार के क्लेशों में से चार प्रकार के क्लेशों के साथ मन का सम्बन्ध रहता है—(क) अविद्या अथवा आत्ममोह, यह आत्मविषयक अज्ञान का नामान्तर है; (ख) आत्मदृष्टि, यह उपादान स्कन्ध में आत्म-दर्शन का नामान्तर है, सत्काय-दृष्टि भी इसी को कहते हैं; (ग) अस्मिमान अथवा आत्ममान—आत्मदृष्टि से चित्त की जो उन्नति होती है वह अस्मिमान कहलाती है; (घ) तृष्णा अथवा आत्मस्नेह—पूर्वोक्त तीन क्लेशों के रहने से आत्माभिमत वस्तु में जो अभिष्वङ्ग उत्पन्न होता है, उसे तृष्णा कहते हैं। आलयविज्ञान के स्वरूप में सम्मोह होकर उसमें आत्मदृष्टि-लाभ होता है। आत्मदृष्टि से चित्त में अस्मिमान का उदय होता है। क्लेश अकुशल और निवृताव्याकृतरूप से दो प्रकार का है।

विज्ञानपरिणाम का तृतीय भेद विषयविज्ञप्ति है। चक्षुर्विज्ञानादि छः प्रकार के विज्ञान का अथवा विषय-प्रत्यवभास का ही नाम विषयविज्ञप्ति है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म— यह छः प्रकार की विषयोपलब्धि बौद्धग्रन्थों में तृतीय प्रकार का विज्ञानपरिणाम मानी जाती है। यह उपलब्धि कुशल हो सकती है, अकुशल हो सकती है, अथवा उभयभाव से भिन्न अव्याकृत भी हो सकती है। अलोभ, अद्वेष

और अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है; तथा लोभ, द्वेष और मोहयुक्त उपलब्धि अकुशल है। इस तृतीय प्रकार के विज्ञानपरिणाम अर्थात् विषयविज्ञान में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—(१) सर्वत्रग धर्म—जैसे स्पर्श, मनस्कार, वित्, संज्ञा और चेतना। ये पाँच प्रकार के धर्म आलय में, क्लिष्ट मन में तथा प्रवृत्तिविज्ञान में, सर्वत्र ही रहते हैं; (२) विनियत धर्म– ये धर्मविशेष विषय में नियत हैं, सर्वत्र नहीं रहते—जैसे कि छन्द (अभिप्रेत वस्तु के प्रति अभिलाषा), अधिमोक्ष (निश्चित वस्तु में अवधारण), स्मृति (संस्तुत वस्तु में चित्त का असंप्रमोष अथवा अभिलपनता), समाधि (उपपरीक्षणीय वस्तु में चित्त की एकाग्रता), धी अर्थात् प्रज्ञा[1]।

इस प्रज्ञा या ज्ञान को 'विवेक' कहते हैं। इसका विषय स्वलक्षण भी हो सकता है और सामान्य-लक्षण भी हो सकता है। बौद्धदर्शन में इसका नामान्तर धर्मविचय है। यह सम्यक्, मिथ्या अथवा सङ्कीर्ण हो सकता है। यह ज्ञान कभी योग से उत्पन्न होता है, कभी अयोग से उत्पन्न होता है और कभी-कभी इन दोनों प्रकारों से विलक्षण होता है। आप्तोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष—इन तीनों को 'योग' कहते हैं। इसमें आप्त-वचन-जन्य बोध श्रुतमयी प्रज्ञा है, युक्तिप्रयोग से उत्पन्न बोध को चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं, और समाधिजन्य बोध भावनामयी प्रज्ञा कहलाता है; अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास और मिथ्या-प्रणिहित समाधि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अयोगज ज्ञान में परिगणित है। उपपत्तिप्रातिलम्भिक ज्ञान, अर्थात् सहजज्ञान, या वह ज्ञान जो जन्म के

---

१. दर्शन, श्रवण आदि क्रिया के विषयरूप से जो वस्तु अभिमत है, उसे अभिप्रेत वस्तु कहते हैं। ऐसे वस्तु के विषय में दर्शन, श्रवण आदि की प्रार्थना या इच्छा का नाम छन्द है। युक्ति अथवा आप्तोपदेश से जो वस्तु असंदिग्धरूप से गृहीत होती है, उसे निश्चितवस्तु कहते हैं। जिस आकार में (जैसे अनित्य अथवा दुःखमय इत्यादि) कोई वस्तु निश्चित होती है, उसी आकार में ही उस वस्तु का चित्त में जो अभिनिवेश किया जाता है—अर्थात् यह वस्तु ऐसी ही है, दूसरे प्रकार की नहीं, उसको अधिमोक्ष कहते है। साधक के दीर्घकाल तक अभ्यास करके अधिमुक्ति-अवस्था को प्राप्त कर लेने पर प्रवादिगण अर्थात् दूसरे सिद्धान्त में आग्रह रखने वाले लोग उसे अपने सिद्धान्त से हटा नहीं सकते। पूर्वानुभूत वस्तु को संस्तुत वस्तु कहते हैं। आलम्बन ग्रहण के नष्ट न होने से असम्प्रमोष होता है। पूर्वगृहीत वस्तु का पुनः आलम्बन के आकार में स्मरण करना अभिलपनता है। इस अवस्था के प्रतिष्ठित होने पर चित्त दूसरे आकार में विक्षिप्त नहीं होता। वस्तु के गुण अथवा दोष का निरूपण ही उपपरीक्षण है। एकाग्रता होने पर चित्त के आलम्बन में भेद अथवा भेदाभास नहीं रह सकता। इससे, अर्थात् समाधि के ठीक-ठीक अभ्यास से यथाभूत-परिज्ञान होता है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान का उदय होता है। छन्द प्रभृति नियम धर्म का जो संक्षेप में वर्णन किया गया है, उसकी सार्थकता और प्रयोजनवत्ता कुछ दिन के अभ्यास से ही प्रतीत होने लगती है। छन्द के अभ्यास से वीर्य का उदय होता है, अधिमोक्ष से स्थिरता होती है, स्मृति से विक्षेप-निवृत्ति होती है और समाधि से ज्ञान का उदय होता है।

साथ ही उत्पन्न होता है, योगज नहीं है और अयोगज भी नहीं है। लौकिक-व्यवहार-मूलक ज्ञान भी इसी कोटि का है। प्रज्ञा के द्वारा धर्म का प्रविचय करने से जो निश्चय प्राप्त होता है, उससे संशय की निवृत्ति होती है।

ये पाँचों धर्म, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, परस्पर व्यावृत्त रहते हैं; अर्थात् जहाँ एक धर्म रहता है (जैसे, अधिमोक्ष), वहाँ अन्यान्य धर्म नहीं रह सकते। इन सर्वत्रग और विनियत धर्मों के अतिरिक्त श्रद्धादि ग्यारह कुशल धर्मों का वर्णन भी योगाचार-ग्रन्थों में मिलता है।

विज्ञानवादियों के मत से जो तीन प्रकार के विज्ञानपरिणाम की बात कही गयी है, वही विकल्प है। अर्थ का आकार धारण करता हुआ विज्ञान ही समस्त विश्वरूप विकल्प बनता है। आलय-विज्ञान, क्लिष्ट मन और प्रवृत्ति-विज्ञान के स्वभाव के भेद से विकल्प तीन प्रकार का है। त्रैधातुक विश्व जिस प्रकार विज्ञानात्मक है वैसे ही असंस्कृत धर्म भी विज्ञानात्मक ही है। अनधिष्ठित मूल विज्ञान में कारण के बिना विकल्पों की प्रवृत्ति कैसे होती है ? इस प्रकार का प्रश्न हो सकता है। विज्ञानवादी का समाधान यह है कि आलय-विज्ञान में सर्वधर्मोत्पादन शक्ति निहित है, अतएव यह सर्वबीज रूप है। आभ्यन्तरीय अन्योन्य संघर्ष से यह आलयविज्ञान ही अनन्त आकारों को धारण कर तत्-तत् विकल्पों के रूप में परिणत होता है।

योगाचारों का निर्वाणस्वरूप धर्मधातु परमार्थ सत्य है। यह अद्वय या भेदहीन तत्त्व है। इसमें ज्ञातृ-ज्ञेयरूप अथवा और किसी प्रकार का भेद नहीं है। योगी इस परिनिष्पन्न स्वभाव धर्मधातु का ध्यान करते-करते इसमें समाहित हो जाते हैं और इसके साथ तादात्म्य लाभ करते हैं; जल के जल में मिलने से जैसे तादात्म्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। यही विशुद्ध अद्वैत परिस्थिति है। परिकल्पित स्वभाव बाह्य जगत् है, जिसमें सत्त्व (द्रव्य), गुण आदि का आरोप होता है; परतन्त्रस्वभाव क्षणिक विज्ञानात्मक है।

●

शङ्कर से पूर्व के आचार्य

भर्तृप्रपञ्च

प्राचीन दर्शनशास्त्र के अध्ययन से भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्डय, द्रमिडाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि वेदान्ताचार्यों के नाम ज्ञात होते हैं। यह कहना कठिन है कि इन सभी ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्यरचना की थी या नहीं। इनमें से किसी ने गीता के ऊपर भाष्यरचना की थी और किसी ने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनों पर ही। उपनिषदों पर भी किसी-किसी की व्याख्या प्रचलित थी। परन्तु इन सबका ठीक-ठीक निर्देश करने के लिये इस समय कोई उपाय नहीं है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि भर्तृप्रपञ्च ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यक पर भाष्य-रचना की थी। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी भर्तृप्रपञ्च का ग्रन्थ उपलब्ध था, क्योंकि इन लोगों ने जिस प्रकार उनके मत का उपन्यास तथा प्रपञ्चन किया है, वैसा ग्रन्थ के साक्षात् समालोचन के बिना हो नहीं सकता। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद था। यद्यपि शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक-भाष्य में कहीं-कहीं पर 'औपनिषदमन्य' कहकर उनका परिहास किया है, तथापि यह बात अवश्य ही माननी होगी कि उस समय दार्शनिक क्षेत्र में उनका पाण्डित्य तथा प्रभाव कुछ कम नहीं था। इसी कारण शङ्कर के साक्षात् शिष्य अपने वार्तिक में 'सम्प्रदायवित्' तथा 'ब्रह्मवादी' कहकर उनकी प्रशंसा करने के लिये बाध्य हुए थे। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध था[1]।

उनका मत है कि परमार्थ एक भी है और नाना भी है—ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है। इसीलिये उन्होंने एकान्ततः कर्म अथवा ज्ञान का स्वीकार न कर दोनों की ही सार्थकता मानी है। ज्ञान और कर्म का समुच्चय मानने का यही मुख्य उद्देश्य है। भर्तृप्रपञ्च की दृष्टि से जीव नाना और परमात्मा का एक-देशमात्र है—जैसे ऊषर देश पृथिवी के एक देश में आश्रित है। विद्या, कर्म तथा पूर्व-कर्मसंस्कार जीव में विद्यमान रहते हैं, अविद्या परमात्मा से अभिव्यक्त होकर जीव में विकार उत्पन्न

---

१. शङ्कराचार्य ने शारीरकभाष्य (ब्र० सू० २।१।१४) में भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेद-मत का उपन्यास इस प्रकार किया है—"(ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखः वृक्षः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वञ्चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वम्, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वेनांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति"।

करती हुई अनात्मस्वरूप अन्तःकरण में धर्मभाव से वर्तमान रहती है। वे कहते हैं कि जीव परम मोक्ष लाभ करने के पहले हिरण्यगर्भ-भाव को प्राप्त होते हैं। हिरण्यगर्भत्व मुक्तावस्था नहीं है, किन्तु मोक्ष की पूर्वकालीन अन्तराल अवस्थामात्र है। इस अवस्था में परमात्मा का आभिमुख्य सर्वदा के लिये वर्तमान रहता है। काम, वासना आदि जीव के धर्म हैं। जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, परन्तु धर्म तथा दृष्टि के भेद से है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरङ्ग के समान द्वैताद्वैत है। जैसे अद्वैतभाव सत्य है, वैसे ही द्वैत भी सत्य है। द्वैतभाव की सत्ता से कर्मकाण्ड का प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक होता है। कार्य-कारणभाव कल्पित नहीं है, किन्तु सत्य है। मुमुक्षु तथा मुक्तपुरुष का आत्मदर्शन ठीक एक प्रकार का नहीं है। भर्तृप्रपञ्च ने प्रथम दर्शन को परिच्छिन्न कर्मात्मदर्शन तथा द्वितीय प्रकार के दर्शन को अपरिच्छिन्न परमात्मदर्शन कहा है। परिच्छेदक विज्ञान ही अविद्या है। 'अहमेव इदं सर्वम्' इत्याकारक अर्थबोध परमात्मा में नित्य ही है, परन्तु तिरस्कृत विज्ञान सांसारिक आत्मा में इस प्रकार के बोध का अस्तित्व अनित्य है। अविद्या के सम्बन्ध से परब्रह्म ही हिरण्यगर्भपदवाच्य होता है। हिरण्यगर्भ सर्वत्र व्यापक है, यह निखिल सत्त्वों का आत्मा अथवा जगदात्मा है। हिरण्यगर्भ के साथ आसक्ति के सम्बन्ध से जीवभाव का विकास होता है। आसङ्ग या वासना अन्तःकरण का धर्म है, यह जीव में संक्रान्त होकर जीव-धर्म बन जाता है। जीव ही कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता है। भर्तृप्रपञ्च की दृष्टि से जीव ब्रह्म का परिणाम-स्वरूप है। इनके मत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं, आहङ्कारिक नहीं हैं। मोक्ष दो प्रकार का है—(१) अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग, (२) परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति। इसी देह में ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्रथम प्रकार का मोक्ष आविर्भूत होता है; यह जीवन्मुक्ति के अनुरूप है, इसका नाम अपवर्ग है। वस्तुतः यह आसङ्गत्यागनिमित्तक संसारनिवृत्तिमात्र है। देहपात न होने से ब्रह्म में लय नहीं हो सकता, परन्तु देहपात के अनन्तर दूसरे प्रकार के मोक्ष का—परममोक्ष का—उदय होता है। यह ब्रह्म में जीव का लय अथवा जीव की ब्रह्मभावापत्ति है। इस अवस्था का आविर्भाव अविद्यानिवृत्ति का फलस्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि भर्तृप्रपञ्च के मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अर्थात् अपरामुक्ति या अपवर्गदशा में भी अविद्या पूर्णतया निवृत्त नहीं होती। अविद्यानिवृत्ति के साथ-साथ जीव के ब्रह्मभाव की उपलब्धि का प्रतिबन्धक शरीर छूट जाता है और परामुक्ति का अधिगम होता है। परमात्मा अथवा परब्रह्म नित्य पदार्थ है। इस अवस्था में सम्पूर्ण विशेष अव्यक्त रहते हैं—जैसे समुद्र में ऊर्मियों का एकत्व है, वैसे ही अविशेष अव्यक्त परमात्मावस्था में निखिल विशेषों का एकत्व है। ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार का है—(१) अन्तर्यामी तथा जीवरूप में; (२) अव्याकृत, सूत्र, विराट् तथा देवतारूप में; (३) जाति तथा पिण्डरूप में। ये आठ अवस्थाएँ ब्रह्म की ही हैं। इसी प्रकार जगत् आठ प्रकार से विभक्त है। प्रकारान्तर से ये तीन भागों में विभक्त किये गये हैं—(१) परमात्मराशि, (२) जीवराशि और (३) मूर्तामूर्तराशि। भर्तृप्रपञ्च प्रमाणसमुच्चयवादी थे। उनके मत में लौकिक प्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए उन्होंने लौकिक-प्रमाणगम्य भेद को और वेदगम्य अभेद

को सत्य-रूप में माना है। इसी कारण इनके मत में जैसे केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञानकर्म-समुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्र

भर्तृमित्र का प्रसङ्ग जयन्तकृत न्यायमञ्जरी (पृ० २१३, २२६) में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ४-५) में आया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वैदान्तिक आचार्य ही रहे होंगे। भर्तृमित्र ने मीमांसा पर भी ग्रन्थरचना की थी। भट्ट पाद कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक (१।१।१।१०; १।१।६।१३०-१३१) में इनका उल्लेख किया है—टीकाकार पार्थसारथिमिश्र ने न्यायरत्नाकर नामक टीका में ऐसा ही आशय प्रकट किया है। कुमारिल कहते हैं कि भर्तृमित्र प्रभृति आचार्यों के अपसिद्धान्तों के प्रभाव से मीमांसाशास्त्र लोकायतवत् हो गया। विशिष्टाद्वैतग्रन्थों में उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्तिकोक्त मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे या भिन्न थे, इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु कुमारिल के समालोचन से मालूम होता है कि ये दो पृथक् व्यक्ति थे। मुकुलभट्टने अपने 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ में पृथक् भी भर्तृमित्र का नामनिर्देश किया है (पृ० १७ निर्णयसागर)।

भर्तृहरि

भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित हुआ है। इनको वाक्यपदीयकार से अभिन्न मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। परन्तु इनका कोई वेदान्तग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। वाक्यपदीय व्याकरण-विषयक ग्रन्थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। अद्वैतसिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी-किसी आचार्य का मत है कि भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद का ही प्रधानतया अवलम्बन करके आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस पर वाचस्पतिमिश्र की ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नामक एक टीका थी। उत्पलाचार्य के गुरु काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने स्वरचित शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेषरूप से समालोचना की है। शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मकृत इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमञ्जरी में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा तदनुसारी शब्दब्रह्मवादी दार्शनिकगण 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। यह भी प्रतीत होता है कि इस मत में पश्यन्ती ही परावाक्-रूप में व्यवहृत होती थी। यह वाक् विश्व-जगत् का नियामक तथा अन्तर्यामी चित्-तत्त्व से भिन्न है।

उपवर्ष

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का उल्लेख किया है। इस वृत्तिकार ने दोनों ही मीमांसाशास्त्रों पर वृत्तिग्रन्थ बनाये थे, ऐसा प्रतीत होता है। पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि ये 'भगवान्

उपवर्ष' वे ही हैं जिनका उल्लेख शाबरभाष्य (मी० सू० १।१।५) में स्पष्टतः किया गया है। शङ्कर कहते हैं (ब्र० सू० ३।३।५३) कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसावृत्ति में कहीं-कहीं पर शारीरकसूत्र पर लिखी गयी वृत्ति की बातों का उल्लेख किया है। ये उपवर्षाचार्य शबरस्वामी से पहले हुए, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु कृष्णदेवनिर्मित तन्त्रचूडामणि नामक ग्रन्थ में लिखा है कि शाबरभाष्य के ऊपर उपवर्ष की एक वृत्ति थी (देखिये, Fitz Edward Hall का बनाया हुआ 'Index to Sanskrit Philosophy', पृ० १६७)। कृष्णदेव के वचन का कोई मूल है या नहीं, यह कहना कठिन है। यदि उनका वचन प्रामाणिक माना जाय, तो इस उपवर्ष को प्राचीन उपवर्ष से भिन्न मानना पड़ेगा।

बोधायन

प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की एक वृत्ति थी, जिसके वचनों का आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में उद्धार किया है (देखिये, Sacred Books of the East ग्रन्थमाला में थीबोलिखित वेदान्तशाङ्करभाष्यानुवादभूमिका, पृ० २१)।

प्रसिद्ध जर्मन पण्डित Hermann Jacobi का मत है कि बोधायन ने मीमांसासूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी (देखिये, Journal of the American Oriental Society, १९११, पृ० १७)। प्रपञ्चहृदय नामक ग्रन्थ से भी यह बात सिद्ध होती है और प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था (देखिये, Trivandram से प्रकाशित 'प्रपञ्चहृदय', पृ० ३९)।

ब्रह्मनन्दी

प्राचीन काल में एक वेदान्ताचार्य 'ब्रह्मनन्दी' नाम के भी आविर्भूत हुए थे। इनका मत मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेपशारीरक की टीका (३-२१७) में उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शायद ये भी अद्वैतवेदान्त के आचार्य रहे होंगे। प्राचीन वेदान्तसाहित्य में 'ब्रह्मनन्दी' छान्दोग्यवाक्यकार के अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे।

टङ्क

श्रीवैष्णवसम्प्रदाय के साहित्य में भी एक वाक्यकार का पता लगता है। उनका नाम है 'टङ्क'। विशिष्टाद्वैती लोग ब्रह्मनन्दी और टङ्क को अभिन्न समझते हैं; परन्तु यह कहाँ तक सत्य है यह कहना कठिन है।

ब्रह्मदत्त

शङ्कराचार्यजी के पूर्व एक और अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे, उनका नाम या था ब्रह्मदत्त[1]। सम्भव है, वे भी वेदान्तसूत्र के भाष्यकार रहे हों[2]। परन्तु यह निश्चितरूप

१. मध्वसम्प्रदाय के मणिमञ्जरी नामक ग्रन्थ (६।२-३) में लिखा है—शङ्कराचार्य ब्रह्मदत्त से मिलने गये थे, परन्तु यह बात प्रामाणिक नहीं मालम होती। २. सिद्धित्रय (प्रारम्भ)।

से नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मदत्त के मत से जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है।

एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभाग् इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अचिदिव जनिमान्—

यह मत ब्रह्मदत्त का है इसे वेदान्तदेशिकाचार्य ने अपने तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थसिद्धि (२-१६) में उद्धृत किया है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं है, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोगवाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्मदत्त के मत से, साधक की किसी अवस्था में भी, कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। प्राचीन आचार्यों में आश्मरथ्य का सिद्धान्त था कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और मुक्ति में ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते थे। परन्तु आश्मरथ्य भेदाभेद-पक्ष के अनुकूल थे। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे (देखिये, नैष्कर्म्यसिद्धि १-६८)। शङ्कराचार्य के मत में महावाक्य-जन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। उनके मत में ज्ञान से उपासना भिन्न है। शङ्कर उपासना के विषय में विधि मानने पर भी (ब्र० सू० १।१।४) ज्ञान के विषय में विधि नहीं मानते। अविद्या की निवृत्ति करनेवाला यथार्थ ज्ञान वस्तुतन्त्र या पुरुषतन्त्र है। इसलिये आत्मज्ञान के लिये विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। और वेदान्ती ज्ञान और उपासना में इस प्रकार का भेद नहीं मानते। वे लोग किसी न किसी प्रकार से आत्म-ज्ञान में भी विधि मानते ही हैं। मीमांसक लोग कहते हैं कि वेद का मुख्य तात्पर्य सिद्ध वस्तु के निर्देश-मात्र में नहीं है, परन्तु शङ्करेतर वेदान्ती भी कर्म का उपदेश प्रायः ऐसा ही मानते हैं। इन वेदान्तियों की दृष्टि से पूर्व और उत्तर मीमांसा में यही भेद है कि पूर्वकाण्ड में कर्मविधि है और उत्तरकाण्ड में भावना विधि है। इसीलिये उपनिषद् में 'आत्मा वा अरे' इत्यादि विधि-वाक्यों की ही प्रधानता माननी चाहिये, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का प्राधान्य नहीं है। वस्तु के स्वरूपज्ञान के बिना भावना नहीं हो सकती। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य वस्तु के स्वरूपमात्र के बोधक हैं, अतएव आत्मा उपासना-विधि का शेष है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही साध्य-विषयक है, सिद्धविषयक नहीं हैं। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है—

"केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भाद् आहुः—यदेतद् वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति, किं तर्हि अहन्यहनि दार्घीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुतेः" (१-६७)।

ज्ञानामृतविद्यासुरभि नाम की नैष्कर्म्यसिद्धिटीका में, यह मत ब्रह्मदत्त का है, ऐसा निर्णय किया गया है। शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक (१।४।७) के भाष्य में ब्रह्म-

दत्त के मत का उल्लेख किया है। इस मत में अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही होती है, औपनिषद् ज्ञान मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान का लाभ करने पर भी जीवन-पर्यन्त भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—यद्यपि देह के अवस्थिति-काल में भी उपाय से देवता का साक्षात्कार हो सकता है तथापि उनके साथ मिलन तभी हो सकता है जब देह न रहे। प्रारब्धकर्म-लब्ध देह उपास्य के साथ उपासक के मिलने में प्रतिबन्धक है (देखिये, बृ० उ० वार्तिक, पृ० १३५७; नैष्कर्म्यसिद्धिटीका 'चन्द्रिका' १—६७)। जिस प्रकार मृत्यु के अनन्तर ही स्वर्गलाभ हो सकता है, उसी प्रकार मोक्ष भी देह छूटने के पश्चात् ही होता है। दोनों ही वैदिक विधि के पालन के फल हैं। ब्रह्मदत्त ध्याननियोगवादी थे। वे जीवन्मुक्ति नहीं मानते थे। शङ्कराचार्य के मत से मोक्ष दृष्ट फल है, परन्तु ब्रह्मदत्त के मत से यह अदृष्ट फल है। शङ्करमत में कर्म से जिज्ञासा उत्पन्न होती है, मोक्ष नहीं होता। जीवन्मुक्त को कर्मों की आवश्यकता नहीं है। इस अवस्था में कर्मसंन्यास स्वतःप्राप्त है। सत्त्वशुद्धि अथवा वैराग्य होने पर शङ्करमत में कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। इस अवस्था में कर्मसंन्यास विधि-प्राप्त है (देखिये, ऐतरेभाष्य, उपोद्घात)। इस प्रकार की द्वितीयवस्था में साधक को केवल ज्ञान के अर्जन में प्रयत्नशील होना चाहिये। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से साधन-क्रम इस प्रकार है—पहले उपनिषद् से ब्रह्म का परोक्षज्ञान लाभ करना चाहिये। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिये। इस अवस्था में कर्म आवश्यक है; जीवनपर्यन्त कर्म का त्याग नहीं होता। इसलिये ब्रह्मदत्त का मत भी ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद ही है। सुरेश्वराचार्य ने भी उनका उल्लेख समुच्चयवादी के रूप में ही किया है। ज्ञानोत्तम ने नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका में उन्हें ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी कहा है—

"वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षाद् भावना-जन्य-साक्षात्कारलक्षणज्ञाना-न्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः।"

ब्रह्मदत्त कहते हैं कि मुमुक्षु को 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंग्रहोपासना करनी चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।७।१०) में भी 'आत्मेत्येव उपासीत' इत्याकारक उपदेश मिलता है। अब प्रश्न यह है कि जीव परमात्मा से परमार्थतः भिन्न है या अभिन्न? शङ्कर ने अभेद-पक्ष माना है। परन्तु किसी-किसी वेदान्ताचार्य का यह मत है कि जीव के ब्रह्म से अभिन्न न होने पर भी अभेद-भावना की आवश्यकता है (देखिये, सम्बन्धवार्तिक—श्लोक ७०२, ८४५, ब्र० सू० भा० ४।१३; संक्षेपशारीरक १।३०७-३११; पञ्चपादिका, पृ० २५२-२५३)। ब्रह्मदत्त के मत में जीव और ब्रह्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह ज्ञात नहीं होता। यदि भेद हो तो ऐक्यभावना के बल से मोक्ष में जीव का लय हो जायेगा। यदि जीव को ब्रह्म का अंश माना जाय या दोनों में अभेद हो, तो भावना से भेदभाव की निवृत्ति, अभेद का स्फुरण या साक्षात्कार तथा अन्त में मोक्ष होगा। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के श्रवण से आत्मस्वरूपविषयक अखण्ड वृत्ति नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि उन

शब्दों में तादृश शक्ति नहीं है; परन्तु निदिध्यासन अथवा प्रसंख्यान में ऐसी सामर्थ्य है। यदि प्रसंख्यान पूर्णतया सम्पन्न हो, तो उससे आत्मा का अखण्ड ज्ञान आविर्भूत होता है (देखिये, ब्र० सू० भा०, नि० सा०, पृ० १२८ से १३० और १५३)। शङ्कर के मत से इस मत का विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि (१—६७) में तथा पद्मपाद ने पञ्चादिका (पृ० ९९) में ही कहा है कि महावाक्य से साक्षात्—अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है[1]।

भारुचि

रामानुजकृत वेदार्थसंग्रह (पृ० १५४) में प्राचीन काल के छः वेदान्ताचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। इन आचार्यों ने रामानुज से पहले वेदान्तशास्त्र-ज्ञान के प्रचार के लिये ग्रन्थ निर्माण किये थे। आचार्य रामानुज के सत्कारपूर्वक उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये लोग निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं थे। इन आचार्यों के नाम हैं— भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव कपर्दिक और द्रमिलाचार्य (द्रविडाचार्य)। श्रीनिवासदास ने यतीन्द्रमतदीपिका (पूना० सं०, पृ० २) में व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रमिलाचार्य, श्रीपरांकुश, नाथमुनि और ज्योतीश्वर प्रभृति के नाम का इसी प्रसङ्ग में उल्लेख किया है। इनमें टङ्क और ब्रह्मनन्दी वैष्णवों के मत से अभिन्न हैं। इनका नाम तथा विवरण पहले दिया जा चुका है।

भारुचि के विषय में विशेष परिज्ञान नहीं है। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा (१।१८ और २।१२४), माधवाचार्य कृत पराशरसंहिता की टीका (२।३, पृ० ५१०) एवं सरस्वतीविलास (पैराग्राफ १३३) प्रभृति ग्रन्थों में धर्मशास्त्रकार भारुचि का नाम उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है कि इन्होने विष्णुकृत धर्मसूत्र के ऊपर एक टीका लिखी थी। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध भारुचि और धर्मशास्त्रकार भारुचि यदि एक माने जायँ, तो इनका समय खीष्टाब्द नवम सदी के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है (देखिये, P.V. Kane कृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ० २६५)।

द्रविडाचार्य

द्रविडाचार्य भी प्राचीन वैदान्तिक थे। इन्होंने छान्दोग्य-उपनिषद् पर अति-बृहत् भाष्य लिखा था। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी इनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है। माण्डूक्योपनिषद् (२।३२; २।२०) के भाष्य में शङ्कर ने उनका 'आगम-वित्' कहकर उल्लेख किया है और बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य (पृ० २७९, पूना सं०) में उनका उल्लेख 'सम्प्रदायवित्' कहकर किया गया है। जहाँ-जहाँ द्रविडाचार्य का उल्लेख करना आवश्यक था, वहाँ सम्मान के साथ ही किया गया है। कहीं भी उनके मत का खण्डन नहीं किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि द्रविडाचार्य का सिद्धान्त शङ्कर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं था। छान्दोग्य-उपनिषद् में जो 'तत्त्व-

---

१. परन्तु मण्डनमिश्र का मत यह है (देखिये, बृ० भा० टीका ४।४।७९६) कि शब्द से अपरोक्ष-ज्ञान हो ही नहीं सकता।

मसि' महावाक्य का प्रसङ्ग आया है, उसकी व्याख्या में द्रविडाचार्य ने व्याधसंवर्धित राजपुत्र की आख्यायिका का वर्णन किया है। आनन्दगिरि कहते हैं—

"तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम्, तच्छेषः सृष्ट्यादि वाक्यम्"—

यह मत आचार्य द्रविड को अङ्गीकृत है।

पहले कहा गया है कि रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य नाम के एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी का मत यह है कि ये द्रविडाचार्य शङ्करोक्त द्रविड से भिन्न थे। इन्होंने पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का अवलम्बन करके द्रविड भाषा में ग्रन्थ-रचना की थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय में इन्हीं आचार्य के विषय में कहा है—

"भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित-गम्भीरभाष्यकृता"।

यहाँ पर 'भाष्यकृत्' शब्द से द्रविडाचार्य लिये गये हैं। किसी-किसी का मत है कि द्रविडसंहिताकार अलवर, शठकोप अथवा वकुलाभरण ही वैष्णव-ग्रन्थों में द्रविडाचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों द्रविडों की परस्पर भिन्नता अथवा अभिन्नता के सम्बन्ध में अब तक कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं कायम कर सका। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक (३।२२१) में ब्रह्मनन्दि-ग्रन्थ के द्रविडभाष्य से जिन वचनों का उद्धार किया, वे रामानुज-द्वारा उद्धृत द्रविडभाष्य-वचनों से अभिन्न दीख पड़ते हैं। इसीलिये किसी किसी के मत से शङ्करसम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविड और रामानुजसम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविड एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

सुन्दरपाण्ड्य

भगवान् शङ्कर के पहले सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। यह वार्तिक ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य या वृत्ति का अवलम्बन करके बनाया गया था। परन्तु इस वृत्ति या भाष्य का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इस वृत्ति के निर्माता बोधायन थे, या उपवर्ष थे, अथवा और कोई प्राचीन आचार्य, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु समन्वयाधिकरण के भाष्य के अन्त में (१।१।४) इस वार्तिक-ग्रन्थ से शङ्कराचार्य ने स्वयं 'अपि चाहुः' कहकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं—

अपि चाहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद् ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं स्वात्मनिश्चयात्॥ इति।

इसका तात्पर्य यह है कि जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता, तब तक सब प्रकार की विधियाँ और प्रमाण सार्थक हैं। आत्मवस्तु हेय भी नहीं है और उपादेय भी नहीं है। यह अद्वैत है, इस प्रकार आत्मा के बोध में प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि उस समय प्रमाता भी नहीं रहता और विषय भी नहीं रहता। वाचस्पतिमिश्र ने भामती में इन श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु पद्मपादकृत पञ्चपादिका के ऊपर 'प्रबोधपरिशोधिनी' नाम की एक टीका है, जिसका रचयिता नरसिंहस्वरूप का शिष्य आत्मस्वरूप है। इस टीका से पता चलता है कि ये तीनों श्लोक सुन्दरपाण्ड्य कृत हैं। सूतसंहिता की माधवमन्त्रिकृत तात्पर्यदीपिका नाम की टीका में भी कहा गया है कि इन श्लोकों के अन्तर्गत तृतीय श्लोक—अर्थात् 'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्'—सुन्दरपाण्ड्यकृत वार्तिक से लिया गया है। अमलानन्दकृत कल्पतरु (३ । ३ । २५) में सुन्दरपाण्ड्य के 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' प्रभृति और तीन वचन तथा तन्त्रवार्तिक (बनारस सं०, पृ० ८५२-८५३) में ये तीन और 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो—कुल पाँच वचन उद्धृत हुए हैं। न्यायसुधा (पृ० १२२८) में ये पाँच श्लोक 'वृद्धानाम्' के नाम से उद्धृत किये गये हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से सुन्दरपाण्ड्य का समय ६५० ख्रीष्टाब्द है। सुन्दरपाण्ड्य शैव-वेदान्ती थे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। किसी पण्डित के मत में यह राजा नेडूमारण नायनर का नामान्तर है[1]। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक के दूसरे स्थान में (पृ० २८०-२८१ तथा ३५७) 'आह च' कहकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं। न्यायसुधा के मत से भी ये वृद्धवचन हैं। ये वृद्ध सुन्दरपाण्ड्य ही हैं, दूसरा कोई नहीं। प्रतीत होता है कि सुन्दरपाण्ड्य ने पूर्व मीमांसा पर एक वार्तिक की रचना की थी।



---

१. इस विषय का विशेष विवरण म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री के द्वारा लिखित "Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient India" नामक लेख में देखना चाहिये। यह लेख Journal of Oriental Research, Madras नामक पत्रिका के प्रथम खण्ड (पृ० १–१५) में प्रकाशित हुआ था। प्रसङ्गतः उक्त लेखक का दूसरा लेख भी देखना चाहिये (Proceedings of Third Oriental Conference, पृ० ४६५-४६८)। ये पाण्ड्यराज कुब्जवर्द्धन अथवा कुलपाण्ड्य नाम से भी परिचित थे। किसी-किसी के मत में अरिकेसरी इनकी उपाधि थी। प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समकालीन थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दरपाण्ड्य ने जैन धर्म को छोड़कर शैव धर्म का ग्रहण किया था और अपनी साधन-सम्पत्ति के प्रभाव से ६३ शैवाचार्यों के मध्य में स्थान प्राप्त किया था। इन्होंने चोल-राजकुमारी से विवाह किया था।

प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शङ्कर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध

अद्वैतवाद भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल से प्रचलित है। उपनिषदों में यत्र तत्र अद्वैतपरक श्रुतियाँ दीख पड़ती हैं। मन्त्रसंहिताओं में अद्वैतमत प्रकाशन का अवसर न रहने पर भी जहाँ-तहाँ प्रसंगतः उसका स्पष्ट आभास दृष्टिगोचर होता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में अन्यान्य मतों के साथ अद्वैतवाद का भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्तसूत्रकारों में से कोई-कोई अद्वैतवादी थे—यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। इसके अनन्तर बौद्धमत में माध्यमिक तथा योगाचारगण अद्वैतवादी थे। इसी कारण बुद्ध का एक नाम अद्वयवादी भी पड़ा था। वैयाकरण, शाक्त, शैव, ये सभी अद्वैतवाद को मानते थे। शङ्कर के पहले वेदान्त में भी अद्वैतवाद अपरिचित नहीं था। मण्डनमिश्र ने ब्रह्म-सिद्धि में अद्वैतवाद का ही समर्थन किया है। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (श्लोक २४) में अद्वैतपक्ष का उल्लेख किया है—

"अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते।
कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते" ॥

समन्तभद्र शङ्कर से प्राचीन हैं। इससे प्रतीत होता है कि अद्वैतवाद उनसे (शङ्कर से) प्राचीन था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह (३२८-३२९) में प्राचीन अद्वैतमत का वर्णन आया है। कमलशील ने इन लोगों का 'अद्वैत-दर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिकाः' कहकर उल्लेख किया है। शान्तरक्षित का वचन यह है—

"नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकम्।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः ॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्षते" ॥[1]

कमलशील ने इन कारिकाओं की व्याख्या करते हुए कहा है कि क्षिति आदि प्रपञ्चविज्ञान प्रतिभासस्वरूप है। शान्तरक्षित के वचन से प्रतीत होता है कि उनके मत से विवर्त और परिणाम, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं; क्योंकि उन्होंने प्रथम श्लोक में क्षिति आदि को नित्यज्ञान का विवर्त कहकर दूसरे श्लोक में उन्हें विज्ञानपरिणाम कहा है। इस मत में आत्मा नित्यज्ञानरूप है और क्षिति आदि जगत् इसी का परिणाम अथवा विवर्त है। भवभूति भी इस प्राचीन विवर्तवाद को जानते थे। उत्तररामचरित में उन्होंने कहा है—

"ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः"।

---

१. प्रज्ञाकरमति ने शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतार की स्वरचित पञ्जिकाटीका में ये श्लोक उद्धृत किये हैं। परन्तु उसमें कुछ पाठभेद है।

इस वचन से ज्ञात होता है कि विवर्त ब्रह्म में लीन होता है और ब्रह्म से ही आविर्भूत होता है। उनकी दृष्टि में विवर्त और परिणाम एकार्थक हैं। 'एको रसः करुण एव विवर्तभेदात्' इत्यादि श्लोक से भी सिद्ध होता है कि 'विवर्त' शब्द का नवीनवेदान्तसम्मत अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं था। कुमारिलभट्ट ने भी श्लोकवार्तिक में वेदान्त के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। योगवासिष्ठ रामायण का रचनाकाल परिज्ञात नहीं है। यदि इसका रचनाकाल शङ्कर से पूर्व माना जाय (जैसा कि डा० भीखनलाल आत्रेय ने प्रतिपादन करने का विशेषरूप से प्रयत्न किया है) तो उसके अद्वैतवाद को भी प्राचीन अद्वैतवाद का ही प्रकारभेद मानना होगा।

परन्तु ये सव अद्वैतवाद एक ही प्रकार के नहीं हैं। माध्यमिकों का शून्याद्वयवाद, योगाचारों का विज्ञानाद्वयवाद, शाक्तों का शक्त्यद्वयवाद, वैयाकरणों का और मण्डन सम्मत प्राचीन वेदान्तियों का शब्दाद्वयवाद—यद्यपि ये सब अद्वैतवाद ही हैं, तथापि इनमें परस्पर कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य है। शङ्कर तथा शङ्कर के परमगुरु आचार्य गौडपाद-द्वारा प्रचारित अद्वैत इन सब अद्वैतवादों से किसी-किसी अंश में विलक्षण है। पूर्वोक्त मतों में से किसी मत का प्रभाव शङ्कर-मत पर पड़ा है या नहीं, यह कहना कठिन है। परन्तु अन्य मत का प्रभाव मानने पर भी यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि शङ्करमत का अन्य मतों की अपेक्षा असाधारण वैशिष्ट्य है।

किसी-किसी पण्डित का विश्वास है कि शङ्कराचार्य ने बौद्धमत का अनुसरण करते हुए ही बौद्धमत का खण्डन किया है—

"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च"।

इत्यादि पौराणिक वचन इसी मत के परिपोषक हैं। इन लोगों का कहना है कि गौडपाद की कारिका का विशेष रूप से पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि यह ग्रन्थ वस्तुतः औपनिषद् ब्रह्मवाद की स्थापना करने के लिये ही प्रवृत्त हुआ था, तथापि भाव तथा भाषा में यह आदि से अन्त तक माध्यमिक दर्शन के प्रभाव से भरा पड़ा है। इस ग्रन्थ में आत्मा के विषय में अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति, इन चार कोटियों का उल्लेख है—

"अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः॥
कोटयश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्"॥

इनका सारांश यह है कि आत्मा सत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्विलक्षण—इन चार कोटियों में से किसी भी कोटि से स्पृष्ट नहीं है। इस प्रकार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त आत्मा का जिन्होंने साक्षात्कार किया हो, वे ही सर्वदर्शी अथवा सर्वज्ञ कहलाने योग्य हैं। गौडपाद से बहुत पहले नागार्जुन ने भी माध्यमिककारिका में यही बात कही थी—

"न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥

गौडपाद की उक्ति नागार्जुन के इस वचन की प्रतिध्वनिमात्र है। नागार्जुन और गौडपाद दोनों ही परमार्थतत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए नैषधकार श्रीहर्ष ने भी कहा है—

"साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मताना
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः" ॥ (नै० १३।३६)

अद्वैतशिरोमणि खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष ने अपने नैषधचरित में (२१।८८) बुद्ध का भी विधूतकोटिचतुष्क तथा अद्वयवादीरूप से वर्णन किया है[1]। इस वर्णन के अनुसार शून्यवादी का शून्य अथवा तत्त्व और आचार्य गौडपाद का आत्मा प्रायः एक ही प्रकार का है। इन समालोचकों का यह भी कथन है कि गौडपाद का अजातवाद भी नागार्जुनरचित माध्यमिककारिकामूलक ही है। नागार्जुनने कहा है—

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन" ॥ (मा० का० १।७)

(देखिये—मध्यमकवृत्ति, पृ० १२, Bibliotheca Buddhica में Professor Poussin का संस्करण)। गौडपाद ने अलातशान्तिप्रकरण में कहा है—

"स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते" ॥

माध्यमिकमत में परमार्थतत्त्व जैसे मन, वाक्य और प्रपञ्च के अतीत है, शङ्करमत भी इस अंश में ठीक वैसा ही है। सब वस्तुओं का मायिकत्व और स्वाप्नत्व दोनों दर्शनों में समानरूप से माना गया है। सत्ता का पारमार्थिक तथा व्यावहारिकरूप से विभाग जो शङ्करदर्शन में मिलता है, वह बौद्धदर्शन के आधार पर ही प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। बौद्धों का परमार्थसत्ता तथा व्यावहारिक सत्ता—इस प्रकार सत्ताभेद अतिप्राचीन पालि-साहित्य में भी मिलता है। यह भेद और किसी दर्शन में नहीं है। इससे अतिरिक्त माण्डूक्यकारिका में ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका उल्लेख केवल बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में ही है। इन्हीं सब विषयों का सूक्ष्मरूप से पर्यालोचन करके आधुनिक पण्डितों ने सिद्धान्त किया है कि शङ्करदर्शन बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद संस्करणमात्र है।

पक्षान्तर में किसी-किसी का यह मत है कि अति प्राचीन शिवाद्वयवाद का अवलम्बन करके शङ्कराचार्य ने अपना मत स्थापन किया था। प्रसिद्धि है कि उन्होंने

---

१. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितो बुद्धस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षड्भिज्ञः ॥ (नै० २१।८८)

सूतसंहिता का अठारह बार आलोचन करके शारीरकभाष्य की रचना की थी—

"तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्तनिर्णयम्"॥

सूतसंहिता प्राचीन शिवाद्वैत-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके भाष्यकार माधव-मन्त्री सुप्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति पण्डित के शिष्य थे। शङ्कर के दक्षिणामूर्तिस्तोत्र और सुरेश्वरकृत उसके वार्तिक के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शिवागम के साथ शङ्कर का विशेष परिचय था, अतएव शङ्कर का अद्वैतशिवागम के प्रभाव से प्रभावित होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है[1]।

इन सब अद्वैतसिद्धान्तों का ज्ञान शङ्कर को अवश्य था, और यह भी सम्भव है कि इनमें से किसी-किसी के सिद्धान्त का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत उन पर पड़ा हो। किन्तु शङ्कर ने इनमें से किसी मत का अवलम्बन करके अपने अद्वैतवाद का प्रचार किया, यह मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता। शङ्कर के सदृश महाज्ञानी तथा महायोगी पुरुष ऐसा क्यों करने लगे? देश में जिस समय के वातावरण में जिस प्रकार के भावों तथा पारिभाषिक शब्दों की व्याप्ति रहती है, उस समय बनाये गये ग्रन्थों में तथा चिन्ताशील (विचारशील) व्यक्तियों के चित्त में उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। यह वस्तुतः ज्ञानपूर्वक आदान-प्रदान-व्यापार नहीं है।

●

१. 'Is the Adwait of Shankar Buddhism in disguise' नामक लेख में (Quarterly Journal of Mythic Society, Vol. 24, No. 1-2, July-October, 1933) यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि शङ्कर के अद्वैतवाद का आधार बौद्धों का विज्ञानवाद या शून्यवाद नहीं है, किन्तु अति प्राचीन अद्वैतवाद है।

श्रीविद्यार्णव नामक ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर-सम्प्रदाय का विवरण

शाक्तागम-साहित्य में श्रीविद्यार्णव नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें श्रीविद्या की उपसाना के क्रम का अवलम्बन करके तन्त्रशास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का भलीभाँति प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में श्रीशङ्कराचार्य की गुरुपरम्परा तथा शिष्यपरम्परा का भी कुछ वर्णन किया गया है। यह अभी तक प्रकाश में नहीं आया, इसलिये संक्षेपतः इस विषय में यहाँ पर कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस विवरण का कितना गौरव है, इसका निर्णय ऐतिहासिक विद्वान् करेंगे। किन्तु तान्त्रिक समाज में शङ्कराचार्य और उनके सम्प्रदाय की जो प्रसिद्धि है, उसका कुछ परिचय पाठकसमाज को प्राप्त होना चाहिये। श्रीविद्या की उपासना के साथ शङ्कराचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस विषय में तान्त्रिक ग्रन्थों में सर्वत्र ही प्रमाण मिलता है। शङ्कर के मठविशेष में जो श्रीयन्त्र है, उसका तो सबको परिज्ञान है ही। सौन्दर्यलहरी, प्रपञ्चसार आदि जिन-जिन तान्त्रिक ग्रन्थों से शङ्कर का नाम संसृष्ट है, वे प्रायः सभी त्रिपुरातन्त्र के ग्रन्थ हैं। ललितात्रिशती आदि भी इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इसीलिये त्रिपुरा-सम्प्रदाय के ग्रन्थ में निबद्ध शङ्करविषयक ऐतिहासिक जनश्रुति का प्रकाशित होना उचित ज्ञात होता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य गौडपाद के प्रशिष्य नहीं थे। गौडपाद से लेकर शङ्कराचार्य तक सात पुरुषों के नाम मिलते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गौडपाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचन्द्र, गोविन्द और शङ्कराचार्य। इससे प्रतीत होता कि शंकर के गोविन्द-शिष्य होने में कोई सन्देह नहीं है, किन्तु वे गौडपाद के प्रशिष्य नहीं थे। प्रचलित ग्रन्थों में गौडपाद, व्यास-पुत्र शुकदेव के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। परन्तु शुकदेव और गौडपाद के बीच में दीर्घकाल का व्यवधान होने से ऐतिहासिक लोग शुक के साथ गौडपाद का साक्षात् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध मानने में संकोच करते हैं। बहुत लोग कल्पना करते हैं कि शुकदेव के बाद अद्वैतज्ञान की धारा एक प्रकार उच्छिन्न हो गयी थी। गौडपाद ने सम्भवतः किसी अलौकिक उपाय से आविर्भूत शुकदेव की ही दिव्य मूर्ति से इस ज्ञान को प्राप्तकर उसका पुनरुद्धार किया था। इसी प्रकार शुक के साथ उनका गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी स्थिर हो जाता है। परन्तु साधारण ऐतिहासिक लोग इसको प्रमाण-रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। इस ग्रन्थ में गौडपाद के पूर्ववर्ती गुरुओं की भी नामावली दी गयी है, जिसको देखने से शुकदेव और गौडपाद के मध्य में बहुत से पुरुषों का व्यवधान दीख पड़ता है। आदिविद्वान् कपिल से ही शङ्करसम्प्रदाय की प्रवृत्ति हुई है, यह इस ग्रन्थकार का मत है। कपिल से गौडपाद तक गुरुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कपिल, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय,

कौशिक, पराशर, शुक, अङ्गिरा, कण्व, जाबालि, भरद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, विजय, मरण, पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, समर, कैवल्य, गणेश्वर, सपाथ, विबुध, योग, विज्ञान, अनङ्ग, विभ्रम, दामोदर, चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, वीरेश्वर, मन्दार, त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, गौड, वीर, घोर, ध्रुव, दिवाकर, चक्रधर, प्रथमेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव, धीर, गौडपाद[1]।

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य के १४ शिष्य थे। ये सब देवी के उपासक और निग्रहानुग्रह करने में समर्थ अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे, ऐसा वर्णन है। १४ शिष्यों में ५ शिष्य संन्यासी और ९ गृहस्थ थे। संन्यासी शिष्यों में एक शिष्य का नाम शङ्कर भी था, अवशिष्ट चार के नाम—पद्मपाद, बोध, गीर्वाण और आनन्दतीर्थ थे। गृहस्थ शिष्यों के नाम थे—सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मण, मल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर।

पद्मपाद के ६ शिष्य थे, उनके नाम यों हैं—माण्डल, परपावक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द और शिवोत्तम। ये सब संन्यासी थे। बोधाचार्य के बहुत शिष्य थे। लिखा है कि सब देशों में उनके दो प्रकार के शिष्य थे—संन्यासी और गृही। गीर्वाणेन्द्र के मुख्य शिष्य का नाम विद्वद्गीर्वाण था। विद्वद्गीर्वाण के शिष्य का नाम विबुधेन्द्र, विबुधेन्द्र के शिष्य का नाम सुधीन्द्र और सुधीन्द्र के शिष्य का नाम मन्त्र-गीर्वाण था। मन्त्रगीर्वाण के गृही और संन्यासी दोनों प्रकार के शिष्य थे। आनन्दतीर्थ के सभी शिष्य गृही थे। वे लोग पादुकापीठ की आराधना करते थे। सुन्दराचार्य के तीन प्रकार के शिष्य थे—पीठनायक, संन्यासी और गृही। विष्णुशर्मा के शिष्य का नाम प्रगल्भाचार्य था। ये विद्यार्णवग्रन्थकार प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे। ग्रन्थ में लिखा है कि इस ग्रन्थ के पूर्ण होने पर जगद्धात्री महामाया उनके सामने प्रकट होकर बोलीं—वत्स, वर माँगो। जगद्धात्री को सामने खड़ी देखकर उन्होंने कहा—हे माता, यदि कोई साधक केवल हमारे ग्रन्थ के आधार पर गुरुक्रम और मन्त्रादि देखकर मुझे गुरु मानते हुए भक्तिपूर्वक जप करे, तो दीक्षित न होने पर भी उसको सिद्धि प्राप्त हो।

देवी ने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुमोदन किया।

लक्ष्मणाचार्य की तपस्या, विद्या और श्री असाधारण थी। चौथी अवस्था में वीतराग होकर वे इधर-उधर देशाटन करने लगे। इसी समय में घूमते-घूमते वे एक दिन प्रौढदेव नामक किसी राजा की राजधानी में पहुँचे। प्रौढदेव ने उनके लिये रहने का स्थान, अन्न, भूषण और परिचारकों का प्रबन्ध कर दिया। एक दिन राजा की सभा में जिस समय लक्ष्मण उपस्थित थे, उस समय वणिकों ने द्वीपान्तर से प्राप्त हुई

१. इस नामावली के किसी-किसी अंश में विचित्रता दीख पड़ती है—(१) शक्ति और पराशर में आनन्तर्य नहीं है, बीच में दो पुरुषों का व्यवधान है; (२) पराशर और शुक के बीच में वेदव्यास का नाम नहीं है, परन्तु शुक के पिता वेदव्यास का नाम शुक के चार शिष्यों के बाद दिया गया है।

वस्त्रादि बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ राजा को भेंट की। राजा ने उन लोगों के द्वारा दिये गये मूल्यवान् वस्त्र आचार्य लक्ष्मण को दे दिये। आचार्य लक्ष्मण उन्हें लेकर अपने वासस्थान पर चले आये। कुण्ड में अग्नि की स्थापना करके उन्होंने अग्नि में वस्त्रों की आहुति दे दी। प्रौढदेव के पास जब यह खबर पहुँची, तब उन्होंने वस्त्र लौटाने अथवा उनका मूल्य भेज देने की प्रार्थना करते हुए उनके पास दूत के द्वारा सन्देश भेजा। यह सुनकर लक्ष्मण को क्रोध आया, उन्होंने 'ब्रह्मस्वापहारक' कहकर राजा को शाप दिया कि तुम निवेश हो जाओ। इसके बाद लक्ष्मण ने अपने इष्टदेवता से प्रार्थना करके वस्त्र लौटा दिये। इसके पश्चात् लक्ष्मण प्रौढदेव के नगर को छोड़कर दक्षिण की ओर चले गये। लक्ष्मण की अलौकिक शक्ति की बात सुनकर प्रौढदेव का चित्त उद्विग्न हुआ और उनके पास जाकर उनमे क्रोध की शान्ति के लिये प्रौढदेव ने विनयपूर्वक बहुत प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर लक्ष्मण ने उससे कहा कि तुम्हें पुत्र होगा, परन्तु उससे तुम सुखी नहीं होगे। तदनन्तर समय पाकर सिद्ध महात्मा के वर के अनुसार राजा के एक कुमार उत्पन्न हुआ। लेकिन पुत्र होते ही राजा का देहावसान हो गया। प्रसिद्धि है कि उस समय इस ग्रन्थ के रचयिता प्रजा के अनुरोध से राजकुमार के प्रतिनिधि-रूप में राजभार लेकर उनका शासन करने लगे और उन्होंने श्रीचक्र के आकार में नगर स्थापित कर उसका श्रीविद्यानगर नाम रक्खा। उसके बाद राजकुमार के वयःस्थ होने पर अम्बदेव नाम से उसे राजगद्दी पर बैठाया और उसी के आदेश से उसकी सभा की विद्वन्मण्डली की प्रार्थना से भगवती से आदेश लेकर प्राचीन आगमग्रन्थ[1], यामलग्रन्थ प्रभृति का विशेषरूप से आलोचन करते हुए तथा कादि मत और हादि मत दोनों के सूक्ष्म रहस्य का अनुसरण करते हुए उन्होंने इस विशिष्ट ग्रन्थ का निर्माण किया।

मल्लिकार्जुन के अधिकांश शिष्य विन्ध्यदेश में रहते थे। इसी प्रकार त्रिविक्रम के शिष्य जगन्नाथक्षेत्र में, श्रीधर के शिष्य गौड, मिथिला तथा बंग देश में और कपर्दी के शिष्य काशी, अयोध्या प्रभृति देशों में रहते थे।

केशव और दामोदर के विषय में ग्रन्थ में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता।

●

१. तन्त्रराज, मातृकार्णव, त्रिपुरार्णव, योगिनीहृदय इत्यादि।

आदि-गुरु दत्तात्रेय एवं उनके सम्प्रदाय का दार्शनिक मतवाद[1]

(१)

भारतीय अद्वैत-साधना के इतिहास में अवधूतप्रवर आदिगुरु परमहंस श्रीदत्तात्रेय का नाम चिरप्रसिद्ध है। 'खण्डन-खण्डखाद्य' के रचयिता श्रीहर्ष ने स्वरचित 'नैषधीयचरित' काव्य में (२१।९४) उन्हें 'अद्वयमयेऽध्वनि सरन्तम्', अर्थात् अद्वैतमार्ग में स्थितिशील कह कर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया है। 'शिशुपालवध' काव्य में (१४।७९) कविवर माघ ने 'अविनाशिविग्रह' अथवा सिद्धदेह-सम्पन्न कह कर उनका उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि गुरु-परम्परा का उच्छेद होने के कारण जिस समय सारी श्रुतियाँ लुप्तप्राय हो गईं थी, उस समय भगवान् ने वैदिक धर्म की रक्षा हेतु अपनी अप्रतिहत स्मृति-शक्ति के द्वारा सभी लुप्त श्रुतियों का उद्धार करने के अभिप्राय से अत्रिमुनि से देवी अनुसूया के गर्भ में जन्म ग्रहण किया था[2]। 'ब्रह्मपुराण' में (२१३। १०६-११०) कुछ इसी प्रकार की बातें मिलती हैं; क्योंकि वहाँ वर्णन आता है कि वैदिक धर्म के ह्रास के समय विष्णु दत्तात्रेय का रूप धारण करके इस धर्म और समाज की स्थापना करते हैं। 'हरिवंश' में (१-४१), 'महाभारत' में (कुम्भकोणम् संस्करण, पृ० ४८) में और विष्णुधर्मपुराण' (१-२८) में भी इसी तथ्य का समर्थन प्राप्त होता है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में प्राप्त उल्लेखानुसार दत्तात्रेय वासुदेव या विष्णु के अनेक विभवों में से एक थे (५-५०)। श्रीकृष्णयामलतन्त्र में भी दत्तात्रेय की गणना अवतारों में की गई है।

भगवान् दत्तात्रेय केवल महायोगी अथवा महाज्ञानी ही नहीं थे, आत्मविद्या के उपदेशकों में वे अग्रणी थे। उन्होंने अलर्क, प्रह्लाद, यदु, कार्तवीर्य प्रभृति को आन्वीक्षिकी अथवा आत्मविद्या प्रदान की थी (भागवत १।३-११)। मदालसा के पुत्र अलर्क

---

१. इस विषय पर श्री कविराज जी के दो निबन्ध अलग-अलग 'आनन्दवर्ता' तथा 'कल्याण' नामक पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। 'आनन्दवार्ता में यह 'आदिगुरु दत्तात्रेय' शीर्षक से क्रमशः खण्ड २ संख्या २ के पृष्ठ १५८-१६०, खण्ड २ संख्या ४ के पृष्ठ ३५६-३५९ एवं खण्ड ३ संख्या १ के पृष्ठ ३६-४० में तथा 'कल्याण' के भाग २४ संख्या ९ के पृष्ठ १३७१-१३७७ में 'दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का दार्शनिक मतवाद' शीर्षक से प्रकाशित है। इन दोनों की विषय-वस्तु में साम्य होने से इन दोनों निबन्धों को यह शीर्षक देते हुए इन्हें सम्मिलित रूप से सम्पादित करके प्रस्तुत किया गया है—सम्पादक।

२. अनुसूया कर्दम ऋषि की कन्या तथा कपिल की बहन थीं। उनके गर्भ से विष्णु के अंश से दत्त, शिव के अंश से दुर्वासा तथा ब्रह्मा के अंश से चन्द्रमा ने जन्म ग्रहण किया था।

को उन्होंने आत्मा, योगधर्म, योगिचर्या, योगसिद्धि और निष्काम बुद्धि आदि के उपदेश के साथ परमयोग या ब्रह्मविद्या को प्रदान किया था, यह 'मार्कण्डेयपुराण' (अध्याय ३५-३८) में वर्णित हैं। 'ब्रह्मपुराण' (अध्याय १८०-८२) में उल्लेख है कि उन्होंने अलर्क को अष्टाङ्गयोग का उपदेश दिया था। महाभारत (अश्वमेधपर्व के ३० वें अध्याय में) में भी अलर्क के योगशिक्षा प्राप्त करने का वर्णन मिलता है, किन्तु वहाँ पर दत्तात्रेय के नाम का उल्लेख नहीं है। कयाधु के पुत्र प्रह्लाद को श्रीदत्तात्रेय ने वैराग्य और सन्तोष की महाशिक्षा देकर उनका ज्ञानमार्ग प्रशस्त किया था। ययाति के पुत्र यदु को जीवन की सब प्रकार की शिक्षाएँ श्रीदत्तगुरु से ही प्राप्त हुई थीं[1]।

इस प्रकार क्षीणप्राय वैदिक धर्म में प्राण-शक्ति का सञ्चार करना ही दत्तात्रेय के रूप में भगवान् विष्णु का आंशिकरूप से अवतार लेने का मुख्य कारण है तथा विभिन्न पुराणों, काव्यों तथा प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थों में सर्वत्र ही उनकी महिमा उज्ज्वल-रूप में वर्णित है।

दत्तात्रेय शिव के उपासक थे। उनकी 'सोमनाथ' ग्रामक शिव की स्तुति का वर्णन 'ब्रह्मपुराण' (११७ वाँ अध्याय) में है। पिता की आज्ञा से वे गौतमीश्वर तीर्थ में जाते हैं और वहाँ पर शिव की आराधना करते हैं। शिव जी प्रसन्न होकर उनको ज्ञान और मुक्ति प्रदान करते हैं और उस तीर्थ का नाम 'आत्मतीर्थ' रखते हैं।

पुराणों के आलोड़न से ज्ञात होता है कि हैहयवंशी राजा कार्तवीर्य गर्ग मुनि की आज्ञानुसार दत्तात्रेय के आश्रम में जाकर विधिपूर्वक उनकी सेवाशुश्रूषा में निरत हुए थे। उनकी परिचर्या से प्रसन्न होकर श्रीदत्तगुरु ने उन्हें कई वरदान और धर्मोपदेश दिये। इन वरदानों में युद्ध के लिये सहस्र बाहुओं की प्राप्ति, सार्वभौमत्व और सुशासन, अच्छे योद्धा के हाथ से मृत्यु—ये तीन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। तन्त्र-शास्त्र में कार्तवीर्य का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि के मूल में श्रीदत्तगुरु का अनुग्रह निहित है, इसमें सन्देह नहीं है।

दत्तात्रेय महायोगी थे। भागवत (६।८।१६) में उनको 'योगनाथ' कहा है। मार्कण्डेयपुराण (अ० १७ आदि) में लिखा है कि वे कामविलास में मग्न होकर भी निर्विकार हैं, संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त रहते हैं और मत्त न होते हुए भी मत्त की भाँति आचरण करते हैं[2]। वे अवधूत परहंस हैं। जाबाल उपनिषद् में उनको संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, रैवतक प्रभृति के समान अव्यक्त, निर्वसन

१. एकनाथ-कृत महाराष्ट्रीय भागवत में यदु-अवधूत-संवाद में दत्तात्रेय से यदु की दीक्षा लेने की कथा कही गई है। यह दीक्षा योगशास्त्र में स्पर्श-दीक्षा के नाम से परिचित है। कहा गया है कि सद्गुरु दत्तात्रेय ने आविर्भूत होकर यदु का प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया। उस आलिङ्गन के साथ-ही-साथ क्षण भर में यदु को प्रपञ्च का विस्मरण और स्वरूप-ज्ञान हो गया।

२. कई स्थानों में इन्हें मद्यप्रिय कहा गया है; परन्तु 'अवधूतगीता' में मद्य और स्त्री-सङ्ग की निन्दा की गई है।

तथा अव्यक्ताचार परमहंस कहा गया है; जो उन्मत्त न होकर उन्मत्त के समान आचरण करते हैं (अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति[1])।

स्वयम्भू मन्वन्तर के पूर्व सत्ययुग में दत्तात्रेय अवतीर्ण हुए थे। संसार के जीवों की आर्ति और ताप का नाश करने के लिए ही वे स्वेच्छा से जगत् में प्रकट हुए थे। इसलिए जब तक जगत् में आर्ति और ताप विद्यमान रहेंगे तब तक वे देह-त्याग न कर एक ही भाव और एक ही देह से विद्यमान रहेंगे। इसलिए महाप्रलय तक उनकी स्थिति मानी जाती है। राम, कृष्ण आदि अवतार पृथिवी का भार हरने के लिये आते हैं एवं यथासमय रावण, कंस आदि विरोधी शक्तियों के सब मूर्तिमान् विग्रहों का विनाश कर स्वेच्छामय शरीर का त्याग करते हैं। भागवत में लिखा है (१।१५।३०) जिस शरीर के द्वारा भगवान् ने भू-भार का हरण किया था, उस शरीर का उन्होंने त्याग किया था—'तां तनुं विजहौ'। काँटे से काँटा निकाल कर जैसे काँटा फेंक दिया जाता है, भगवान् का वह त्याग भी बहुत कुछ वैसा ही है। श्रीदत्त शरणागत की आर्ति दूर करने के लिये जगत् में आये हैं, इसलिए उन्हें कल्प की समाप्ति होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वे स्मरण करते ही भक्तों को दर्शन देकर यथासम्भव उनके दुःख की निवृत्ति करते हैं। दत्तात्रेय-तापिनी-उपनिषत् में लिखा है कि सत्यक्षेत्र में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के संशय को दूर करने के लिए भगवान् नारायण ने अपने को दत्त के रूप में प्रसिद्ध कर महासायुज्य और तारक तत्त्व के सम्बन्ध में समुचित उपदेश दिया था।

विष्णुदत्त, राजा आयु, साध्य देवगण, दलादन नाम के मुनि आदि अनेक विशिष्ट पुरुष सद्गुरु श्रीदत्तात्रेय की कृपा प्राप्त कर धन्य हुए हैं। प्रसिद्धि है कि भगवान् दत्तात्रेय ने महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका माता के स्नेह के कारण जमदग्नि के और्ध्वदेहिक कर्म में आचार्यपद ग्रहण किया था। कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने जिस समय जमदग्नि की हत्या की उस समय रेणुका देवी की प्रार्थना से उन्होंने उन्हें समयोचित परामर्श प्रदान किया था।

जमदग्नि और रेणुका के पुत्र भगवान् परशुराम ने दत्तात्रेय से भगवती त्रिपुरा-सुन्दरी का माहात्म्य सुनकर उनकी उपासना विधि जानने की इच्छा प्रकट की थी। परशुराम जी ने विधिपूर्वक त्रिपुरासुन्दरी की साधना में दत्तात्रेय से दीक्षा प्राप्त की एवं दीक्षा के अनन्तर गुरु के उपदेशानुसार बारह वर्षों तक दक्षिण प्रदेश में महेन्द्र पर्वत के शिखर पर स्थित आश्रम में तपस्या की थी। तपस्या करते-करते उनके चित्त में परमतत्त्व का रहस्य जानने के लिए विचार उदित हुआ। उस विषय में सदुपदेश और यथार्थ समाधान के लिए वे गुरु के समीप गये। परशुराम को पहले संवर्त से श्रीमाता के सम्बन्ध में कुछ-कुछ उपदेश प्राप्त हुआ था। संवर्त अवधूतों में अग्रगण्य थे। परशुराम श्रीरामचन्द्रजी से पराजित होने के अनन्तर, अर्थात् त्रेतायुग में श्रीमाता के रहस्य के सम्बन्ध में साक्षात्रूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकुल हुए

१. पराशरमाधव के दूसरे अध्याय में माधवाचार्य ने यह उद्धृत किया है।

थे एवं समय पर उक्त ज्ञान गुरु की कृपा से उन्हें प्राप्त हुआ था। दत्तात्रेय ने परशुराम को जो ज्ञान दिया था, वह उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति न थी—वह संवर्त के प्राचीन उपदेश का ही संक्षिप्त संस्करण-मात्र था। इसलिए कहना पड़ेगा कि भगवती त्रिपुरा का रहस्य-कीर्तन पहले संवर्त ने किया, उसके बाद किया दत्तात्रेय ने; एवं दत्तात्रेय के पश्चात् परशुराम ने उसे प्रकाशित किया।

कहा जाता है कि दत्तसंहिता नाम से दत्तात्रेय के उपदेशों से पूर्ण १९००० श्लोकों में रचित एक ग्रन्थ था। परशुराम ने स्वयं उस ग्रन्थ को पढ़ा था और ६००० सूत्रों में उसका सार संकलित किया था। उक्त ग्रन्थ ५० खण्डों में विभक्त था। परशुराम के शिष्य सुमेधा ने दत्तात्रेय-परशुराम-संवाद के रूप में उक्त संहिता और सूत्रों के सारांश का संकलन किया था।

मध्ययुग में नाथसम्प्रदाय के नेता गोरखनाथ ने दत्तात्रेय से बहुत शिक्षाएँ प्राप्त की थीं। नाथसम्प्रदाय में प्रचलित ज्ञानदीप नामक पोथी में इसका विवरण मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि दत्तात्रेय और गोरक्षनाथ दोनों परस्पर एक दूसरे के प्रति श्रद्धा रखते थे। दत्तात्रेय नारायण के रूप थे, एवं गोरक्ष थे शिव के रूप; इसलिए दोनों हरिहर-रूप थे, यह कहना पिष्टपेषण के तुल्य है। इस प्रसंग के दत्तात्रेय ने सहज समाधि के सम्बन्ध में विशेष व्याख्या की थी, ऐसा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त भी दत्तात्रेय-गोरक्ष के संवाद के सम्बन्ध में कुछ-कुछ विवरण मिलता है। यहाँ पर उसके सम्बन्ध में आलोचना करना अनावश्यक है।

दत्तात्रेय का कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। साधु-समाज में प्रसिद्धि है कि वे सह्याद्रि की तलहटी में रेणुकापुर अथवा मातृपुर नामक स्थान में प्रतिदिन रात्रि को विश्राम करते हैं। सह्याद्रि के शिखर पर उनका निवास-स्थान है। उक्त स्थान में उनकी पीठ है। काशी अथवा वाराणसी क्षेत्र में वे प्रतिदिन गंगास्नान करने आते हैं। वारहाटक नामक स्थान में वे अर्घ्यदान करते हैं, एवं प्रातःसंध्या समाप्त करते हैं। महालक्ष्मी के पीठस्थान कोलापुर अथवा दक्षिण काशी मे वे भिक्षाग्रहण करते है एवं पाञ्चालपुर में मध्याह्न भोजन करते हैं। विट्ठलपुर में अर्थात् भीमा नदी के तट पर स्थित पाण्डुरंगपुर में वे पत्ररचना या तिलक-सेवा करते हैं; गान्धर्वपुर में सायंकृत्य समाप्त कर विश्राम करते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रतिदिन सूर्योदय से पुनः सूर्योदय-पर्यन्त किसी न किसी कर्म के बहाने वे सम्पूर्ण भारतवर्ष की परिक्रमा करते हैं। इसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं हैं, क्योंकि सिद्धदेह में देश और काल का व्यवधान गति का बाधक नहीं होता।

(२)

'भागवत के' ११ वें स्कन्ध में दत्तात्रेय के २४ गुरुओं का वर्णन मिलता है। 'अवधूतगीता' और 'जीवन्मुक्ति-गीता के' उपदेष्टा के रूप में दत्तात्रेय प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ग्रन्थ अनेकों स्थानों में मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम ग्रन्थ में ८

अध्याय तथा दूसरे ग्रन्थ में २३ अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त 'कायबोध' नामक एक ग्रन्थ मिलता है जो सजनि नामक आचार्य-रचित-प्रसिद्ध है। उसमें दत्तात्रेय के सिद्धान्त वर्णित हैं। इस नाम का और भी एक ग्रन्थ उपलब्ध होता है, वह भी दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का है। उसके ऊपर नीलकण्ठ चतुर्धर की 'प्रकाश' नाम की एक टीका है। इसका अभी प्रकाशन नहीं हुआ है। इसके सिवा 'अद्वैत-श्रुतिसार' नाम का एक ग्रन्थ है, जो दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का श्रेष्ठ ग्रन्थ जान पड़ता है। इस ग्रन्थ में १६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पुष्पिका है। इसमें ग्रन्थ-लेखक का नाम नहीं है, परन्तु उसने अपना परिचय 'श्रीमदादि-गुरु-दत्तात्रेयदिगम्बरचरणानुचर' के नाम से दिया है। यह ग्रन्थ भी अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

दत्तात्रेय की स्वनिर्मित 'दत्तसंहिता' इस समय उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका सारांश, जिसका सुमेधा ऋषि ने संकलन किया था, मिलता है।

भारतीय-धर्म-सम्प्रदाय के इतिहास, साधना और सिद्धान्त के विषय में जो आलोचना करना चाहेंगे, उनको दत्तात्रेय के सम्बन्ध में उपलब्ध सारी सामग्री समान आदरपूर्वक ग्रहण करके व्यवहार में लानी होगी। विल्सन, अक्षयकुमार दत्त, फरकुहर आदि किसी ने भी दत्तात्रेय के मत की आलोचना नहीं की है। इसका प्रधान कारण सामग्री का अभाव ही जान पड़ता है।

जनश्रुति है कि चौदहवीं शताब्दी में नरशिव सरस्वती नामक एक ब्राह्मण संन्यासी ने दत्तात्रेय के नाम से एक सम्प्रदाय चलाया। निज़ाम राज्य में गङ्गापुर नामक स्थान के साथ, और 'नरसोवाची वाड़ी' नामक स्थान के साथ उसकी स्मृति सम्बन्धित है। उनके शिष्य गङ्गाधर सरस्वती ने 'गुरुचरित्र' नामक एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें दत्तात्रेय की जीवनी वर्णित है।

मानभवगण भी दत्तात्रेय को अपने सम्प्रदाय का आदि पुरुष मानते हैं। वर्तमान युग में परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री वासुदेवानन्द सरस्वती सद्गुरु दत्तात्रेय के एक सिद्ध भक्त हुए हैं। श्रीदत्तगुरु के आदेश से उनके द्वारा निर्मित 'शिक्षात्रय' नामक संस्कृत ग्रन्थ में दत्तगुरु के माहात्म्य की चर्चा प्रसङ्गतः कुछ की गयी है। वह ग्रन्थ हाल में ही पूना से प्रकाशित हुआ है।

(३)

हम इस निबन्ध में 'श्रुतिसार' के आधार पर दत्तात्रेय-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन करने की चेष्टा करेंगे।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार शरीरों का विवरण अवधूत योगी लोग किया करते हैं। परमात्मा के स्थूल देह को विराट् कहते हैं। यह चतुर्दश-भुवनात्मक है[1]। इस शरीर की नाभि से पैर तक सप्त पाताल हैं तथा मस्तक-पर्यन्त

---

१. भूमण्डल को वेष्टन करके एक के आगे दूसरा जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और महत्तत्त्व का मण्डल विद्यमान है। आन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल क्रमशः दसगुना विस्तृत है।

सप्त स्वर्ग हैं; जठर-स्थान में बाडवानल है; दंष्ट्रा-स्थान में यम और कुक्षि में सप्त सागर हैं। ये विराट् पुरुष हैं।

परमात्मा के सूक्ष्म देह को हिरण्यगर्भ कहते है, यह पाँच कर्ता और पन्द्रह करणों की समष्टि है। अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये पाँच कर्ता हैं। ये सत्त्वात्मक ज्ञानमय और परम सूक्ष्म हैं—ये अण्ड में असङ्गता के कारण पृथक् रहते हैं। श्रोत्रादि पाँच ज्ञानकरण, वाग् आदि पाँच कर्मकरण तथा प्राणादि पाँच वायु चेष्टाकरण—कुल पन्द्रह करण हैं। ये पूर्वोक्त पाँच कर्ताओं से वस्तुतः पृथक् नहीं हैं, कर्ता और करण-स्वरूप पूर्वसिद्ध ये सारे तत्त्व ज्ञानात्मक, अव्यक्त और स्थूलांश के आश्रय होने के कारण स्थूलांश से विलक्षण हैं।

अन्तःकरण (सत्त्व) के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मन (रजःसत्त्व) के चन्द्रमा हैं, बुद्धि (रजोगुण) के ब्रह्मा हैं, चित्त (रजस्तमः) के क्षेत्रज्ञ हैं तथा अहङ्कार (तमः) के रुद्र हैं। ज्ञानादि करणों के अधिष्ठाता प्रचलित वेदान्तादि मत के अनुसार हैं, जैसे श्रोत्र के दिक्, त्वक् के वायु आदि[1]।

उपर्युक्त ये दोनों देह महत्तत्त्व के अभिव्यक्त रूप हैं। अवधूतमत से अव्यक्त और निर्विकल्पात्मक मायाप्रधान ज्ञान का नाम महत्तत्त्व है। यह सविकल्प और व्यक्तावस्था को प्राप्त होकर सावयव, साकार और सगुण भाव अवलम्बन करके धर्मकर्मात्मक स्थूल और सूक्ष्म देह के रूप में परिणत होता है।

इस उभय देह का कारण माया है। यह तमोमयी है तथा ईश्वर के स्व-स्वरूप की अस्फूर्ति और अनवधानस्वरूप है। इसे कारणदेह कहते हैं। इन तीनों देहों की कारण महामाया हैं। वही महाकारण देह है, 'ब्रह्मैवाहम्'—इस प्रकार सर्वेश्वर के अपने स्वरूप का ज्ञान ही महामाया का लक्षण है।

जब यह स्व-स्वरूपज्ञान तिरोहित हो जाता है, तब शुद्ध ज्ञप्तिमात्र का स्फुरण रहता है। यह सब प्राकृत गुणों की साम्यावस्था और आनन्द अथवा निर्गुण स्वरूप है। यही वेदान्त का ब्रह्म है। सांख्य का गुणसाम्य तथा अवधूत योगी के मत से सर्वेश्वर की स्वान्दमयी प्रज्ञानमयी निर्विकल्प (पूर्णब्रह्म में) आत्मस्थिति है।

पृथ्वीतत्त्व इस प्रकार सात आवरणों से युक्त है, अन्तःशून्य और अण्डाकार है। इस पृथ्वी-तत्त्व में २५ सूक्ष्म तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। उनमें '१ कर्ता, १५ करण और ५ वासनामय विषय हैं, जिनके गुणों के द्वारा कल्पित कार्य ५ स्थूल विषय या ५ महाभूत हैं। इस अण्ड में पाञ्चभौतिक कर्दमपिण्ड उत्पन्न होता है। वह भीतर से जल के द्वारा पिण्ड बनकर सहचर अग्नि के द्वारा सूखता है और घट के समान जान पड़ता है। इसी कारणवश योगी लोग इसे 'घट' कहा करते हैं। इसमें वायु अन्तर्गत रहती हैं; यह अन्तःशून्य होता है। स्थूल विषयों के अनुसन्धान के लिये यह बाहर से सच्छिद्र होता है।

१. चक्षु के सूर्य, रसना के वरुण, प्राणों के दोनों अश्विनीकुमार, वाक् के अग्नि, पाणि के इन्द्र, पाद के त्रिविक्रम, शिश्न के प्रजापति और पायु के नैर्ऋति हैं।

(४)

परमेश्वर जब अपनी आनन्दमयी निष्ठा को छोड़कर प्रज्ञान या स्व-स्वरूपानुसन्धान को ग्रहण करते हैं तब सृष्टि का सूत्रपात होता है। सृष्टि के लिये उन्मुख होने की उनकी यह अवस्था अवधूत-सम्प्रदाय में 'शबल' नाम से प्रसिद्ध है। परब्रह्म के इस स्व-स्वरूपज्ञान या महामाया-स्वरूप का आवरक होने के कारण इसे शरीर कहते हैं। यही उनका स्वरूप सर्वज्ञत्व है, जो स्थूलादि तीनों देहों के उत्पन्न होने पर उनके साक्षीरूप में वर्तमान रहता है। यह मायामय शरीर, स्वरूपसर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व मायामय विशुद्ध सत्त्व का परिणाम है। विशुद्ध सत्त्व शुद्ध स्व-स्वरूप का प्रकाशक तथा प्रणव पुरुष का बीज है, जो नाद के द्वारा अभिव्यक्त होता है। सृष्टि के इस अंश को योगी लोग 'अर्द्धमात्रा' के नाम से वर्णन करते हैं।

इसके बाद सर्वेश्वर के स्व-स्वरूप का अनवधान (विस्मरण) हो जाता है, परन्तु स्व-स्वरूपानुसन्धान की अवस्था उस समय भी अक्षुण्ण बनी रहती है। यह अनवधान ही अव्यक्त और मायाशरीर है। मायाशरीर में जब ईश्वर की पूर्वापरवृत्ति लय हो जाती है, तब उसे प्रलय कहते हैं। मायाशरीर और प्रलयावस्था का अभिमानी और प्रकाशक सर्वेश्वर की रुद्रमूर्ति है। मायाशरीर, प्रलयावस्था और रुद्र अप्रकाशमय तथा तमःस्वरूप हैं। यह तमोगुण प्रणवपुरुष का ही तृतीय पाद या 'म्' कार है।

भगवान् के माया-प्रधान ज्ञान को महत्तत्त्व कहते हैं। वह निर्विकल्प होता है। और गुण-दोष के वश अहङ्कार में परिणत होकर, पश्चात् कर्ता, करण और कार्यरूप तीन प्रकार के तत्त्वों में परिणत होता है और देवतारूप में प्रकाशित होता है। यही परमात्मा का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ है। प्रलय से लेकर उत्थानकाल तक परमात्मा इसी शरीर में अवस्थान करते हैं। यह अवस्था कुछ-कुछ निद्रा से उठने के समान होती है। हिरण्यगर्भदेह का अभिमानी कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता सर्वेश्वर की विष्णुमूर्ति है।

अतएव हिरण्यगर्भ-शरीर, स्थिति और विष्णुमाया प्रधान सत्त्व है—माया-प्रधान स्फुरण है। इसके ही कारण प्रपञ्चोन्मुखता होती है। तमोद्वार (मायानामक दूसरी अवस्था) पर शुद्ध सत्त्व के आत्मप्रकाश में ही मायिक सत्त्व का आविर्भाव होता है। यही प्रपञ्चज्ञान है। मायिक सत्त्व प्रणवपुरुष का द्वितीय पाद अर्थात् 'उ'कार है।

प्रपञ्चोन्मुखता और गुण-क्रिया के वश होकर हिरण्यगर्भ कर्त्ता, करण और कार्यस्वरूप बनते हैं तथा कार्य में अन्वित होने के कारण पाञ्चभौतिक रूप धारण करते हैं। यह पाञ्चभौतिक शरीर चतुर्दश भुवनात्मक होता है और 'विराट्' कहलाता है, जिसमें सर्वेश्वर विश्वोत्पत्ति की अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस शरीर का अभिमानी और कर्त्ता सर्वेश्वर की ब्रह्मामूर्ति है। विराट्शरीर, उत्पत्ति-अवस्था और ब्रह्मा क्रियात्मक और रजोगुण हैं। यहाँ रजोगुण ही प्रणवपुरुष का प्रथम पाद अर्थात् 'अ'कार है।

तमोगुण में स्वरूप की सर्वज्ञता का सुप्त हो जाना ही प्रलय है, प्रलय से पुनः स्फूर्ति ही स्थिति है तथा कार्यावस्था में विश्वसृजन ही उत्पत्ति है। स्वयं सर्वेश्वर प्रलयावस्था में मायादेह में 'रुद्र', स्थितिकाल में हिरण्यगर्भदेह में 'श्रीविष्णु' तथा उत्पत्तिकाल में विराट् देह में 'ब्रह्मा' होते हैं।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट होता है कि अवधूत-मत में परमेश्वर की आत्मस्वरूप में स्थिति पूर्णानन्दमय, प्रज्ञानमय और विकल्पहीन है। इस अवस्था का पूर्णब्रह्म के रूप में वर्णन कर सकते हैं। इस अवस्था में शुद्धज्ञान-मात्र का स्फुरण रहता है। वास्तव में एकमात्र स्वप्रकाश आत्मा ही अपने मे आप ही विराजमान रहते हैं। यह ब्रह्म की स्वरूप अवस्था है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपना स्वरूपज्ञान इस अवस्था में नहीं रहता है। केवल यही नहीं, इस अवस्था में अपने स्वरूप का अस्फुरण अथवा अज्ञान भी नहीं रहता है। वस्तुतः यह अवस्था ज्ञान और अज्ञान दोनों से ही परे है।

सृष्टि के सङ्कल्प के साथ-साथ परमेश्वर स्वतन्त्रता से उक्त आनन्दमय निष्ठा का त्याग कर, वस्तुतः त्याग न करके भी त्याग का स्वांग रचकर, प्रज्ञान अथवा स्व-स्वरूपज्ञान का अवलम्बन करते हैं। उस समय वे 'मैं ब्रह्म हूँ' यों अपने को जानते हैं। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो यही सृष्टि की आदि अवस्था है। यह जो 'मैं' बोध के रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान है, इसी का नाम महामाया है। यही उनका महा-कारण-शरीर है। पूर्ण ब्रह्मस्वरूप वस्तुतः महामाया के अतीत है। उसमें देहकल्पना नहीं है, किन्तु महाकारण देह के साथ-साथ सृष्टि की सूचना होती है। यह सृष्टि की उन्मुखावस्था है। यह विशुद्ध ब्रह्मावस्था नहीं है, शुद्ध माया के साथ ब्रह्म को योगा-वस्था अथवा 'शबल' अवस्था है। परब्रह्म का यह निज स्वरूप-ज्ञान स्वरूप-सर्वज्ञत्व के नाम से अवधूत समाज में प्रसिद्ध है। यही महामाया है। वह उनके स्वरूप के आवरण के रूप होने के कारण उनके शरीररूप से कल्पित है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों के उत्पन्न होने के अनन्तर यह उनके साक्षो रूप में विद्यमान रहता है।

यह महामाया-शरीर अथवा महाकारण-शरीर, अर्थात् पूर्ण ब्रह्म के सर्वेश्वरत्व मायामय विशुद्ध सत्त्व का परिणाम है, जो एक मात्र स्व-स्वरूप को प्रकाशित करता है। जब नाद से इसे महाकारण शरीर की अभिव्यक्ति होती है तब इसी से प्रणवपुरुष उत्पन्न होते हैं। इसीलिए उसको प्रणवपुरुष का बीज कहा जाता है। यह विशुद्ध सत्त्व प्रणवपुरुष का चौथा पाद है, जो योगियों के समाज में अर्धमात्रा के रूप में परिचित है।

इसके अनन्तर सृष्टि के अधिक विकास के लिए परमेश्वर अपने में अपने को तिरोहित करते हैं, अर्थात् स्वयं चैतन्यमय रह कर भी अपने में अपने को भूल जाते हैं—अपने स्वरूप की ओर उस समय उनका ध्यान मानों नहीं रहता है। वस्तुतः अपने स्वरूप की अनुसन्धानावस्था पूर्ववत् अकुण्ठित ही रहती है। यद्यपि उनका नित्य स्वरूप ज्ञान विद्यमान रहता है तो भी उनमें अचिन्त्यरूप से स्वरूप का ध्यान जाग उठता है। इसी का नाम अव्यक्त अथवा ईश्वर का माया-शरीर है। इस माया-शरीर

में जब उनकी पूर्वापर वृत्ति लीन हो जाती है तब उस अवस्था को प्रलय कहा जाता है। इस शरीर और इस अवस्था के अभिमानी तथा प्रकाशक जो है वह परमेश्वर की रुद्रमूर्ति है। ये तीन अप्रकाश या तमोमय हैं। यह तमोगुण प्रणवपुरुष का तृतीय पाद है अथवा 'म'-कार माया-शरीर या कारण-शरीर के नाम से सर्वत्र परिचित है।

अवधूत-मत में भगवान् के माया-प्रधान ज्ञान को महत्तत्त्व कहते हैं। वह अव्यक्त और निर्विकल्प है। वह अहंकार में परिणत होकर क्रमशः कर्ता, करण और कार्य का रूप धारण कर तथा देवता रूप का अवलम्बन कर अपने को प्रकट करता है। यह अविकल्प और व्यक्त अवस्था है। इस अवस्था में आकार अवयव और सगुण भाव का उदय होता है। यही परमात्मा का सूक्ष्म शरीर अथवा हिरण्यगर्भ है। परमात्मा जब प्रलयावस्था से उठते हैं तब इस हिरण्यगर्भ नामक सूक्ष्म-शरीर में ही उनकी स्थिति होती है। यह निद्रा से जागने की अनुकूल अवस्था है। हिरण्यगर्भदेह के अभिमानी कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता परमेश्वर की विष्णुमूर्ति है। इसीलिए कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ-शरीर, स्थिति और विष्णु माया-प्रधान सत्त्व अथवा स्फुरण हैं। यह प्रपञ्चोन्मुख अवस्था है। विशुद्ध सत्त्व जब तम के द्वारा अथवा तम का अवलम्बन कर अपने को प्रकट करता है, तब यह मायिक-सत्त्व उत्पन्न होता है। प्रपञ्च-ज्ञान इसी का नामान्तर है। मायिक-सत्त्व प्रणवपुरुष का दूसरा पाद अथवा 'उ' कार है।

(५)

सृष्टि के पहले एकमात्र ब्रह्मा ही थे, वह विराट् शरीर के अभिमानी हैं। उन्होंने स्थूल प्राण के बल की सहायता से तथा अपने विराट् शरीर में स्थूल ज्ञानकरण और कर्मकरण में अधिष्ठित होकर नेत्र खोल दिये, बहिर्मुख हो गये और देखने लगे। उस समय कोई दृश्य न था। इस दृश्याभावरूप शून्य का दर्शन करने तथा माया की प्रधानता के कारण वे अपने पूर्वरूप को भूल गये और डर गये। ठीक उसी प्रकार, जैसे मरुभूमि में चलनेवाला कोई निःसहाय पथिक कभी-कभी किसी दूसरे की सम्भावित आशङ्का से डरने लगता है। एक अद्वितीय पूर्णपुरुष के इस भय प्रधान आत्मज्ञान को 'अविद्या' कहते हैं। उन्होंने उस समय स्वयं ही अपने आत्मज्ञान के द्वारा इस अविद्या को अलग किया और उसे पृथक् रूप में जाना। इस अविद्या से ही उसके अधिष्ठान के वश विश्व फूट निकला।

"मुख्यत्वेन तेन प्रजापतिना आत्माम्बुबलेन विश्वसङ्कल्पना कृता"—'प्रधानतः उस प्रजापति ने आत्मारूपी जल लेकर विश्व की सङ्कल्पना की।' यह आत्म ज्ञान ही अविद्या है—यही जीवभाव का उत्पादक है।

जीव-सृष्टि उनके संकल्प का परिणाम है। जीव ईश्वर का प्रतिबिम्बस्वरूप है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में साधर्म्य पाया जाता है, उसी प्रकार ईश्वर और जीव में भी देहावस्था और गुणाभासरूप सादृश्य रहता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कहीं पारस्परिक व्यवहार होते नहीं देखा जाता। फिर जीव और ईश्वर में पारस्परिक व्यवहार कैसे सम्भव है? अर्थात् जीव ईश्वर का आराधनरूप जो स्वकर्म

करता है, वह उसका व्यवहार है; तथा ईश्वर जो भक्त जीव के ऊपर अनुग्रह करते हैं और उसको अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, वह उनका व्यवहार है। दोनों के इस व्यवहार का मूल क्या है ? इसका उत्तर यह है कि एक बिम्ब से अनेक बिम्ब-पात उत्पन्न करने के लिये अविद्या में वैचित्र्य मानना आवश्यक है; अर्थात् पुरुष के एक होने पर भी अज्ञान को अनन्त मानना पड़ता है। अज्ञान को अनादि बतलाने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि अविद्या के आश्रयभूत जीव नाना हैं। इस प्रकार अविद्या के पहले ही जीव को स्वीकार करना आवश्यक होता है। अतएव इस प्रकार जीवगत विचित्रता की कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं की जाती। अवधूत-मत के अनुसार जीव ईश्वर का प्रकल्पित प्रतिबिम्ब है। स्वप्न में कल्पित वस्तु के द्वारा जैसे व्यवहार चलता है, उसी प्रकार यहाँ भी चल सकता है। शंका हो सकती है कि स्वप्नदृष्ट पुरुष सब पृथक्-पृथक् नहीं होते, आश्रय पुरुष या स्वप्नद्रष्टा पुरुष के जागने पर वे सब एक ही साथ अन्तर्हित हो जाते है। परन्तु यहाँ ब्रह्मसाक्षात्कार से सिद्ध होता है कि समस्त जीव अपने आश्रय के समान हैं, अतएव सत्य हैं। अतः ये सत्य जीव स्वप्नदृष्ट पुरुष की भाँति ईश्वर के कल्पित प्रतिबिम्ब किस प्रकार हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा सत्यसंकल्प हैं, अतएव उनका कल्पित विश्व भी उन्हीं की भाँति सत्य है। जीव की सत्यता भी उनके समान ही है। इस समान सत्यता के कारण दोनों के बीच परस्पर व्यवहार चलता है। इस प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार भी सत्य है और बन्ध-मोक्ष भी सत्य है। प्रश्न हो सकता है कि सत्य जीव का नाश कैसे होता है ? ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण जीव की अविद्यानिवृत्ति और जीवत्व का क्षय कैसे होता है ? इसका उत्तर अवधूत लोग देते हैं कि ईश्वर का सत्यत्व मायामात्र है, उनके संकल्प का सत्यत्व, जीवसत्यत्व तथा अविद्यासत्यत्व भी मायामात्र है। माया के तिरोभाव के साथ-साथ ईश्वरत्व तिरोहित हो जाता है और अविद्या के तिरोभाव के साथ-साथ जीवत्व निवृत्त हो जाता है। परम सत्य ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाते हैं।

केवल एक पाञ्चभौतिक शरीर है। वही विराट् है। असंख्य स्थूल जीवशरीर इसी के असंख्य अंश हैं। इस प्रकार एक हिरण्यगर्भदेह से जीव के असंख्य लिङ्ग-शरीर निर्गत होते हैं। अन्तःकरण ही विष्णु है। विषय का कोई विभाग नहीं—सब पञ्च-भूतात्मक है, ईश्वर का स्वात्म-अनवधानस्वरूप अव्यक्त या माया खण्ड-खण्ड होकर अनन्त बन जाती है और जीवों के आत्माज्ञानरूप में परिणत हो जाती है, और उनके 'कारणदेह' के नाम से प्रसिद्ध होती है। ईश्वर का विज्ञानरूपी महाकारण-शरीर जीव का महाकारण-शरीररूप धारण करता है।

(६)

प्रलय

दत्तात्रेय के मत से प्रलय पाँच प्रकार का है, जैसे (क) पिण्ड की निद्रा; (ख) ब्रह्माण्ड की निद्रा, इसको दैनन्दिन प्रलय कहते हैं; (ग) पिण्ड का मरण; (घ) ब्रह्माण्ड का मरण, इसको महाप्रलय कहते हैं; और (ङ) आत्यन्तिक प्रलय।

(क) निद्रा अथवा पिण्ड की निद्रा

जिस समय क्रमशः ज्ञानकरणवृत्ति, कर्मकरणवृत्ति और वासनामय विषयसमूह कर्ता की पाँच वृत्ति में प्रकृष्टरूप से गुप्त हो जाते हैं तो उसे निद्रा कहते हैं। उस समय कर्ता पाँच वृत्तियों के साथ आत्माज्ञानरूप कारणशरीर में प्रलीन होता है। इनमें से जब केवल बाह्य करणों का उपसंहार होता है, तब निद्राप्रधान स्वप्नावस्था होती है, जिसमें अङ्गीभूत सत्त्वांशमात्र के कारण कर्तृवृत्ति के द्वारा वासनामय विषय का प्रकाश होता है। और जब कर्ता, करण और कार्य तीनों का उपसंहार होता है, तब सुषुप्ति अवस्था आती है। उस समय जीव का स्थूल शरीर पञ्च प्राण के साथ काष्ठवत् जडरूप में पड़ा रहता है, परन्तु प्राण का संयोग रहने के कारण मृत्यु नहीं होती। रजोऽध्यास के उत्कर्ष के कारण सुषुप्ति से पुनरुत्थान होता है।

(ख) दैनन्दिन प्रलय अथवा ब्रह्माण्ड की निद्रा

४००० युगों में ब्रह्मा का एक दिन होता है; उनकी रात्रि भी इसी परिमाण की होती है। दिन में वे जागे रहते हैं और इसी को सृष्टि कहते हैं। रात्रि को वे निद्रित रहते हैं और उसी का नाम प्रलय है। सन्ध्या के समय जब ब्रह्मा की निद्रा प्रारम्भ होती है, तब सारी विषय-वासनाएँ ज्ञानकरणों में उपसंहृत हो जाती हैं, क्रियाबुद्धि कर्म-करणों में लीन हो जाती है, दसों करण कर्ता में लीन हो जाते हैं, और कर्ता सूक्ष्म अव्यक्त में निद्रित हो जाता है। यह योगनिद्रा की अवस्था है। इस समय अनावृष्टि, भूत-नाश, अतिवृष्टि तथा देवलोकपर्यन्त जलप्लावन हो जाता है। देवगण अव्यक्त मायातत्त्व में आश्रय लेते हैं, ब्रह्मादि तीनों देवता आत्माराम हो जाते हैं। सारे जीव अव्यक्त में सुप्त हो जाते हैं, उनकी सारी वृत्तियाँ प्रत्याहृत हो जाती हैं। इसको परमात्मा की निमेषावस्था कहते हैं, क्योंकि परमात्मा में निद्रा नहीं होती। उस समय पाञ्चभौतिक देह का उपसंहार नहीं होता। प्रलयकाल के अन्त में, उषाकाल में ब्रह्मा जागते हैं। इतने दिनों तक जो विष्णु जल के ऊपर वट-पत्र पर शयन कर रहे थे, वे भी जाग जाते हैं, आत्मपद का त्याग करके खेल प्रारम्भ करते हैं। जागते क्यों हैं? कारण यह है कि दैनन्दिन प्रलय स्थिति के अन्तर्गत है तथा स्थिति के कर्ता विष्णु हैं। इसी कारण विष्णु को सदा ही अपने कार्य के ऊपर लक्ष्य रहता है, अतएव उन्हें निद्रा या विस्मृति नहीं होती। अतः समस्त जगत् के ध्वस्त हो जाने पर पुरुष योगनिद्रा का त्याग कर अपने कार्य की ओर देखते हैं। इतने दिनों तक तो वे सोये हुए थे। निद्रित नहीं थे। अब वे सबसे पहले उठते हैं। उनके पश्चात् ब्रह्मा यथासमय जागकर देखते हैं कि चारो ओर एकार्णव है और उनका सारा कार्य नष्ट हो गया है। तब वे इस अवस्था का त्याग करके विष्णु के नाभिकमल से उठते हैं। उसी प्रकार रुद्र भी अपनी योगनिद्रा का त्याग करके ब्रह्मा के चक्षु से प्रकट होते हैं। इस प्रलय से धाता यथापूर्व सृष्टि की रचना करते हैं।

(ग) मृत्यु अथवा पिण्ड का मरण

प्रारब्ध के क्षय होने पर प्राण स्थूल शरीर से पृथक् होता है। तब पञ्च प्राण अपने मूल पवन में लीन हो जाते हैं, पञ्च वासनामय विषय पाँच सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान-

करणों में लौट जाते हैं, सारे क्रियात्मक विकार कर्मकरणों में उपसंहृत हो जाते हैं। उसके बाद दस ज्ञान और कर्मकरण चेष्टारहित होकर कर्ता में लीन हो जाते हैं। कर्ता मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चार वृत्तियों के लय होने पर आत्मज्ञान में लीन हो जाता है। इस आत्मज्ञान से एक वासना-शरीर प्रकट होता है। स्वप्न-शरीर के समान इस देह का आश्रय करके जीव पुरातन—जीर्ण और रुग्ण—स्थूल शरीर का त्याग करता है। यही मृत्यु है।

(घ) महाप्रलय अथवा ब्रह्माण्ड का मरण

ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु के अन्त में परमात्मा सो जाते हैं और ब्रह्मा की मृत्यु होती है। तब सौ वर्षों तक अनावृष्टि, भूतलय तथा द्वादश आदित्यों का उदय होता है। पृथिवी अत्यन्त तप्त हो जाती है, अग्निमय होकर दग्ध हो जाती है। उसके बाद सांवर्तक मेघ जल वर्षण करते हैं, सप्त समुद्र मिल कर एक महार्णव में परिणत हो जाते हैं। पृथिवी इस जल में मग्न हो जाती है, जल तेज में शुष्क हो जाता है, तेज दसगुनी व्यापक बाह्य वायु में शान्त हो जाता है तथा वायु आकाश में लीन हो जाता है। आकाश तामस अहङ्कार में, तामस अहङ्कार राजस में और राजस सात्त्विक में लीन हो जाता है। कार्य करण में, करण कर्ता में, कर्ता महत् में—इत्यादि क्रम से लय को प्राप्त होते हैं। अन्त में सभी महामाया में उपसंहृत होते हैं। महामाया परमात्मा में लीन हो जाती है। परमात्मा आत्मज्ञान के स्फुरण को ग्रास करके, निज-स्वरूप में स्वस्फुरण को लीन कर—आनंन्दमय, अनन्त, अव्यय, संविज्ञानमय एवं सन्मय होकर निर्विकल्प रूप में स्थिति लाभ करते है। इस निर्विकल्प ब्रह्म में ज्ञप्तिमय और आनन्दमय जो प्रकाश (संस्फुरण) है, वही गुणसाम्य है। उसमें सारे गुण, गुणकृत सारे भेद तथा समस्त कारण, कार्य और करण तदाकार होकर उपसंहृत हो जाते हैं। जीववर्ग तब अपने-अपने अज्ञान में लौट जाते है। और माया में निद्रित होकर ब्रह्म में प्रत्यावर्तन करते हैं। आत्मज्ञान के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता, और ब्रह्मज्ञान के बिना अविद्या क्षय नहीं होता। इसी कारण से जीव के इस प्रकार ब्रह्म में लौट जाने पर भी उसकी जीवावस्था से निवृत्ति नहीं होती; अतएव सृष्टि-काल में सभी जीव ईश्वर से कारणोपाधि प्रभृति के द्वारा निर्गत होते हैं।

महाप्रलय का कर्ता परमात्मा का रुद्ररूप है। यह प्रलय इस प्रकार होता है—विश्व के संहार के समय जो प्रलयाग्नि प्रदीप्त होती है, उसमें रुद्र भयंकर भैरव-रूप धारण कर आनन्द के साथ नृत्य करते रहते हैं। उस समय उनके तृतीय नेत्र से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। उसके द्वारा वे अपने साथ समस्त देवता-वर्ग को भस्मीभूत करके अव्यक्त-रूप में उस प्रलय के साक्षित्व का अनुभव करते हैं। उसके बाद उसका त्याग कर आत्मस्फुरण का विलयन करके वे 'मैं आनन्दमय अखण्डैकरस ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार की स्वरूप निष्ठा को प्राप्त होते हैं। इस प्रलयस्वरूप सर्वज्ञत्व के अन्तराल में माया तमोगुण के कार्यरूप में रहती है, इसी कारण मायारूप का संहार नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रलय में जब स्वरूप-सर्वज्ञत्व का लय हो जाता है, तब इसे तुरीय कहने में क्या युक्ति है? इसका उत्तर यही है कि इस प्रलय के साक्षी परमात्मा प्रलय के अन्त में इसके साक्षिभाव का परिहार करके स्वरूप-सर्वज्ञत्व का अनुभव कर अपने आप निर्विकल्प पद में स्थित हो जाते हैं। यही उनकी प्रकृति है। जिस प्रकार पुरुष का विनाश नहीं होता, इसी प्रकार प्रकृति का भी विनाश नहीं होता। प्रकृति के सम्बन्ध के कारण ही उनका स्वरूप सर्वज्ञत्व भी रहता है। इस अवस्था में जो आनन्दमयी ज्ञप्ति है, वही गुणसाम्यरूपिणी महामाया है। इस महामाया से युक्त आनन्दमय सर्वेश्वर ही परमात्मा हैं। उनमें जो निर्विकल्प निष्ठा का स्फुरण होता है, वही स्वरूप सर्वज्ञत्व है। अतएव शुद्ध सत्त्व का जो सूक्ष्म भाव है वही गुणसाम्य अर्थात् ईश्वर की उन्मनी अवस्था है। इस गर्भ में सभी विद्यमान रहते हैं, यथासमय उनकी यथापूर्व केवल अभिव्यक्ति होती है। इससे यह समझा जा सकता है कि इस प्रलय का स्वरूप सर्वज्ञत्व के भीतर मायागर्भ में रहता है। इसी कारण इसमें माया, अविद्या, जीव और ईश्वर का भेद नष्ट नहीं होता। यह भेद स्वरूपगत होने के कारण स्वगत-भेद है। अतएव महाप्रलय में स्वगत-भेद रहता है।

(ङ) आत्यन्तिक प्रलय

परन्तु जब स्वगत भेद भी विलुप्त हो जाता है तब आत्यन्तिक प्रलय होता है। इसके लिये कोई काल-नियम नहीं है। इस प्रलय में रुद्र संहारक नहीं हैं, ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं है। जीव स्वयं है, अर्थात् परमात्मा हैं। इस अवस्था में माया, अविद्या जीव, ईश्वर—कुछ भी नहीं रहते और कभी फिर होते भी नहीं।

'तत्र भावोऽपि न भावः, सर्वाभावोऽपि न चाभावः।
स भावाभावयोरप्यभावः॥'......................

भाव चार प्रकार का होता है—नाम, रूप, गुण और धर्म। अभाव पाँच प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रत्यगभाव, अन्योन्याभाव, ध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इनमें प्रथम चार अभावों में भावदोष[1] रहता है। अत्यन्ताभाव ही यथार्थ है।

(६)

जो कुछ कहा गया है उससे यह प्रतीति हो जाती है कि जीवों के विभिन्न देह ईश्वर के अनुरूप देह से उद्भूत होकर उसी में अवस्थित रहते हैं। ये समस्त जीवदेह अन्तकाल में ईश्वरदेह में लीन हो जाते हैं। अतएव जीवदेह ईश्वरदेह के साथ अभिन्न

---

१. यथा—प्रागभावे घटाभावस्य घट एवाश्रयः। तस्मादभावस्य भावः पूर्णरूपम्। मध्येऽपि घटशब्दं विना नास्ति। शब्देन किं प्रकाशितं कार्यम्। तस्मान्मध्येऽप्याश्रयः। अन्ते घटाभाव-शब्दबोधोऽपि घटाकारा वृत्तिः, न त्वभावाकारा।

घटाभाव का रूप भी घटाकार है। पटाभाव के बोध के द्वारा घटाभाव का बोध नहीं होता। वस्तुतः इसका पृथक् स्वरूप है—वह घटाकार है। प्रत्यगभाव भी वही है। सत्य घट के बिना घटध्वंस भावना का विषय नहीं बनता, यह भी वास्तविक अभाव नहीं है।

हैं। जिस प्रकार प्रत्येक गृह में वर्तमान अन्धकार सर्वव्यापी महान्धकार से भिन्न नहीं होता, दीपोपाधि के वश जो पृथक्-पृथक् अन्धकार का भान होता है, दीप के अभाव में उसका भान नहीं होता; विचार करके देखने पर समझ में आ जाता है कि दीप के होते हुए भी अन्धकार में भेद नहीं है; इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रत्यग् जीव में वर्तमान आत्मज्ञान समस्त मायास्वरूप से वस्तुतः भिन्न नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि सर्वत्र अज्ञान के साथ मायातत्त्व एकमात्र तमोमय रूप में ही रहता है।

इसी प्रकार जीवों के समस्त महाकारणशरीर महामाया से अभिन्न हैं।

यही कारण है कि जब भगवान् जागते हैं, तब सभी जाग जाते हैं; जब वे स्वप्न देखते हैं, तब सभी स्वप्न देखते हैं—इत्यादि प्रकार से सर्वत्र एकमात्र सर्वेश्वर ही अभिमानी हैं—सभी रूप उनके ही शरीर-भेद हैं। समस्त विश्ववर्ग में वही एक ब्रह्मा हैं, समस्त तैजसवर्ग में वही एक विष्णु हैं, समस्त प्राज्ञवर्ग में वही एक रुद्र हैं तथा समस्त प्रत्यगात्मा में वही एक परमात्मा हैं। उपाधि के कारण ही सारी अविद्याओं में भेद है, परन्तु उनकी माया एक है। वह समष्टिरूप है, जीव व्यष्टिरूप है। जिस प्रकार वन और वृक्ष में मिथ्या-भेद होता है, उसी प्रकार विश्व और विश्व-रूप में भी मिथ्या-भेद होता है। सारे जीव परमात्मा के ही रूप हैं।

अतएव आत्मज्ञान ही परमेश्वर-ज्ञान है। जीव को आत्मज्ञान के बिना किसी देवतान्तर-दृष्टि में यथार्थ परमेश्वर ज्ञान नहीं होता। अतएव जब तक आत्मज्ञान का उदय नहीं होता, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ईश्वराराधना आवश्यक है। बात यह है कि सब नाम, सब रूप, सब क्रियाएँ एक की ही हैं—यह जानकर साधक को यह अनुभव करना पड़ेगा कि परमात्मा सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय, सर्वसम, सर्वत्रसम और सबके सङ्ग समान हैं। उनकी किसी विशिष्ट मूर्ति या देवता में उपासना करनी होगी। वह मूर्ति प्रसिद्ध पञ्च देवताओं में से कोई हो सकती है अथवा उसके अतिरिक्त कोई दूसरी भी हो सकती है। सभी समान हैं, कोई अन्तर नहीं। अवधूत लोग कहते हैं कि वेदविरुद्ध कर्माचरण करनेवाले और अपने आचार से भ्रष्ट उपासक नष्ट हो जाते हैं। स्वकर्मों के अनुष्ठान के बल को देखकर ब्राह्मण के लिये स्वकर्मानुष्ठान ही विधेय है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान होता रहे तो देवताराधन न करने पर भी कोई दोष नहीं होता। वरं देवता की आराधना करे और स्वकर्मानुष्ठान न करे तो प्रत्यवाय लगता है। अतएव एकमात्र आत्मसाक्षात्कार से ही देह, अवस्था, गुण और धर्म का त्याग होकर कर्म-त्याग होता है। जिसको आत्मविषयक अज्ञान है उसके लिये कर्म-त्याग सम्भव नहीं है। उसी प्रकार जो तात्त्विक भेदवादी भक्त हैं, वे भी नासमझ हैं; क्योंकि वे भेद का तात्पर्य नहीं समझ पाते। वेदविरुद्ध ज्ञान सिद्धिदायक नहीं होता। वेदानुसार स्वकर्मद्वारा आनन्दमय परमात्मा की निराकार और विश्वाकार दोनों रूपों में उपासना करनी चाहिये। देवता भी परमात्मा के ही आकार हैं, यह समझकर ही देवता की उपासना करनी चाहिये। अथवा विहित कर्मों का त्याग न करके विभिन्न देवताओं की विभिन्न नियमों के अनुसार सेवा करनी चाहिये। नित्य

और नैमित्तिक कर्म ही विहित कर्म हैं। यही आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान ओर कैवल्य को प्रदान करने वाले ईश्वराराधन-रूप कर्म हैं। शास्त्रविहित योगादि कर्म आसक्ति और कामना का त्याग करके अनुष्ठित होने पर आत्मज्ञान के साधक बन जाते हैं। आत्म-ज्ञान के बिना देवतोपासना के फल से साधक उपासित देवता की कृपा से उनके लोक को प्राप्त होकर उस लोक में यथासम्भव शक्ति और आनन्द प्राप्त कर सकता है; परन्तु उपासना की तारतम्यता के कारण कोई इष्ट देवता के साथ सालोक्य-मात्र लाभ करता है, और सारूप्य या सामीप्य प्राप्त करता है और कदाचित् कोई सायुज्य लाभ भी कर लेता है। सब कुछ उपासना के ऊपर निर्भर करता है।

●

काश्मीरीय शैव-दर्शन के सम्बन्ध में कुछ बातें

(१) सूचना

काश्मीरीय शैव-दर्शन 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। पाठक 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' नाम सुनकर ऐसा न समझें कि मैं किसी नयी दर्शन-प्रणाली का सूत्रपात कर रहा हूँ। प्रत्यभिज्ञादर्शन नयी वस्तु नहीं है। यह भारतीय विचारसाम्राज्य की एक अति प्राचीन दुर्लभ सम्पदा है। काल की विचित्र गति से आज यह अपरिचितप्राय हो गयी है तथापि यह बात माननी ही पड़ेगी कि एक दिन इसका प्रभाव भारतीय साधनक्षेत्र में सर्वत्र परिव्याप्त था। जो लोग हमारी सभ्यता की विशिष्ट धारा की ऐतिहासिक दृष्टि से सूक्ष्मभाव से पर्यालोचना करने की चेष्टा करते हैं वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के महत्त्व को सहज ही समझ सकते हैं। निगम और आगम अर्थात् वेद और तन्त्र क्या हैं और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, यहाँ इसके विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि इस निगम और आगम के अन्दर ही भारतवर्ष की सनातन साधना का बीज निहित है। श्रीमद्भागवत को 'निगम कल्पतरु का गलित फल' कहा गया है। मेरे विचार से इसमें आंशिक ही सत्य है, क्योंकि श्रीमद्भागवत जिस प्रकार निगम का, उसी प्रकार 'आगम कल्पतरु' का भी गलित फल' है।[1] पाञ्चरात्र-आगम में जो कुसुमित होता है वही श्रीमद्भागवत में परिपक्व रस से भरपूर फल के रूप में परिणत है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त भी आगम का—शैवागम का सारभूत रसस्वरूप है। जैसे श्रीमद्भागवत का अवलम्बन कर गौडीय वैष्णवों ने 'अचिन्त्यभेदाभेद' रूप अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्त की अवतारणा की है, इसी प्रकार स्वच्छन्द, मालिनीविजय प्रभृति आगम एवं तैत्तिरीय-संहिता प्रभृति निगम-समुद्र का मन्थन करके काश्मीरीय शैवों ने 'ईश्वराद्वयवाद' रूप जाज्वल्यमान रत्नमाला का आविष्कार किया है। दोनों ही भारतीय साधना के गौरवस्तम्भ हैं।

(२) नामकरण

प्रत्यभिज्ञादर्शन नाम बहुत पुराना है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में इस नाम का प्रयोग किया है और हम लोगों ने भी उन्हीं का अनुसरण कर इसी नाम को ग्रहण किया है। अवश्य ही प्रत्यभिज्ञा-हृदय, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों के नामकरण में प्रत्यभिज्ञा शब्द का व्यवहार किया गया था, किन्तु हमारा विश्वास है कि यह न्याय, वैशेषिक प्रभृति के समान दार्शनिक सिद्धान्त-विशेष का वाचक नहीं है। सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने कहा है कि काश्मीरीय शैवागम दो भागों में विभक्त हैं—प्रथम स्पन्दशास्त्र और द्वितीय प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। स्पन्दशास्त्र के प्रचारक वसुगुप्त हैं और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रवर्त्तक सोमानन्द हैं। यह विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ अंश में सत्य होने पर भी विचार करने

पर भ्रान्तिमूलक जान पड़ता है, क्योंकि स्पन्द और प्रत्यभिज्ञाप्रतिपादक ग्रन्थों में अवान्तर दो एक विषयों में किञ्चित् मतभेद का आभास होने पर भी दोनों शास्त्रों के मूल सिद्धान्त और आलोचना-प्रणाली में कुछ भी भेद नहीं है। सुतरां 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' शब्द से स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा दोनों ही मतों का निर्देश होता है। प्राचीन साहित्य में 'त्रिकदर्शन', 'माहेश्वरदर्शन' प्रभृति नाम-विशेष प्रचलित थे, किन्तु माधवाचार्य का अनुकरण होने से अब प्रत्यभिज्ञा नाम का ही अधिकतः प्रचार है।

(३) प्रत्यभिज्ञासम्मत अद्वैतवाद

यद्यपि आगम और उपनिषदों में द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत प्रभृति सभी प्रकार के दार्शनिक वादों के मूल सूत्र देखे जाते हैं तथापि अधिकार-भेद एवं रुचि-वैचित्र्य के कारण कोई-कोई प्रस्थान किसी एक विशेष सिद्धान्त की प्रधानता स्वीकार करके प्रवर्तित होते हैं। शङ्कर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्यों के उपनिषद् और गीता पर किये हुए भाष्यों की तुलनात्मक आलोचना करने से यह बात भलीभाँति समझ में आ सकती है। यह अवश्य स्वभावतः ही होता है। सभी देशों के आध्यात्मिक शास्त्रों के इतिहास में इसके दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार आगम की व्याख्या के प्रसङ्ग में काश्मीरीय शैवाचार्यों ने अद्वैतवाद को ही ग्रहण किया तथा इस वाद का माहात्म्य दिखलाने के लिये वे एक अभिनव दर्शन-शास्त्र का निर्माण कर गये। भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में यह अद्वैत-सिद्धान्त ईश्वराद्वयवाद के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हैं।

(४) अद्वैतवाद के प्रकार-भेद

आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका में एवं आचार्य शङ्कर ने शारीरकसूत्र और उपनिषदादि के भाष्य में ब्रह्माद्वैतवाद की जो व्याख्या की है, आजकल साधारणतः अद्वैतवाद शब्द के एकमात्र अर्थरूप में उसी को लिया जाता है। कहना न होगा कि यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है। अद्वैत-प्रस्थान के अनेक प्रकार हैं। ब्रह्मवाद उन्हीं के अन्तर्गत एक मतविशेष-मात्र है। श्रीकण्ठ, रामानुज, वल्लभ प्रभृति के सिद्धान्त शुद्ध अद्वैतमत नहीं है, यह बात ठीक है, परन्तु शुद्ध अद्वैतवाद की भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में कभी कमी नहीं थी।

बौद्ध अद्वैतवादी थे। बुद्धदेव का 'अद्वयवादी' भी एक नाम था, इसका उल्लेख अमरकोश में पाया जाता है। यद्यपि 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ में अनेकों प्रकार के, विशेषतः अष्टादश भाग में विभक्त—बौद्ध-सम्प्रदाय के दर्शन और धर्म-सम्बन्धी मतों का वर्णन है और यह सभी परस्पर विरोधी मत आगे चलकर सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक—इन चार प्रधान श्रेणियों में अन्तर्निहित हो जाते हैं तथापि इन सभी मतों का तात्पर्य माध्यमिक-प्रदर्शित शून्यवाद में है, इस बात को बोधिचित्त-विवरणकार ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

'भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा।'

यह शून्यवाद कठोर अद्वयवाद है। सत्, असत् प्रभृति कोटिचतुष्टय से विनिर्मुक्त कर तीक्ष्ण युक्तियों की सहायता से नागार्जुनादि आचार्यगण इस शून्य तत्त्व को द्वैतविकल्प से सब प्रकार बचाने का प्रयास करते हैं। बहुतों का विश्वास है कि स्वयं शङ्कराचार्य अपने ब्रह्माद्वैतवाद के लिये विज्ञानाद्वैत अथवा शून्याद्वैत सिद्धान्त के सामने ऋणी हैं। बौद्धागम की 'संवृति' शङ्कर के दर्शन में 'माया'-रूप में स्थान पाती है। दार्शनिक दृष्टि से शङ्कर की 'माया' प्राचीन आर्ष माया से कुछ अंश में विलक्षण है, इसे स्वीकार करना होगा। फ्रांस देश के सुविख्यात अध्यापक पूसें (Poussin) ने वेदान्त और बौद्धमत की तुलनात्मक आलोचना के प्रसङ्ग में गौडपादकारिका में बौद्धभाव का प्रभाव प्रदर्शित किया है। पण्डितप्रवर विधुशेखर शास्त्री महाशय ने इसे और भी स्पष्ट करके दिखलाया है। यद्यपि शङ्कर योगाचार और माध्यमिक मत का खण्डन करते हैं तथापि अनेक स्थलों पर वे स्वयं उनकी उद्भावित युक्ति, यहाँ तक कि भाषा भी, ग्रहण करने में नहीं हिचकते। बौद्धमत और शाङ्करमत के बीच में केवल एक ही पद का व्यवधान है। परन्तु इस विषय में एक बात याद रखनी होगी। भारतवर्ष में बौद्धमत भी कोई नवीन मत नहीं है। जो यह समझते हैं कि शून्यवाद नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित हुआ है, पहले ऐसा मत नहीं था, वे महासाङ्घिकमत और उपनिषदादि की आलोचना करने पर एवं आगम की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करने पर यह समझ सकते हैं कि नागार्जुन ने किसी नये सिद्धान्त का प्रवर्त्तन नहीं किया है। पहले जो अस्पष्ट एवं आभासरूप में था, उसी को उन्होंने केवल स्पष्ट और प्रणालीबद्ध कर दिया।

वैयाकरणलोग भी अद्वैतवादी थे। 'वाक्यपदीयकार' ने मुक्तकण्ठ से कहा है कि व्याकरण का सिद्धान्त अद्वैतवाद है। व्याकरण के मत से अखण्ड चिन्मय शब्दतत्त्व जगत् का मूल कारण है, यह एक और अभिन्न है। त्रिपुरा सम्प्रदाय भी अत्यन्त कट्टर अद्वैतवादी है। इनके मत से मूलतत्त्व महाशक्ति एक एवं अद्वितीय है। इन सब अद्वैतवादों की विशेषता तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध की आलोचना करने का यहाँ स्थान नहीं है। परन्तु इन सब सिद्धान्तों से यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि प्राचीनकाल में अद्वैतवाद के अनेकों प्रकार के प्रस्थान थे। ब्रह्माद्वैत के साथ-साथ शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत, शाक्ताद्वैत, ईश्वराद्वैत प्रभृति विभिन्न प्रकार के अद्वैत-सिद्धान्त उस समय प्रचलित थें।

निगम और आगम

वेद और तन्त्र इन दोनों में अद्वैतवाद था, द्वैतवाद भी था, इस विषय में कोई सन्देह का कारण नहीं है। वैदिक सिद्धान्त का मूलस्थान प्रधानतः उपनिषद् एवं तदवलम्बी दार्शनिक सूत्रग्रन्थ—विशेषतः ब्रह्मसूत्र है। तान्त्रिक सिद्धान्त के आकर ग्रन्थ प्राचीन आगमराशि तथा शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, परशुरामकल्पसूत्र प्रभृति सूत्रमाला हैं। शैव, वैष्णव, शाक्तादि भेद से आगम नाना प्रकार के थे। पाञ्चरात्र और भागवतमत वैष्णवागम मूलक हैं। प्रत्यभिज्ञा और स्पन्दनशास्त्र अर्थात् काश्मीरीय त्रिकदर्शन,

दक्षिणदेश के सिद्धान्तशास्त्र प्रभृति तथा व्याकरण शैवागम से उद्भूत होते हैं। त्रिपुरादि सिद्धान्त शाक्तागममूलक है। अवश्य ही प्रत्येक सम्प्रदाय के आगमों में भी अनेक प्रकार के विभाग हैं।

(५) ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद

आचार्य गौडपाद और शङ्कर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा श्रीमदभिनवगुप्तादि द्वारा व्याख्यात परमेश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। ब्रह्मवाद माया को सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानता है। किन्तु शैवाचार्य कहते हैं कि इससे द्वैत भङ्ग नहीं होता। अवश्य ही परमार्थ दृष्टि से माया जब तुच्छ होती है तब व्यवहार भूमि की सत्यता तथा विचार भूमि की अनिर्वचनीयता वस्तुतः ब्रह्म के अद्वैत तत्त्व को स्पर्श नहीं करती। यह बात ठीक है, किन्तु इससे अद्वैततत्त्व में जो संकीर्णता आती है उस संकीर्णता के हेतु का पता ढूँढ़ने पर भी नहीं लगाया जा सकता। इस जीव-जडात्मक विश्व-वैचित्र्य का हेतु क्या है? मूल में जब एक ही अद्वय ज्ञानतत्त्व है, तब यह द्वैत की स्फुरणा क्यों होती है? तथा किसके निकट होती है? अज्ञान का आश्रय कौन है, द्रष्टा कौन है? ईश्वरादि षट् पदार्थों को अनादि और परम्परासिद्ध बतलाने का व्यवहार भी अनादि है। शुद्ध ब्रह्म विवर्तात्मक अनादि प्रवर्तमान व्यवहार का अधिष्ठान या अधिकरणमात्र है। उसका कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य कल्पित है, वास्तव में नहीं है। परन्तु कल्पना कौन करता है? जीव अथवा ईश्वर—परब्रह्म नहीं करते हैं। स्वरूपदृष्टि से स्रष्टृत्वादि सभी धर्म उसी में आरोपित और अध्यस्त होते हैं। परन्तु वस्तुतः ब्रह्म से जीवभाव या ईश्वरभाव किस प्रकार होता है, यह समझ में नहीं आता। बस, यह प्रवाहरूप से अनादि है, यह कहकर ही चुप हो जाना पड़ता है। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है, इसका कोई उत्तर नहीं है। स्वप्रकाश चिरभास्वर ज्ञानसूर्य को अकस्मात् अज्ञानान्धकार कहाँ से आकर ढक लेता है। ज्ञान यों ही अवशभाव से उसके अधीन होकर जीव बनता है, अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है। किन्तु अज्ञान का प्रथमाविर्भाव ही जब समझ में नहीं आता तब जीवत्व अथवा ईश्वरत्व के बीज काल के मध्य में अन्वेषण करके आविष्कार करने की चेष्टा तो पागलपन मात्र है।

ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छा-परिगृहीत रूप है। नट जिस प्रकार जान-बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। वे स्वतन्त्र हैं, अपने स्वरूप को ढाँकने में भी समर्थ हैं और प्रकट करने में भी समर्थ हैं। पर जब वे अपने स्वरूप को ढँकते हैं तब भी उनका अनावृत्त रूप च्युत नहीं होता। अज्ञान उनकी स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भण-मात्र है। जिस प्रकार सवितृदेव अपने ही द्वारा सृजन किये हुए मेघ से अपने को आच्छादित करते हैं, यह भी उसी प्रकार होता है। परन्तु सूर्य आच्छादित होकर भी जैसे अनाच्छादित रहते हैं, क्योंकि

वैसा न होने से मेघ को प्रकाशित कौन करता ? विश्व-वैचित्र्य भी इसी प्रकार अपने स्वरूप का ही विमर्श-मूलक है। क्रीड़ा-परायण महेश्वर की लीला ही इस प्रकार के अभिनय का कारण है। आत्माराम में स्पृहा ही कैसी ? यही स्वभाववाद है। ब्रह्मवादी स्वभाव को बिल्कुल ही नहीं मानते हों, सो बात नहीं है। अज्ञान आत्मा की ही शक्ति है, इस बात को उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है। ईश्वरवादी कहते हैं कि यह स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यात्मक, कर्तृत्वस्वरूप है, और ब्रह्मवादी कहते हैं कि यह शुद्ध साक्षी अथवा अधिष्ठान-चैतन्यात्मक है; यहीं दोनों में प्रधान भेद है। अर्थात् शाङ्कर वेदान्त से आत्मा विश्वोत्तीर्ण सच्चिदानन्द, एक, सत्य, निर्मल, निरहङ्कार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टि, स्थिति और संहार का हेतु, भावाभावविहीन, स्वप्रकाश, नित्यमुक्त है, किन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। परन्तु आगम-सम्मत अद्वैतमत से विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया उसके लिये एक से हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है। तथा उसके कर्तृस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम इच्छा है। इसी कारण वह इच्छामय है, अथवा इच्छादि शक्तित्रय से युक्त, स्वातन्त्र्यमय है। ऐश्वर्य, विमर्श, पूर्णाहन्ता प्रभृति इसी स्वातन्त्र्य के नामान्तर हैं।

आगमसम्मत आत्मा सर्वदा ही पञ्च कृत्यकारी है। यह उसका असाधारण स्वभाव है[1]। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय को ही पञ्चकृत्य के नाम से पुकारते हैं। शाङ्करमत से ब्रह्म इस प्रकार के स्वभाववाला नहीं है। इसीलिये ब्रह्म-वाद में आत्मा का स्वस्फुरण वैसा न होने के कारण वह सत्य होते हुए भी असत्कल्प है। महेश्वरानन्द कहते हैं—

'तत्र हि अद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोढुमर्हति, यदत्र सत्या-सत्यव्यवस्थया हेयोपादेयकल्पनायां तेनैवाकारेण द्वैतमर्यादापर्यवसायित्वमनिवार्यम्"।

त्रिकदर्शन अत्यन्त कट्टर अद्वैतवादी है, उस अद्वैतवाद के सामने ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त मानों म्लान-सा जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों शाङ्करमत में द्वैताभास वस्तुतः वर्जित नहीं है। संविदुल्लास में लिखा है—

"द्वैतादन्यदसत्यकल्पमपरैरद्वैतमाख्यायते
तद् द्वैते बत पर्यवस्यति कृतं वाचाटदुर्विद्यया।
एते ते वयमेवमभ्युदयिनोः कस्यापि कस्याश्चिद-
प्यालस्योज्झितमैकरस्यमुभयोरद्वैतमाचक्ष्महे ॥"

जान पड़ता है मानों शाङ्करवेदान्त द्वैत से भीत और त्रस्त है, इसी कारण उसके मत में अद्वैत द्वैत से विलक्षण है, अतएव यह असत्कल्प है। वह विचार से द्वैत-कोटि में आ जाता है। आगम के मत में अद्वैत शब्द का अर्थ है दो का

---

१. महेश्वरानन्द-कृत 'महार्थमञ्जरी-टीका परिमल', पृ० ५२; 'प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र', १० पृ० २२, २३।

नित्य सामरस्य। शङ्कर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए वाक्य द्वारा जितना ही अद्वैतभाव का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गयी है उतना ही पूर्णभाव के प्रकाश में बाधा पड़ी है। वे माया को सत्य नहीं मान सकते, इसी से उनका अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक (exclusive), संन्यासमूलक (bascd on renunciation or elimination) है, अनुवृत्ति किंवा ग्रहण-मूलक (all-embracing) नहीं। माया ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर ब्रह्म सत्य है; परन्तु विचार-दृष्टि से माया सदसद्विलक्षण है। किन्तु माया को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से ब्रह्म और माया की एकरसता हो जाती है। यह एकरसता माया को त्याग कर या तुच्छ समझ कर नहीं बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है। बादल के द्वारा दृष्टि शक्ति के ढकी जाने पर हम कहते हैं कि मेघ ने सूर्य को ढक लिया है, किन्तु यह मेघ क्या स्वयमेव सूर्य से ही उत्पन्न नहीं है? क्या मेघ सूर्य की ही महिमा नहीं है? सुतरां जो सूर्य है वही मेघ है, क्योंकि यह उसी की शक्ति है। माया-मेघ भी इसी प्रकार ब्रह्म से आविर्भूत होता है, उसी के आश्रय में आत्म-प्रकाश करता है और उसी में विश्राम-लाभ करता है। जो माया है वही ब्रह्म है। ब्रह्म स्वयं ही मानों अपने को अपने द्वारा अर्थात् अपनी शक्ति—माया के द्वारा ढक लेता है, परन्तु ढकने पर भी पूर्णतः ढक नहीं जाता; क्योंकि वह अनावृत रूप है। अतः कहना पड़ता है कि वही अपना आवरक (ढकनेवाला) है और वही अपना उन्मोलक (खोलनेवाला) है। उसके सिवा और है ही क्या? ब्रह्म और माया एक ही वस्तु हैं। ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैताभास आ ही जाता है। जिस अवस्था में माया मिथ्या है, उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है, क्योंकि माया को मिथ्या अनुभव करते ही माया की सत्ता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है, और माया को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो ब्रह्मबोध होता है वह माया-कल्पित वस्तु है। यह बात वेदान्ती को भी किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करनी ही पड़ती है। इधर माया को सत्य समझने में ब्रह्म भी सत्य हो जाता है। माया की विचित्रता के अनुसार यह ब्रह्मबोध भी विचित्र ही होगा और वे सभी बोध समान-रूप से सत्य होंगे। उस समय जगत् के यावत् पदार्थ ब्रह्मरूप में प्रतिभात होंगे; सब ही सत्य है, सभी विस्मय और आनन्दमय है, इस तत्त्व की उपलब्धि होगी। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह उपनिषद्-वाक्य उस समय सार्थक हो जायेगा। माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं, वरं उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकास-रूप में अनुभव करने से, आलिङ्गन करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है। शक्ति सत्य है, सुतरां जीव और जगत् भी सत्य है—मिथ्या नहीं है, इसलिये सभी वस्तुतः शिवमय है। यह वैचित्र्य एक का ही विलास है, भेद-अभेद का ही आत्मप्रकाश है, शक्तिरूप किरणराशि शिवरूप सूर्य का अपना ही स्फुरणमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान् शङ्कराचार्य के 'तमःप्रकाशवद्विरुद्धयोः' पद की यथार्थता स्वीकार करके भी यह बात कही जा सकती है कि प्रकाश से ही घर्षण के द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही

घर्षण के द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनों ही नित्य संयुक्त हैं, स्वरूप में समरस-भावापन्न हैं। घर्षण से प्राधान्यका विकास होता है। इस प्राधान्य के अनुसार व्यपदेश होता है; आगमशास्त्र का यही सिद्धान्त है। पुरुष से प्रकृति किंवा प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं हैं, हो भी नहीं सकते। जो ऐसा करते हैं। वे केवल विचार (logical abstraction) के द्वारा तत्त्वविश्लेषण-मात्र करते हैं। वस्तुतः सांख्य के प्रकृति पुरुष-विवेक का अर्थ भी पृथक्करण नहीं है, इसके प्रमाण सांख्यकारिका और योगभाष्य में स्पष्ट पाये जाते हैं। इसकी आलोचना किसी दूसरे समय की जा सकती है। स्पन्दशास्त्रकार कहते हैं—

"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः" ॥

इसका तात्पर्य यही है कि जीवन्मुक्त जगत् भर को ही आत्मक्रीडा अर्थात् आत्मशक्ति के विलासरूप में देखते हैं, उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती। भेद और अभेद, व्युत्थान और निरोध दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशङ्का नहीं रह जाती; क्योंकि दोनों एक ही के दो प्रकार हैं। इसी को शिवशक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते हैं। यही ईश्वराद्वयवाद की विशिष्टता है।

(६) प्रत्यभिज्ञादर्शन में ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य

इस अद्वयवाद में एक और विशेषता यह है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही है। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। शङ्कर द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शङ्कर के मत से भक्ति द्वैतमूलक है, इसी कारण अद्वैतावस्था में ज्ञानाविर्भाव में इसकी सत्ता नहीं रहती। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। परन्तु जो अद्वैत-भक्तिरूप पदार्थ है, वह शास्त्र और महात्माओं के अनुभव से जाना जा सकता है। यह नित्य पदार्थ है। साधारणतः जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही आवरणभङ्ग-जनित समुन्मेष-मात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को चिदानन्दलाभ अथवा पूर्णाहन्ता चमत्काररूप में अभिहित किया गया है। चिदंश ज्ञानभाव है और आनन्दांश भक्ति है। परम तत्त्व स्वातन्त्र्यमय है; स्वतन्त्रता ही पूर्ण शक्ति है; इसी कारण इस मत में चरमावस्था में भी शिवशक्ति का सामरस्य ही माना गया है। शक्ति के अभाव की अथवा उसके अवास्तवत्व की कल्पना कभी नहीं की गयी। वस्तुतः शिव और शक्ति अभिन्न हैं, दोनों में भेद नहीं है और हो भी नहीं सकता। परन्तु विश्वदृष्टि से सृष्टि और संहार की, किंवा उन्मेष और निमेष की ओर लक्ष्य देने से शक्तिप्रधान अथवा शिवप्रधानरूप से केवल एक ही परम तत्त्व का निर्देश किया जाता है। परन्तु शक्तिप्रधान अवस्था में भी शिवभाव रहता है, क्योंकि प्रकाशमय शिवभाव में ही विमर्शात्मक शक्ति का विकास-स्वरूप विश्व प्रतिबिम्बित होता है, और शिवप्रधान अवस्था में भी शक्तिभाव रहता है, विश्वबीजशक्ति उस समय प्रकाश में विलीन रहती है और इन दोनों की सामरस्य अवस्था को, जहाँ शिव और शक्ति

दोनों साम्य को प्राप्त हैं, न शिव कहा जाता है और न शक्ति ही कहा जाता है; परन्तु दोनों ही भाव वहाँ एकाकार में विद्यमान रहते हैं। यही परम भाव है। हमारे दर्शनों में इसको सर्वभाव की प्रतिष्ठा के रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ चिदंश शिवभाव और आनन्दांश शक्तिभाव परस्पर मिले हुए हैं. इसी कारण यह ज्ञान-भक्ति की सामञ्जस्य-अवस्था है। यह याद रखना चाहिये कि पूर्वोक्त शिव और शक्ति तथा यह सामरस्य दोनों ही नित्य हैं, केवल एक ही पदार्थ की दो दिशाएँ हैं।

कहा जाता है कि षट्पञ्जरिकास्तोत्र श्रीशङ्कराचार्य का रचा हुआ है। उसमें है—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः" ॥

यदि यह श्लोक वस्तुतः शङ्कर का ही है तो यह कहना पड़ेगा कि वह अद्वैत-भक्ति का प्रचार करते हैं। 'सत्यपि भेदापगमे' इस वाक्यांश की योजना के द्वारा समझा जा सकता है कि उनका अभिप्राय, भेद दूर हो जाने पर भी 'मैं तुम्हारा हूँ', यह कहने का है। सुतरां, अभेद-अवस्था में भी 'मैं तुम्हारा हूँ', यह भाव रह सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दास्यात्मक भक्तिभाव ही है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा 'तुम और मैं' का वास्तविक भेद मिट जाता है तथापि पराभक्ति के प्रभाव से उस अद्वैतसमुद्र में भी कल्पित भाव द्वैत की लहरी उठती है। यह द्वैत वस्तुतः द्वैत नहीं है, इसलिये इस अवस्था की भक्ति को अद्वैत-भक्ति कहना असङ्गत नहीं है। यही नित्यभाव है। बोधसार में नरहरि कहते हैं[1]—

"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः" ॥

अद्वैत-भक्ति क्या है तथा उसके स्वरूप की प्राप्ति कैसे होती है, यह विवरण यहाँ प्रयोजनीय नहीं हैं। नारायणतीर्थ अपनी भक्तिचन्द्रिका नामक शाण्डिल्यसूत्र के भाष्य में इस भक्ति की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं तथा अन्य भी अनेक स्थलों में इसका प्रसङ्ग मिलता है। त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड में है[2]—प्रकाशसार परम तत्त्व को अपरोक्षरूप में आत्माभिन्नभाव में साक्षात्कार करने पर भी कोई-कोई परम भक्त प्रेम-पूर्वक उसकी सेवा किया करते हैं। सेवा करने के लिये सेव्य-सेवकभाव होना आवश्यक है, अद्वयावस्था में यह भाव किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसीलिये कहा गया है कि भेदभाव अवलम्बन करके सेवा की जाती है। निश्चय ही यह आहार्य-भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। जहाँ परम तत्त्व साम्यस्वरूप है वहाँ तो भेद है ही नहीं, वह

---

१. द्रष्टव्य, पृ० २००-२०१।
२. अध्याय २०, श्लोक ३३-३४।

तो सब अवस्थाओं का सन्धिस्थल है। परन्तु इस भेद के आहरण करने का प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन और कुछ भी नहीं है, है केवल रुचिभेद, 'स्वभाव का स्वरस'—

यत् (अर्थात् परं पदं प्रतिभात्मकम्) सुभक्तैरति-
शयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥ ३३ ॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वाऽपि स्वाद्वयं पदम् ।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥ ३४ ॥

इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान के अनन्तर भी भक्ति रह सकती है। यह कैतव-हीन होने के कारण सुभक्ति है। अज्ञानमूलक द्वैत या साधनभक्ति के समान स्वार्थानु-सन्धानात्मिका नहीं है। अद्वैत-भक्ति के पक्ष में भी एक भेद आवश्यक है, यह कल्पित और ज्ञानपूर्वक होती है। परन्तु एक बात है, ज्ञान के बाद यह अद्वैत-भक्ति सभी के होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसका हृदय स्वभावतः भक्तिप्रवण है उसी के अद्वैत-भक्ति का उदय होता है, ज्ञानार्थी को ऐसा नहीं होता।

किन्तु उदित हो या न हो, अन्त में ज्ञान और भक्ति एकाकार हो जाते हैं; जिसे पूर्णाहन्ता या स्वात्मचमत्कार कहा जाता है। वही ज्ञान की सीमा और वही प्रेम की भी पराकाष्ठा है। इसीलिये यह समन्वय-भूमि है। यहाँ से दोनों स्रोत प्रवाहित होते हैं।

त्रिकदर्शन में दास्यात्मक भक्ति ही स्वीकार की गयी है। भगवान् प्रभु, पिता अथवा गुरु हैं, भक्त दास, पुत्र अथवा शिष्य है। केवल त्रिकदर्शन में ही नहीं, शैवागम-मात्र में ही इसी भाव की प्रधानता दीख पड़ती है। वीर-शैवादि-मत में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत देखा जाता है[१]। शाक्तागम में भी मूलतः इस विषय में कोई भेद नहीं दिखायी देता। हाँ, पितृभाव की जगह उसमें मातृभाव की कल्पना की जाती है, यही विशेषता है। परन्तु इस भावत्रयी में दास्यभाव ही मूलभूत है, अतः इसी का प्राधान्य बतलाया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि, भक्ति का मूलतत्त्व ही दास्यभावाश्रित है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। शान्त-भक्ति भक्ति की एक स्फुरण-अवस्थामात्र है। किञ्चित् विकसित होते ही उस पर दास्यभाव का रंग चढ़ जाता है। अद्वैत से द्वैत की तरङ्ग इसी भाव में उठती है। फिर चाहे कितना ही विकास हो, यह रंग नहीं छूटता। यद्यपि गौडीय वैष्णव प्रभृति सम्प्रदायों में सख्य, वात्सल्य और माधुर्यभाव भी माने गये हैं तथापि यह सत्य है कि सभी भावों के मूल में यह दास्यभाव अनुस्यूत है। भूत-सृष्टि में जिस प्रकार वेदान्त के अनुसार आकाश से वायु, वायु से अग्नि इत्यादि क्रम से पृथिवी का आविर्भाव होता है, रसविकास में भी इसी प्रकार शान्त से दास्य, दास्य से सख्य इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर रसपुष्टि होती है। आकाश का अपना गुण शब्द है; वायु के उत्पन्न होने पर शब्द-गुण की तो प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त उसका अपना गुण स्पर्श भी विकसित हो उठता है। इस प्रकार क्रमशः एक-

---

१. द्रष्टव्य, मायिदेव-कृत 'अनुभवसूत्र'।

एक गुण बढ़ते रहते हैं और पूर्वगुण क्रमशः अनुवृत्त होते जाते हैं। इसीलिये पृथिवी में पाँचों भूतों के गुण हैं; इनमें शब्दादि चार उसके समागत सामान्य गुण हैं, गन्ध उसका विशेष गुण है। इसी प्रकार भाव के क्रमविकास के विषय में भी समझना चाहिये। शान्त भाव का विशेष गुण निष्ठा दास्यभाव में अनुवृत्त होती है और उसका अपना गुण सेवा भी उस समय विकसित हो उठता है। सख्य में शान्त और दास्य दोनों के गुण अनुवृत्त होते हैं तथा अपने गुण असङ्कोच का भी विकास होता है। इसी प्रकार माधुर्य में सभी रसों के गुण, अर्थात् निष्ठा, सेवा, असङ्कोच, लालन वर्तमान रहते हैं और इनके अतिरिक्त उसका विशेष गुण आत्म-समर्पण भी स्फूर्त हो उठता है।

त्रिकदर्शन दास्यात्मक भक्ति को मानकर भक्ति के मूल-तत्त्व को ही मान लेता है। पर केवल मूल को ही मानता हो सो बात नहीं, भक्ति के चरम फल माधुर्य-प्रेम को भी आभासरूप में स्वीकार करता है। परन्तु याद रखना चाहिये कि यह भक्ति अज्ञान-मूलक द्वैतभाव से उत्पन्न नहीं है। यह परिस्फुटित अद्वैत की अवस्था है और एक हिसाब से यह परिस्फुटित द्वैत-अवस्था भी है—परन्तु यह अलौकिक 'द्वैत' है, यही विशेषता है। इसीलिये यहाँ एक ही साथ ज्ञान और भक्ति का, चित् और आनन्द का समावेश दिखलायी पड़ता है। इसी का नाम शिवशक्ति का सामरस्य है। यह रसतत्त्व ही ऐक्य और वैचित्र्य का पूर्ण सामञ्जस्य है। यह रस 'ब्रह्मानन्द' से विलक्षण एवं विशिष्ट है। ब्रह्मानन्द में आस्वादन नहीं, चर्वण नहीं, अहंभाव नहीं, त्रिपुटी नहीं, परन्तु रस में सभी कुछ है, पर अलौकिक है। पूर्णाहन्ता का चमत्कार ही रसबोध है—इसमें अभेद में भी अलौकिक भेद है, नहीं तो आस्वादन ही नहीं हो सकता। परन्तु यह भेद लौकिक भेद के समान नहीं है, यह वैकल्पिकमात्र है। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती नामक टीका में रसतत्त्व की जो प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसार आलोचना की है, उसमें रस का स्वरूप बहुत कुछ परिष्कृत हो हो गया है।

प्रश्न हो सकता है कि यह रस केवल शान्तरस है अथवा दास्य भी है? इस प्रश्न का समाधान, पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हो जा सकता है। भक्ति के मूल में दास्यभाव रहेगा ही। शान्तभाव को भक्ति का बीजभाव कहा जा सकता है सही, किन्तु वह परिस्फुट भक्ति नहीं है। दास्यबोध जब तक नहीं हो जाता, अपने को एक अनन्त वस्तु के साथ अभिन्न जानकर भी जब तक तदाश्रित-रूप से बोध नहीं हो जाता, तब तक भक्तिराज्य का आरम्भ ही नहीं होता। शान्तभाव इसी का सूत्रपात करता है। किन्तु यह अनन्त वस्तु अपने आत्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। इसी से जिस ब्रह्मभाव से शान्तरस और तदनन्तर दास्यादि का आविर्भाव होता है, शान्त अथवा दास्यादि में वही ब्रह्मभाव अनुवृत्त रहता है—परन्तु उसी के ऊपर शुद्ध अप्राकृत सत्त्व की लहर क्रीड़ा करती है।

अन्धकार दबा रहता है, आलोक के वक्षःस्थल पर आलोक की ही तरङ्गें नाचा करती हैं। यह तरङ्ग ही 'उल्लास' या रस है। इसका वैचित्र्य ही लीलाविस्तार है। यह तरङ्ग शुद्धस्वरूप में सदा वर्तमान रहती है, इसीलिये वैष्णवों के समान शैव भी

नित्यलीला मानते हैं। इसीलिये क्षेमराज ने अपनी स्तवचिन्तामणिटीका[1] में शिव को—

'कैलासादिषु नित्यप्रवर्तमानप्रमोदनिर्भरक्रीडामेयं लोकोत्तरप्रभावं विस्तारयित्रे' —कहा है। परन्तु कोई-कोई पुरुष, विशेषतः आलङ्कारिकगण भक्ति को रस-स्वरूप नहीं मानते। काव्यप्रकाशकार मम्मट, रसगङ्गाधर के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आलङ्कारिकगणों ने भक्ति को भावकोटि में ही डाल दिया है। परन्तु इससे कोई विरोध नहीं आता। साहित्यसारकर्त्ता अच्युतराय ने दिखलाया है कि गीता के 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' से 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' पर्यन्त के वाक्यों से जाना जाता है कि मुख्य भक्ति जीवन्मुक्ति का ही नामान्तर है। जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्य स्वामी भी यही बात कहते हैं—

'जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते।'

इस दृष्टि से भक्ति कुछ-कुछ शान्तरस के अन्तर्गत हो जाती है। इसीलिये आलङ्कारिक-लोग भक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं मानना चाहते। अर्थात् मुख्य भक्ति को रस मानने में आलङ्कारिक लोग असम्मत नहीं हैं, किन्तु वे उसे शान्तरस से पृथक् मानने का कोई कारण नहीं देखते। दूसरी ओर भक्तगण जो कुछ कहते हैं वह भी सत्य है। वे कहते हैं कि भक्ति जब अद्वैत-आत्मतत्त्व-विषयक वृत्तिविशेष है तो उसके रसत्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्यसार के टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भक्ति मुख्य और गौण, अथवा परा और अपरा-भेद से दो प्रकार की है। अलङ्कारशास्त्र में मुख्य-भक्ति शान्तरस के अन्तर्गत है और गौण-भक्ति भावमात्र है। भक्तिशास्त्र में शान्तरस स्वयं ही भक्तिविशेष है और मुख्य-भक्ति तो रसस्वरूपा है।

शाण्डिल्य और नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में, मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरसायन में और श्रीरूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के रसत्व का उपपादन किया है। यहाँ उन सबकी आलोचना आवश्यक नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि प्रत्यभिज्ञादर्शन के आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में स्वीकार कर अध्यात्मराज्य के एक गम्भीर तत्त्व को प्रकट कर दिया है। उत्पलाचार्य अपनी शिवस्तोत्रावली के प्रथम स्तोत्र में कहते हैं—

"जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो॥"

पराभक्ति की यही विशेषता है कि इस अवस्था में दूसरे के न होते हुए भी दूसरा रहता है। नदिया के श्रीगौराङ्ग महाप्रभु ने इसीलिये अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व का प्रचार किया। जो समझते हैं कि दो होने ही से मिथ्या हो जायगा, उन्होंने पूर्ण सत्य के केवल एकदेश-मात्र को देखा है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी, ऐक्यस्फुरण होने पर भी उस ऐक्य की गोद में दो रह सकते हैं, यद्यपि वे दोनों ही एक का ही शुद्धभाव में आत्मप्रसारण है—

---

१. द्रष्टव्य, पृ० ६०-६१।

"नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येकक: स्थित: ।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः ॥"

अन्तर्मुखावस्था में कुछ भी जानने योग्य न रह जाने पर भी एक के रूप में जिसका स्फुरण होता है, ज्ञेय और ज्ञाता के इस संक्षोभ में—इस वैचित्र्य में भी भक्त-गण समावेश की अधिकता के कारण उसी को देखते हैं। जो विश्वातीत हैं वही तो विश्वात्मक भी हैं और दोनों समकाल में ही हैं। इसीलिये ज्ञान और भक्ति जहाँ समरस है, वहाँ विश्वातीत और विश्वात्मक समभाव में ही प्रकाशमान हैं। यहीं द्वैताद्वैत का सामञ्जस्य होता है। यही ईश्वराद्वयवाद की विशिष्टता है।

(७) शङ्कर और आगम-सम्प्रदाय

शङ्कर द्वारा प्रचारित ब्रह्मवाद के साथ ईश्वराद्वयवाद का जो भेद दिखलाया गया है इससे कोई यह न समझे कि शङ्कराचार्य ईश्वराद्वयवाद को नहीं मानते थे। वस्तुत: शङ्कराचार्य प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त को मानते थे तथा अनेकों स्थलों पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात को घोषित किया है। इसकी आलोचना पीछे की जायगी। साधारणतः संन्यासी-सम्प्रदाय में जो मत प्रचलित है तथा जिसका अवलम्बन कर अद्वैत-प्रस्थान के ग्रन्थ आदि रचे गये हैं, आजकल एकमात्र उसी को शङ्कर का मत समझा जाता है। किन्तु उसके साथ अन्यान्य मतों का भी सम्बन्ध था, इसे एकबारगी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा ख्याल है कि आगम और निगम दोनों मार्गों के ही सम्प्रदाय प्रवर्तक बनकर शङ्कराचार्य ने जगद्-गुरु-पद की सार्थकता सम्पादन की थी। ज्ञान और उपासना—संन्यास और गार्हस्थ्य—दोनों दिशाओं में ही उनकी प्रचारशक्ति अव्याहत थी। महापुरुषों के उपदेश देने की यही सनातन-पद्धति है। बुद्धदेव, महावीर प्रभृति धर्म-प्रचारकगण सभी न्यूनाधिक रूप में इसी पद्धति का अनुसरण कर गये हैं।

उपलब्ध ग्रन्थावली से कई शङ्कराचार्यों के विषय में पता लगता है, परन्तु इस विषय की आलोचना यहाँ अप्रासङ्गिक है। तन्त्रशास्त्र में भी एकाधिक शङ्कराचार्य का परिचय प्राप्त होता है या नहीं यह एक स्वतन्त्र विषय है। तथापि अनेकों प्रकार की ऐतिहासिक आलोचना से यही अनुमान होता है कि ब्रह्मवादी शङ्कर आगमशास्त्र के ज्ञाता थे। केवल यही बात नहीं, बल्कि उन्होंने अनेकों आगम-ग्रन्थों की रचना और व्याख्या की थी। इसी प्रकार की जनश्रुति भी है।

प्रत्यभिज्ञामत के साथ त्रिपुरासिद्धान्त का अथवा श्रीविद्या का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। शङ्कर इस श्रीविद्या के एकनिष्ठ साधक थे। शृङ्गेरीमठ में आज भी उनका श्रीचक्र स्थापित है, आज भी वहाँ उसकी उपासना होती है। शङ्कराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य ने श्रीविद्या का प्रतिपादन करने के लिये सुभगोदय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसके ऊपर शङ्कर की टीका है[1]। और सम्भवतः इसी के अनुकरण में

१. सुभगोदय के ऊपर माधवाचार्य की भी व्याख्या है। टीका भी दो प्रकार की पायी जाती है। लक्ष्मीधर सौन्दर्यलहरी की व्याख्या में केवल शाङ्करी-टीका का ही उल्लेख करते हैं।

उन्होंने अत्यन्त गम्भीर रहस्यपूर्ण सौन्दर्यलहरी नामक स्तोत्र रचा था[१]।

इस ग्रन्थ के ऊपर सुरेश्वराचार्यकृत टीका है, शृङ्गेरीमठ में इसी टीका की एक अति प्राचीन हस्तलिखित प्रति वर्तमान है।[२] प्रपञ्चसार-ग्रन्थ शङ्करकृत माना जाता है। इसके ऊपर पद्मपादाचार्य की टीका है। उत्तर और दक्षिण भारत में विभिन्न समय में लिखित इस टीका की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे दृष्टिगोचर हुई हैं। सूतसंहिता और पराशरसंहिता को टीका में माधवाचार्य ने प्रपञ्चसार को जगद्गुरु शङ्कराचार्य-कृत माना है। शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट भी यही कहते हैं। सम्मोहनतन्त्र में शङ्कर और उनके चार शिष्यों का वर्णन है। यह सब देखकर शङ्कर को शाक्तागम के विशेषतः त्रिपुरागम के एक अति प्रधान आचार्य मानना ही होगा।

उनका दक्षिणामूर्तिस्तोत्र और सुरेश्वराचार्यकृत उस पर वार्तिक देख कर यह बात और भी स्पष्टरूपेण समझी जा सकती है। यहाँ संक्षेप में इस बात को दिखलाया जाता है। 'दक्षिणामूर्ति' त्रिपुरा-सम्प्रदाय का शब्द है। 'दक्षिणामूर्ति-संहिता,' 'दक्षिणा-मूर्ति-उपनिषद्' प्रभृति उक्त सम्प्रदाय के मत का प्रतिपादन करनेवाले प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सुतरां, गुरुतत्त्व किंवा स्वात्मदेवता का दक्षिणामूर्ति के आकार में वर्णन करने से

सम्भवतः द्वितीय टीका उन्हें हस्तगत नहीं हुई थी। पण्डित महादेव शास्त्री द्वारा लक्ष्मीधर का समय चतुर्दश शताब्दी के प्रथमांश में निर्धारित है; किन्तु यह निर्विवाद नहीं है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लक्ष्मीधर भास्करराय के बहुत ही पूर्व हो गये हैं। हमारे अनुसार उन्हें माधवाचार्य से परवर्ती मानना चाहिये।

१. कोई-कोई विद्वान् सौन्दर्यलहरी शङ्कर की रचना है, इस पर विश्वास नहीं करते। परन्तु हमारी समझ में यह शङ्कराचार्य की ही अपनी रचना हैं। पण्डित महादेव शास्त्री ने इस विषय में जो कुछ कहा है वह ध्यान देने योग्य है—

"The fact that Sri Sankaracharya was a reformer in his days of the Shakta Cult as of various others, the very important part still played by Shakti Worship in all the Advait Mutts, the identity of the soul and the goddess spoken of in verse 22, the reference to Vedanta in verse 84, the peculiar style of the hymn, and an impartial reference to, and an attempt to unify the peculiar doctrines of, the mutually opposed sects of Samaya Marga and Kaula Marga, and lastly, the unanimous testimony of such writers as Lakshmidhara and Bhaskararaya—all these incline me to believe that the hymn is a genuine work of Sri Sankaracharya"—Preface to Saundarya-Lahari, p, vii, Mysore Oriental Series.

२. काशीवासी पण्डित श्रीयुत सीताराम शास्त्री दीर्घकाल तक शृङ्गेरीमठ में रहे थे। उन्होंने वहाँ रहने के समय सुरेश्वर की टीका को देखा था। उनके द्वारा इस टीका के विषय में हमने सुना था।

शङ्कर का आगमानुराग प्रमाणित होता है। इस स्तोत्र के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि ज्ञानी की दृष्टि में विश्व स्वात्मगत तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरवत् है। अर्थात् वस्तुतः यह विश्व अपने अन्तर्गत है, परन्तु माया से बहिर्वत् जान पड़ता है। प्रबोध-काल में माया के नष्ट होने पर पुनः यह अपने अद्वय आत्मस्वरूप में ही साक्षात्कृत होता है। यहाँ विश्व स्वीकृत होता है; परन्तु वह चिन्मय है, अपने स्वातन्त्र्य के विलास एवं आत्मभित्तिस्थ चित्ररूप में अङ्गीकृत है, जड़रूप में नहीं। द्वितीय श्लोक में कहा है कि यह विश्व आविर्भाव के पूर्व निर्विकल्पावस्था में वर्तमान रहता है, यह स्वगतादि भेद-कल्पना-विहीन शक्तिमात्र है। जिस प्रकार अङ्कुर उद्गम से पूर्व बीजरूप में रहता है, इसकी भी ठीक वही अवस्था है। पीछे माया के के द्वारा देश और काल के कल्पित होने पर वह नाना प्रकार के विचित्र आकारों में प्रतिभात होता है। जो मायावी के समान, महायोगी के समान, केवल स्वेच्छा से इस वैचित्र्यमय विश्व का विजृम्भण करते हैं वे ही आत्मदेव हैं, गुरुदेव हैं। यहाँ ये जो मायावी और योगी के दृष्टान्त दिये गये हैं, प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरादर्शन में भी ठीक ये ही दोनों दृष्टान्त हैं तथा जगत् की सृष्टि इच्छाशक्तिमूलक—उपादाननिरपेक्ष—है, इसका विचार किया गया है[1]।

प्रत्यभिज्ञाकारिका में उत्पलदेव कहते हैं—

"चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥"

अर्थात् सृष्टि शब्द का अभिप्राय है अन्तःस्थित पदार्थ का बहिःप्रकाश। सभी पदार्थ चिदात्मा के अन्तःस्थित हैं, केवल इच्छावश कभी-कभी कुछ-कुछ बहिःप्रकाशित होते हैं। यह बहिःप्रकाशन ही सृष्टि शब्द का अर्थ है। सुतरां, कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की सृष्टि में उपादान की अपेक्षा नहीं है। इच्छा-शक्ति के अव-लम्बन से जब वस्तु-निर्माण होता है तब पूर्वसिद्ध परमाणु का प्रयोजन नहीं रहता। जिन्होंने योगी के सृष्टि-व्यापार को प्रत्यक्ष किया है, वे इस दृष्टान्त की सार्थकता सहज ही जान सकते है। कोई-कोई यहाँ कह सकते हैं कि योगी की सृष्टि भी परमाणु-सापेक्ष है—योगी जब इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं तब उनकी प्रेरणा से समस्त परमाणु स्वयमेव आकर एकत्र हो जाते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त उक्त कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की कल्पना का कोई मूल नहीं है—

"न हि एवं वक्तुं शक्यम्—परमाणवो योगीच्छया झटिति संघटिताः कार्य-मारप्स्यन्ते इति"[2]।

इसका कारण यही है कि परमाणुवादी साक्षात् रूप से परमाणुओं द्वारा स्थूल वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं बीच में अवान्तर अवयवों का

१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सिद्धान्त की आलोचना करते समय इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया जा सकता है।

२. द्रष्टव्य—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० १३८।

व्यवधान होता है। घट-निर्माण करते समय केवल परमाणु-समूह को विशिष्ट संस्थान में, अर्थात् घटाकार में सन्निवेशित करना साक्षात्-रूप से सम्भव नहीं। परमाणु से द्व्यणुक, द्व्यणुक के सम्मिलन से त्रसरेणु—इस प्रकार क्रमशः स्थूलतर कार्य की उत्पत्ति होती है। फिर कपाल निर्मित होने के बाद दो कपालों के परस्पर संयोग से घट की सृष्टि होती है। केवल यही बात नहीं, लौकिक सृष्टि में अथवा उपादान-सापेक्ष सृष्टि में निर्दिष्ट सहकारी का आश्रय आवश्यक है, शिक्षा और अभ्यास का प्रकर्ष आवश्यक है; नहीं तो वस्तु-निर्माण सम्भव नहीं है। परन्तु योगी की सृष्टि में इन सबकी कुछ भी अपेक्षा नहीं होती। सुतरां, यह कल्पना व्यर्थ है कि योगी भी पूर्वसिद्ध परमाणु का अवलम्बन करके सृष्टि करता है[1]। योगिज्ञान की ही ऐसी महिमा है कि आभास-वैचित्र्यमय पदार्थ-समूह इच्छामात्र से ही प्रकाशित होते हैं। असल बात यह है कि संवित् स्वातन्त्र्यमयी (free) है, जब उसमें इच्छा का उदय होता है तब अप्रतिघात-रूप इच्छा के कारण अन्तःस्थित, अर्थात् ज्ञान-रूप में अथवा आत्मा के साथ अभिन्न-रूप में स्थित पदार्थ-समूह ज्ञेयरूप में अवभासित होते हैं। जो 'अहं' रूप में द्रष्टा के साथ एकाकार था वही 'इदं' रूप में पृथक् भाव में परिस्फुट हो उठता है। कल्पित प्रमाता, अर्थात् देहादि में तादात्म्य-बोधयुक्त द्रष्टा के समीप—परिच्छिन्न संवित् के सामने—यह पदार्थ बाह्य प्रतीत होता है।

अतएव इस विश्वरूप आभास-वैचित्र्य का मूल चिदात्मा की स्वातन्त्र्य-शक्ति है। सुरेश्वराचार्य उक्त द्वितीय श्लोक के वार्तिक में भी इस प्रकार इच्छा-शक्ति के उपादान-निरपेक्ष सृष्टि-सामर्थ्य का वर्णन करते हैं। वे दिखलाते हैं कि विश्वामित्र प्रभृति परिपक्व-समाधि ऋषियों ने उपादान, उपकरण और प्रयोजन के बिना भी केवल स्वेच्छा-मात्र से सब प्रकार की भोग-सामग्री से परिपूर्ण स्वर्गलोक की सृष्टि की थी। यही योगि-सृष्टि का दृष्टान्त है। ईश्वर-सृष्टि भी इसी प्रकार की है, क्योंकि वे स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं[2]। वे और भी कहते हैं कि ईश्वर कारक-व्यापार के बिना कर्ता, तथा प्रमाण-व्यापार के बिना सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे स्वप्रकाश हैं। उनके ज्ञातृत्व, कर्तृत्व प्रभृति उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति के ही नामान्तर हैं। उनकी इच्छाशक्ति स्वच्छन्दकारितास्वरूप है, वह अन्यनिरपेक्ष तथा अप्रतिहत है। इसी इच्छाशक्ति के बल से वे 'कर्तुम्', 'अकर्तुम्' और 'अन्यथा कर्तुम्', अर्थात् प्रवर्तन, निवर्तन और परिवर्तन करने में समर्थ हैं, यही स्वतन्त्रता है। योगी लोग इस इच्छाशक्ति के स्फुरण

---

१. माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह' में 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' शीर्षक प्रस्ताव में (आनन्दाश्रम संस्करण, पृ० ७८) "ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना" इत्यादि वाक्य के द्वारा इस मत का उल्लेख करते हुए खण्डन करते हैं, अर्थात् 'जो लोग कहते हैं कि योगी की इच्छा से परमाणुओं के आकृष्ट होने से स्थूल वस्तु निर्मित होती है'—उनके इस सिद्धान्त को वे असङ्गत प्रतिपादित करते हैं।

२. द्रष्टव्य—वार्तिक ४८;

"ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्ष्यतः।
स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च"॥

को ही 'साम्राज्य' कहते हैं[1]। 'साम्राज्य' सर्वत्र आत्मभाव का विकास है; जिनकी समाधि परिपक्व हो गयी है, वे ही इसे प्राप्त करते हैं। यही परमैश्वर्य है। अन्यान्य विभूतियाँ इसकी तुलना में कुछ भी नहीं हैं। आत्मा महेश्वर है, इसीलिये वार्तिक में सुरेश्वर कहते हैं—

"यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिर्ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
ऐश्वर्यवन्तो भासन्ते स एवात्मा सदाशिवः"[2] ॥

आगे की कारिका में है कि पूर्णाहन्ता-लाभ होने पर यह ऐश्वर्य स्वयं विकसित होता है, इसके लिये स्वतन्त्र चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अग्नि के साथ-साथ ताप की प्राप्ति के समान पृथक् रूप से कोई यत्न नहीं करना पड़ता। स्तोत्र के दशम श्लोक में में शङ्कर स्वयं भी इस सर्वात्मता अथवा पूर्णाहन्ता का 'महाविभूति' के नाम से वर्णन करते हैं। यही अव्याहत ऐश्वर्य है, अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ इसका परिणाम-मात्र हैं। यह 'अहं' निर्विकल्प है, सुतरां अपरिच्छिन्न और पूर्ण है। यह न तो शुद्ध है, और न मलिन है (४।३१)। नवम और दशम उल्लास के वार्तिक[3] में परमेश्वर की मूर्ति को छत्तीस तत्त्वात्मक अर्थात् विश्वात्मक बतलाया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये छत्तीस तत्त्व प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरा-दर्शन का सुपरिचित सिद्धान्त है। इन सब पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शङ्कर और सुरेश्वर इस ग्रन्थ में साक्षात्-रूप से आगम का ही अनुसरण करके चलते हैं[4]।

पहले जो सृष्टि में उपादान-निरपेक्षता की बात कही गयी है, शाङ्करवेदान्त में यही अभिन्ननिमित्तोपादानवाद के नाम से परिचित है। अवश्य ही अद्वैतवाद के मानने पर निमित्त और उपादान के भेद को अस्वीकार करना ही पड़ता है। परन्तु बात यह है कि शारीरक-भाष्य में ब्रह्म के मुख्य कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। शङ्कर स्पष्ट कहते हैं कि ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व वास्तविक नहीं है, वह अविद्यारूप उपाधि का परिच्छेद-निबन्धन है, अतः कल्पित है—

"तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते"[5]।

इस भाष्यांश से स्पष्ट समझा जा सकता है कि चिदात्मा का ईश्वरत्व अविद्या-मूलक है, स्वतःसिद्ध नहीं। सुतरां, मुक्तावस्था में जब विद्या के आलोक से अविद्यान्ध-

१. द्रष्टव्य—दशम श्लोक की २१वीं कारिका।

२. द्रष्टव्य—वार्तिक १०।६।

३. द्रष्टव्य—९।२,९।४, १०।१०।

४. स्वयंप्रकाश, रामतीर्थ प्रभृति टीकाकारों ने प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरा सिद्धान्तों में अनेक स्थलों पर श्लोक और वार्तिक की व्याख्या में भूलें की है। मूल में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, टीका में उसका आभास भी नहीं है।

५. वेदान्तसूत्र २।१।१४ पर भाष्य।

कार तिरोहित हो जाता है तब ईश्वरत्व नहीं रहता। परन्तु दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र के दशम श्लोक में शङ्कर स्पष्ट लिखते हैं कि ईश्वरत्व रहता है, सर्वात्मतास्वरूप महाविभूति रहती है, पूर्णाहन्ता रहती है; क्योंकि यह आत्मस्वरूप से विलक्षण नहीं है, यह आत्मदेव का स्वभावभूत है, अविद्यानिमित्तक नहीं। सुरेश्वराचार्य भी यही बात कहते हैं—

"ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक् स्थितिः।
पुरुषे धावमानेऽपि छाया तमनुधावति॥"

ईश्वरभाव और शुद्ध चैतन्यभाव पृथक् नही हैं। सुतरां, आत्मज्ञान होने पर ऐश्वर्य-लाभ अपने आप ही हो जाता है।

(८) त्रिपुरा और प्रत्यभिज्ञा मत का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रसङ्गतः हमने प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के साथ त्रिपुरा और स्पन्द-मत के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में कहा है। जो आगम एक का आकर-ग्रन्थ है, दूसरे का भी वही है। उपासना की पृथक्ता को बचाये रखने के लिये अवश्य ही पृथक् प्रस्थान रचे गये हैं, परन्तु वे एक ही मूल के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। पद्धति के भेद को छोड़ कर तात्त्विक दृष्टि से दोनों के फल में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। इसीलिए हम देखते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने त्रिपुरा-सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखते समय शिवसूत्र, प्रत्यभिज्ञाहृदय, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक प्रभृति सुप्रसिद्ध शैवग्रन्थों से प्रमाण संग्रह किये हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर उत्पलदेव, क्षेमराज, अभिनवगुप्त, महेश्वरानन्द प्रभृति शैवाचार्यों ने प्रयोजनानुसार योगिनीहृदय, कामकलाविलास, त्रिपुरसुन्दरीमन्दिर प्रभृति ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। जिस प्रकार सांख्य और योग में निकट सम्बन्ध है उसी प्रकार त्रिक-मत और त्रिपुरा-मत में भी है। परशुराम-कल्पसूत्र, बिन्दुसूत्र, तन्त्रराज, त्रिपुरारहस्य, नित्याहृदय, वामकेश्वर-तन्त्र, परमानन्द-तन्त्र सौभाग्यरत्नाकर प्रभृति त्रिपुरा-मत के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। भास्करराय, कवि रामेश्वर, लक्ष्मीधर, उमानन्दनाथ अमृतानन्द प्रभृति इस मत के उत्कृष्ट व्यख्याता हैं। इस प्रकार पर्यालोचना करने से अच्छी तरह समझा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के साथ त्रिपुरा-सिद्धान्त के दार्शनिक अंश की, अर्थात् ज्ञानकाण्ड की ऐसी कोई पृथक्ता नहीं है।

परन्तु एक बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये। दोनों ही मतों में छत्तीस तत्त्व माने गये हैं। इनके परे जो है वह तत्त्वातीत है। संसार इन्हीं छत्तीस तत्त्वों की समष्टि है। तत्त्वातीत से ही तत्त्वों का उद्भव होता है, इसलिये दोनों मूल में एक ही हैं। इसीलिये वह परम वस्तु साथ-ही-साथ तत्त्वातीत, अर्थात् विश्वोत्तीर्ण भी है और सर्वज्ञत्वमय, अतः विश्वात्मक भी है। इस विश्व में पैंतीस और छत्तीस संख्यक तत्त्व हैं। जिसका पारिभाषिक नाम शक्ति और शिव है, वह नित्य है। यहाँ तक कि इसका आविर्भाव और तिरोभाव नहीं है, यह सदा उदित है, इसलिये वास्तव में पृथिवी से लेकर सदाशिव-तत्त्व तक चौंतीस ही तत्त्व विश्वनाम से अभिहित होने योग्य हैं। अतः

सृष्टि शब्द से सदाशिव प्रभृति तत्त्वमाला का क्रमशः आविर्भाव समझना चाहिये। इस आविर्भाव का बीज, जिसका क्रमविकास ई विश्व है, 'शक्ति' कहलाता है। इस शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख और बहिर्मुख, दोनों भाव सनातन हैं, क्योंकि परमेश्वर नित्य ही 'पञ्चकृत्यकारी' हैं। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिवभाव प्रधान है—शक्तितत्त्व में शिवभाव गौण और शक्तिभाव प्रधान है। परन्तु जहाँ शिव और शक्ति दोनों एकरस हैं, वहाँ न शिव का प्राधान्य है और न शक्ति का। वह साम्यावस्था है। यही नित्य अवस्था है। यही तत्त्वातीत है। कोई-कोई इसे सैतीसवाँ तत्त्व कहते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि इसके सम्बन्ध में न तो कुछ कहा ही जा सकता है और न कुछ सोचा ही जा सकता है। यही सबके चरम लक्ष्य हैं। शैवों के ये परम-शिव, शाक्तों की पराशक्ति और वैष्णवों के श्रीभगवान् हैं। परन्तु यह याद रखना होगा कि ये सब नाम भी केवल नाममात्र हैं। व्यवहार की सुगमता के लिये इनका कल्पित व्यपदेश है।

(९) आगम और सूफीमत

त्रिपुरा-मत के साथ प्रत्यभिज्ञा-मत का मौलिक अभेद स्थापित किया गया। इन दोनों मतों के साथ गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्त का ऐतिहासिक सम्बन्ध जान पड़ता है। गौडीय सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन करने के समय कभी इस विषय की आलोचना की जायगी। किन्तु केवल यही नहीं; हमारे विश्वास से सूफीमत के साथ भी त्रिपुरादि-सिद्धान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब तक इस विषय की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया है। इसलिये इस सम्बन्ध में दो-चार बातें कह कर अभी इस लेखका उपसंहार किया जायगा।

क्रेमर (Von Kremer), डोज़ी (Dozy), साचि (Sylvestre de Sacy) प्रभृति आचार्यों का मत है कि सूफी लोग अपने सिद्धान्त के लिये वेदान्त दर्शन के अत्यन्त ऋणी हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध कवि गेटे का भी यही विश्वास था। उसके 'West Ostlicher Divan' नामक ग्रन्थ में इसका प्रमाण पाया जाता है। दूसरे पक्ष में निकल्सन (Nicholson), गिब (Gibbe) प्रभृति विद्वान् समझते है कि नव-प्लेटोनिक (Neo-platonic) मत के साथ सूफी-मत का सादृश्य अधिक है। इस विरुद्ध सिद्धान्त का सामञ्जस्य हो सकता है कि नहीं, अथवा इनमें कौन सा सिद्धान्त समीचीन है, किंवा दोनों समानरूप से अग्राह्य हैं, इन बातों की आलोचना यहाँ आवश्यक नहीं है। हमें केवल यही कहना है कि सूफी-सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचारविशेष के साथ प्रत्यभिज्ञा, त्रिपुरा और गौडीय वैष्णव-मत का सादृश्य परिदृष्ट होता है।

सूफीमत के दर्शनों में स्थूलतः तीन सिद्धान्तों का परिचय मिलता है—

१—पहला यह है कि परमार्थ-तत्त्व चिन्मयी इच्छाशक्ति (Self-conscious will) स्वरूप है, जगत् उसी का परिच्छिन्न विकास है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है

कि भगवत्प्राप्ति के लिये कर्म ही प्रधान है तथा किसी-किसी के मत से यही एकमात्र उपाय है – ज्ञान नहीं। कर्म से निष्ठा, सदाचार तथा अशुभ के सम्पर्क से उद्धार पाने के लिये भगवत्संसर्ग की तीव्र आकांक्षा समझनी चाहिये।

२–दूसरा यह है कि परमार्थतत्त्व एक और नित्य सौन्दर्यस्वरूप है। चिरसुन्दर का यह स्वभाव है कि वह अपने भाव में विभोर होकर विश्वदर्पण में अपने मुख' को–आत्मस्वरूप को निरन्तर ही देखता रहता है। अतएव जगत् प्रतिबिम्बमात्र है, परिणाम नहीं है। सौन्दर्य का आत्मप्रकाश ही सृष्टि का कारण है—यह बात मीर सय्यद शरीफ ने स्पष्ट सब्दों में कही है। सूफी कवियों में इस प्रकार का एक हदीस प्रचलित है[1]।

कहा जाता है कि जब दायद ने भगवान् से जीव-सृष्टि के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो भगवान् ने उसे उत्तर दिया—

I was a Hidden Treasure, therefore was I fain to be known, and so I created creation in order that I should be known.

अर्थात् 'गोपन-स्थिति में अकेले न रह सकने के कारण भगवान् ने आत्मप्रकाश के लिये सृष्टि की।' परन्तु विरोध के बिना आत्मप्रकाश सम्भव नहीं है। भगवान् अखण्ड सत्य, सौन्दर्य और मङ्गलस्वरूप हैं, वे भावमय हैं। उन्होंने अपने स्वातन्त्र्य-बल से एक विराट् अभाव, एक महाशून्य (Not-being) का आविर्भाव किया। इस अभावरूप दर्पण में भावमय का प्रतिबिम्ब पड़ा। वह अभाव-प्रतिबिम्बित भाव ही विश्व है। इसी कारण विश्व उभयात्मक और परिवर्तनशील है। इसमें भाव और अभाव दोनों के स्वभाव परिलक्षित होते हैं। मनुष्य इस विश्वात्मक-प्रतिबिम्ब का चक्षुस्वरूप है। प्रतिबिम्बस्थ चक्षु की पुतली में जिस प्रकार द्रष्टा (बिम्ब) की पूर्ण प्रतिच्छवि देखी जाती है उसी प्रकार इस अनन्त विश्व में एकमात्र मनुष्य में हा भगवान् की पूर्ण प्रतिच्छवि वर्तमान है। मनुष्य भी विश्व का ही अंश है, इसीलिये मनुष्य में भाव और अभाव दोनों का एक साथ समावेश है। इस अभावांश को दूर कर पूर्णभाव-स्वरूप भगवत्स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। परन्तु इस अभावांश को दूर करने के लिये हमें 'अहं' भाव का दमन करना होगा। यह 'अहं' भाव ही समस्त अनर्थों का मूल है। सूफी लोग कहते हैं कि भगवान् ही जब एकमात्र सत्य वस्तु हैं और जब सभी मिथ्या है तो हमें अभिमान करने का कोई वास्तविक कारण नहीं है। इस अभिमान-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है प्रेम। एक

---

१. महम्मद में प्रकटित देववाणी को इस्लाम धर्म-ग्रन्थों में 'हदीस' कहा जाता है। इस वाणी के वक्ता साक्षात् भगवान् हो सकते हैं, महम्मद केवल आधारमात्र हैं; अर्थात् महम्मद के कण्ठ को अवलम्बित कर, आविष्ट कर भगवान् स्वयं ही इस प्रकार की वाणी के वक्ता हो सकते हैं। वहाँ इसे 'हदीस-ए-बुद्सि' कहा गया है। यदि इस वाणी के यथार्थ वक्ता और यन्त्र स्वयं महम्मद हो तो इस प्रकार के हदीस को 'हदीस-ए-शरीफ' कहते हैं।

बार हृदय में भगवत्प्रेम के उदित होने पर सारा अभिमान गल जाता है, सारे अभाव मिट जाते हैं, माया का राज्य निमेषमात्र में कहाँ-का-कहाँ विलीन हो जाता है, चित्त अद्वैत प्रेमस्वरूप में, पूर्ण सौन्दर्य में, विश्राम पा जाता है। यह सौन्दर्य और प्रेम अनन्त और मुक्त है, इसमें न आदि है और न अन्त, इसमें ऊँच-नीच, दक्षिण-वाम का भेद नहीं है। यहाँ शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं (नसफी-कृत 'मकसदी अकसा')। नसफी कहते हैं कि मनुष्य—जीव पूर्ण का ही अंश है, परन्तु भ्रमवश वह अपनी पृथक् सत्ता कल्पित कर कष्ट पाता है। जन्म से ही वह पूर्ण की गोद में स्थित है, तो भी मिथ्या विरह की चिन्ता में मर रहा है। विरहबोध, भेदबोध अज्ञानजनित हैं; वास्तविक भेद आभासमात्र है, यथार्थ नहीं।

उमर ख़ैयाम, इब्न तैमिया और वाहिद मामूद प्रभृति अद्वैतवाद के विरुद्ध खड़े हुए थे। मामूद ने एक सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था, महाकवि हाफिज उसी सम्प्रदाय के थे। ये लोग विश्व को नित्यसिद्ध अणुसमष्टि मानते थे। किन्तु इनके मत से ये अणु (आफ़ाद) जड़ नहीं, चैतन्यमय हैं—अवश्य ही चैतन्य के विकास का तारतम्य होता है।

३—तीसरा यह है कि परमार्थ वस्तु विज्ञान या ज्योतिःस्वरूप है। वह एक ओर अभिन्न है, परन्तु इसमें वैचित्र्य-सम्पादक भेद-प्रतिनिधिभाव की सत्ता है। यह ज्योतिःस्वरूप नित्य स्वप्रकाश है। इसके सिवा जो कुछ है सब इसी के आश्रित है, अधीन है, इसका शक्तिस्वरूप है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्योति भाव है, तम अभाव है—ज्योति का अभाव या अन्धकार है। इसको प्रकाशित करना ही ज्योति का स्वभाव है। ज्योति सब क्रियाओं का मूल है। स्थान-परिच्युति स्थूल क्रिया है। प्रकृत क्रिया स्पन्दात्मक है। इसी स्पन्दन के बल से अनन्त रश्मिमाला केन्द्र से निकल कर चारों ओर बिखरती है। रश्मि से पुनः रश्मि का उदय होता है। परन्तु क्रमशः रश्मि क्षीण होती जाती है। तब फिर इस क्षीणावस्था में पड़ी हुई रश्मि से नवीन रश्मि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ये रश्मियाँ ही देवता हैं। इन देवताओं के मध्य से ही समग्र जगत् मूल ज्योति से प्रकाश और अमृत (चिदानन्द) प्राप्त करता है। ऊपर जो तम, अन्धकार—अप्रकाश की बात कही गयी है वह प्रकाश की ही एक और दिशा है। सांख्यशास्त्र और अरिष्टदल ने जिस प्रकार इसके स्वातन्त्र्य की कल्पना की है, ये लोग वैसा नहीं करते।

जो हो, अब इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में जो कहा गया है इसीसे हमारा वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है। ऊपर जो तीन सिद्धान्त लिखे गये हैं उनका स्वरूप आगम-शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। तीन मार्ग ही त्रिविध उपायस्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय के साथ इनका कुछ अंश में सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धान्त भारतवर्ष में बहुत दिनों का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौन्दर्यस्वरूप और चिर सुन्दर हैं, आनन्दरूप और आनन्दमय हैं। सूफी लोग नररूप में इसको पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी कवियों की काव्यग्रन्थमाला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि

सूफी लोग सुन्दर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानन्द-प्राप्ति का साधन मानते हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्ति किशोरावस्था की हो तो रस-स्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत से पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत से रमणीमूर्ति श्रेष्ठ है। परन्तु सूफी लोग कहते हैं कि उस वस्तु में प्रकृति-पुरुष-भेद नहीं है, वह अभेद-तत्त्व है। यही क्यों, उनके गजल, रुबाईयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे किशोरवयस्क पुरुष किंवा किशोरवयस्का स्त्री के प्रसङ्ग का निर्णय नहीं किया जा सकता[1]। टीकाकारों में से रुचिवैचित्र्य के अनुसार कोई पुरुषभाव में व्याख्या करते हैं और कोई रमणीभाव में करते हैं। बाह्य साधन में भी यह भेद लक्षित होता है। यह केवल संस्कार है; परन्तु मूलवस्तु न पुरुष है न प्रकृति है, बल्कि वह दोनों का अभेदात्मक सामरस्य है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। जगत् में जितना सौन्दर्य है, वह सब उस पूर्ण सौन्दर्य के कणमात्र विकास के कारण ही है, वह उसी की विभूतिमात्र है, उसकी छायामात्र है। वह एक पूर्ण सौन्दर्य ही मानों अकेला न रह सकने के कारण काल के ऊपर महाकाल के ऊर्ध्वदेश में प्रस्फुटित हो पड़ा है— वही जगत्रूप में खण्ड-सौन्दर्यमय होकर विकसित होता है। अथवा वह मानों अपने में ही अपने स्वरूप के प्रतिबिम्ब को अपने आप ही देखता है, यह प्रतिबिम्ब ही विश्व है। आगम भी क्या ठीक यही बात नहीं कहते ? नटनानन्दनाथ चिद्वल्ली या कामकला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देख उस प्रतिबिम्ब को 'मैं' समझाता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपनी ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मैं पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्म-स्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णाहन्ता है। इसी प्रकार परम शिव के सङ्ग से पराशक्ति का स्वान्तःस्थ प्रपञ्च उनसे निर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देख कर आप ही मुग्ध हैं—सौन्दर्य का स्वभाव ही यही है। श्रीचैतन्य-चरितामृत में है—

"रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
आलिङ्गिते मने उठे काम"।

यह चमत्कार ही पूर्णाहन्ता-चमत्कार है, काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप है—आदिरस अथवा शृङ्गार-रस है। विश्वसृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में जो ३५ और ३६ तत्त्व अथवा शक्ति और हैं, त्रिपुरा-सिद्धान्त में वे ही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, और गौडीय वैष्णवदर्शन में वे ही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं, यह सुप्रसिद्ध है। सूफीलोग भी यही बात कहते हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुरा-मत में 'सुन्दरी' अथवा 'त्रिपुर-सुन्दरी' है। शङ्कराचार्य की सौन्दर्यलहरी में इसी के स्वरूप का वर्णन है। सौन्दर्यलहरी के बारहवें श्लोक

१. द्रष्टव्य—E. J. W. Gibbe, 'A History of Ottoman Poetry', Vol. I, पृ० ६५।

में कहा है कि "पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है, उसकी तुलना नहीं है। कवि उसका वर्णन नहीं कर सकते, अप्सराओं का सोन्दर्य उसके लेशमात्र के बराबर भी नहीं है। देवाङ्गनाएँ ही उसके दर्शन के लिये उत्सुक रहती हैं, सो नहीं; समग्र जगत् उसके लिये आकुल है। इसी सौन्दर्य के कणमात्र को प्राप्त कर विष्णु ने मोहिनीमूर्ति से साक्षात् शङ्कर को भी मोहित कर दिया था। इसी की कृपा से मदन मुनिजनों के मन को मोहित करते हैं"। सौन्दर्यलहरी के पञ्चम श्लोक और वामकेश्वर महातन्त्र की चतुःशती में भी यही बात कही गयी है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्र की सोलह कलाएँ हैं, सभी कलाएँ नित्य हैं। इसलिये सम्मिलित भाव से इनका नित्यषोडशिका के नाम से वर्णन किया गया है। परन्तु पहली पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त होता है, ह्रासवृद्धि होती है; पर सोलहवीं की नहीं होती। वही अमृता नाम की चन्द्रकला है। वैयाकरण लोग इसी को 'पश्यन्ती' वाणी कहा करते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आत्मा है, मन्त्रशास्त्र में इसी को मन्त्र या देवता का स्वरूप कहा गया है। हम जिसे पूर्णचन्द्र कहते हैं, वस्तुतः वह पूर्णचन्द्र नहीं है, क्योंकि उसका क्षय और उदय होता है। जो वास्तविक पूर्ण है, उसमें न्यूनाधिकभाव नहीं रह सकता। इस प्रकार की पूर्णता षोडशी कला में ही है, वह नित्योदित अमृतस्वरूप और अखण्ड है। वही महात्रिपुरसुन्दरी ललिता हैं, सौन्दर्य और आनन्द की परमधाम हैं। यही परा-कलाचिदेकरसा—श्रीविद्या है। पहली पन्द्रह कलाओं का कालचक्र के साथ सम्बन्ध है, जो सूर्य और चन्द्र कि व्यवधान और संयोग के फलस्वरूप प्रतिपदा आदि तिथिरूप हैं। सुतरां, नित्य होने पर भी इनका आविर्भाव और तिरोभाव है; किन्तु षोडशी कला नित्य ज्योत्स्नामय, सहस्रदलकमलस्थ, नित्यकलायुक्त, श्रीचक्रात्मक चन्द्रबिम्ब है। इसीलिये सुभगोदय में कहा है—

"षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी"।

इसी कारण उपासक के निकट सुन्दरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय सम्प्रदाय में भी ठीक यही बात कही गयी है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय हैं, नित्य किशोर हैं—

"नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः"।

प्रभुपाद श्रीरूपगोस्वामी अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कहते हैं—

"आषोडशाच्च कैशोरम्[१]"।

तत्पश्चात् जैसे सुन्दरी या ललिता कभी पुरुष है, कभी रमणी है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी हैं। तन्त्रराज में है—

"कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्"॥

---

१. द्रष्टव्य—दक्षिण, प्रथम लहरी, श्लोक १५८।

यहाँ ललिता पुरुषरूप में कृष्णभाव में प्रकटित है। एक और भी रहस्य की बात है। उपासना की पद्धति के अनुसार जप-समर्पण का यही साधारण नियम है कि स्त्री-देवता के वाम कर में और पुं-देवता के दक्षिण कर में जप-फल समर्पण किया जाता है। परन्तु ललिता के दक्षिण कर में ही जप-फल देने की व्यवस्था है। दूसरे पक्ष में श्रीकृष्ण का रमणी-मूर्ति ग्रहण करना, मोहिनी मूर्ति में प्रकट होना भी सुप्रसिद्ध है।

त्रिपुरा एवं गौडीय मत और आचार के साथ सूफियों का सादृश्य अनेकों विषयों में देखा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा-मतावलम्बी काश्मीरीय शैवाचार्य भी परम शिव का इसी भाव से ध्यान किया करते हैं।

तत्पश्चात् तीसरा सिद्धान्त अथवा इशराकी-मत भी आगम में पाया जाता है। यह मूल ज्योति ही चिदात्मा, चन्द्रबिम्ब (अथवा वैदिक मतविशेष में सूर्यबिम्ब) है। सभी देवता उसी की रश्मि हैं। इन्हें मातृका, वर्ण, कला, शक्ति प्रभृति नामों से पुकारते हैं। इस रश्मिमाला अर्थात् वर्णमाला या मातृका-चक्र का बहिर्विकास ही सृष्टि तथा अन्तःसंकोच ही प्रलय है।

अध्यापक गिब (Gibbe) भारतीय अद्वैत-प्रस्थान में रस और प्रेमतत्त्व का सन्धान न पाकर सूफी-मत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का आविष्कार करते समय नव-प्लेटानिक (Neo-platonic) मत का आश्रय ग्रहण करते हैं[१]। किन्तु भारतवर्ष के आगममूलक सिद्धान्त और आचार की गवेषणा करने पर जान पड़ता है कि सूफी सम्प्रदायके मतामत के साथ भारतवर्ष का जितना सम्बन्ध है, उतना अलेक्जेण्ड्रिया का नहीं है।

(१०) उपसंहार

हमने अति संक्षेप में प्रत्यभिज्ञा-मत का साधारण परिचय दिया। प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की ग्रन्थावली तथा काश्मीर और दक्षिणापथ में इसके प्रचार का इतिहास यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि पाठकवृन्द भारतीय दर्शन के इस विस्मृत अध्याय का पुनरुद्धार देख कर प्राचीन गौरव की स्मृति में आनन्द लाभ करेंगे।



१. द्रष्टव्य—E. J. W. Gibbe, 'A History of Ottoman Poetry, Vol. I, पृष्ठ ६४।

महाशक्ति का आह्लादनी स्वरूप[1]

महाशक्ति सच्चिदानन्द स्वरूपा हैं। यह परब्रह्म की स्वरूप शक्ति है, इसलिये यह ब्रह्म के साथ सर्वथा अभिन्न है। इस अभिन्नता के कारण ही स्वरूप-शक्ति के सम्बन्ध से ब्रह्म तत्त्व पूर्ण ब्रह्मरूपेण प्रकाशमान होते हैं। चित् और आनन्द इस महाशक्ति का अन्तरस्वरूप है और ज्ञान तथा क्रिया को गर्भ में धारण करती हुई इच्छा उनका बहिरङ्ग स्वरूप है। इस इच्छा का नाम महा-इच्छा है, जिससे अनन्त विश्व का स्फुरण होता रहता है। इच्छा की पृष्ठभूमि में सृष्टि का स्फुरण नहीं हो सकता। इसलिए उस भूमि का नाम है विषयातीत सत्ता। विषयातीत में चिद् और आनन्द पर्यन्त कला का स्फुरण है; उससे अतीत अवस्था में कला स्फुरित नहीं होती है। उसका नाम अनन्त निष्कल परमसत्ता है।

महाशक्ति ऐश्वर्यमयी तथा माधुर्यमयी दोनों ही है। जब यह शक्ति बहिर्मुख रहती है, तब इच्छा का रूप लेकर विश्व का प्रसव करती है। कामरूपी इच्छा सृष्टि के बीज-रूप से वर्णित होने योग्य है। ज्ञान का रूप लेकर पूर्वोक्त बीज का प्रकाशन होता है। यह प्रकाशन-व्यापार अनन्त-आकार-विशिष्ट-रूप में भीतर में स्फुरण-मात्र है, यह स्मरण रखना चाहिए। यही स्फुरण 'क्रिया' का रूप धारण करके बाह्य भाव में स्फुटित हो जाता है। यहाँ तक कला की क्रीड़ा समझना चाहिए। काल का स्पर्श इसके भीतर भी हो जाता है। कालस्पर्श के अनन्तर तत्त्व-रूप में ये सब कला प्रकाशित होते हैं। इसके बाद क्रमशः वहाँ से सब तत्त्वों के आविर्भाव होते हैं। तत्त्वों के संघटन से भुवनों की रचना होती है। इसके बाद भुवनों की महासमष्टि-रूप में महाकाल का आश्रय ग्रहण करके महासृष्टि का आविर्भाव होता है। इस महासृष्टि में त्रिकाल का भेद नहीं रहता और इसमें किसी प्रकार का परिणाम भी नहीं है। पृथक्-पृथक् रूप में सृष्टि की अनन्त सत्ता इस महाकाल में रहती है। इसको परमेश्वर का बहिरङ्ग जानना चाहिये। इस अवस्था से खण्डकाल का आविर्भाव होता है और अतीत, अनागत तथा वर्तमान अवस्था का स्फुरण होता है। खण्डकाल का जगत् परिणामशील है। योगी जिस समय इस इच्छा-रूपा महाशक्ति की स्थिति में उपस्थित होता है, जब योगी को इच्छा-मात्र की शक्ति का स्फुरण होकर तत्तत् पदार्थ का आविर्भाव होता है; उस समय महाशक्ति के उस अवस्था के ऐश्वर्य-रूप का वर्णन किया जा सकता है।

---

१. इस लेख को श्री कविराज जी ने 'श्री परशुराम चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' के लिये लिखा था। इस ग्रन्थ के प्रकाशन की कार्यवाही चल ही रही थी कि श्री परशुराम चतुर्वेदी जी का शरीरान्त हो गया और इस प्रकार इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन में अवरोध उपस्थित हो गया। स्वर्गीय चतुर्वेदी जी के भ्राता प्रसिद्ध साहित्यकार एवं लेखक श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी ने 'कविराज-प्रतिभा' में इसे प्रकाशित करने हेतु प्रेषित किया है। हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं—सम्पादक।

ऐश्वर्यमयी महाशक्ति के बहिर्मुखी इच्छा के प्रभाव से अनन्त विश्व निरन्तर स्फुरित होते रहते हैं। साधारण मनुष्य तो दूर की बात है, महाशक्ति-सम्पन्न योगी भी इस अवस्था में उपस्थित होकर ऐश्वर्यमयी विश्वमाता की उपासना करता है। श्रीमाता की जो माधुर्यमय सत्ता है, उसे योगी भी इस समय नहीं जान सकता। इस बहिर्मुख अवस्था की दो दिशाएँ हैं—एक विज्ञान की दिशा और दूसरी योग की। योगी योग के प्रभाव से अपने स्वरूप-सिद्धि के प्रसङ्ग में जब प्रकृति-पर्यन्त तत्त्वों को अपने अधीन करने में समर्थ होता है, तब प्रकृति उसका स्व बन जाती है और योगी बनता है प्रकृति का स्वामी, अर्थात् अधिष्ठाता। इस स्व-स्वामि-सम्बन्ध को प्रकृति को आयत्त करने के प्रभाव से योगी अनुभव कर सकता है। इस अवस्था में प्रकृति का अधिष्ठाता होने पर भी पुरुष स्वरूपतः प्रकृति से पृथक् है। इस स्थिति में योगी की ज्ञानशक्ति सत् और क्रियाशक्ति चेतन अपरिमित रूप से खुल जाती है। इन दोनों शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव से योगी प्रकृति का दोहन करके अपनी इच्छा के अनुरूप सृष्टि कर कर सकता है। इस समय प्रकृति योगी के लिये कामधेनु बन जाती है। इसके बाद योगी प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् करके अद्वैत-रूप में स्थिति-लाभ करता है। यह है योग-भूमि, विज्ञान-भूमि नहीं। इस समय योगी की इच्छा प्रकृति का दोहन करके सृष्टि नहीं करती, परन्तु अपने स्वरूप से ही अनुरूप सत्ता प्रकाशित करने में समर्थ होती है। इस अवस्था में उपादान की आवश्यकता नहीं होती है और योगी की इच्छा के अनुरूप निमित्त ही अपना स्वरूप नामक उपादान से अभिप्रेत पदार्थ प्रकाशित कर लेता है। यह चिदात्मा के अन्तर से इच्छा के प्रभाव से उसके अनुरूप पदार्थ का बहिःस्फुरण है। इस समय पुरुष के साथ प्रकृति की अभिन्नता-सम्पादन के अनन्तर एक अन्तरङ्ग अवस्था का उदय होता है। इस समय इच्छा-शक्ति और बहिर्मुख नहीं रहती। वह सृष्टि अन्तर्मुख होकर जगदम्बा में अर्पित हो जाती है। इसका नाम है इच्छा का आत्म-समर्पण। इस समय इसके प्रभाव से इच्छा अन्तर्मुख हो जाती है और महाशक्ति आह्लादिनी-रूप से प्रकाशित होती है। बहिर्मुख इच्छा अन्तर्मुख होकर आनन्द में आत्म-समर्पण करती है। बहिर्मुख अवस्था में जिस इच्छा का स्वरूप कामात्मक रहा, उसका अन्तर्मुख होने के साथ ही साथ उसकी परिणति प्रेम-स्वरूप में हो जाती है। योगी इस समय स्वरूपाह्लादिनी शक्ति जगदम्बा में आत्म-समर्पण करता है। इस प्रकार महाशक्ति का ऐश्वर्यमय तथा माधुर्यमय दोनों रूपों के साथ हमारा परिचय हो जाता है। ऐश्वर्य के समय इच्छा है बहिर्मुख और माधुर्य के समय वह है अन्तर्मुख। अशोधित अवस्था में जिसका नाम था काम, उसी शोधित अवस्था का नाम है प्रेम।

हम लोग ऐश्वर्यमयी महाशक्ति का रूप बहुत देखे हैं। इस रूप को लेकर जगन्माता युग-युग में असुरों का ध्वंस करके जगत् को संत्रास-मुक्त करती हैं। इस समय उनका ह्लादिनी स्वरूप माधुर्यमय रूप देखने की कामना है, जिस रूप से दुष्कृत जनों का विनाशन कर उनको रूपान्तर में परिणत करेंगी और प्रेमिक भक्त-रूप में परिणति सम्पादन करके अपने अभय चरण में स्थान देंगी।

●

योग का विषय-परिचय

'कल्याण' पत्र के योगाङ्क की विषय-सूची प्रकाशित हुई है। माननीय कल्याण-सम्पादक महाशय ने मुझसे इस सूची के परिचय के विषय में 'कल्याण' के लिये कुछ लिख भेजने का अनुरोध किया है। विषय-सूची ने इतना बड़ा आकार धारण कर लिया है कि उसके अन्दर के प्रत्येक विषय की आलोचना करना मासिक पत्र के तुच्छ कलेवर के लिये सम्भव नहीं। अतएव व्यापक एवं सूक्ष्मरूप में मैं सूची की आलोचना नहीं कर सकूँगा—यथासम्भव संक्षेप में इस सम्बन्ध में कुछ दिग्दर्शन करने की चेष्टा करूँगा।

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होने पर भी, मूलतः कुछ अंश में सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग

योगशिखा-उपनिषद् में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। वही महायोग के नाम से साधकों में प्रसिद्ध है। अवस्था-भेद के अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोग के रूप में प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्र में 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्रयोग का मुख्य अर्थ मन्त्र के आश्रय से जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलन मान लें तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक मन्त्र चेतन होने पर उसी की सहायता से जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्द से अतीत परमानन्द धाम तक पहुँच सकता है। वैखरी शब्द से क्रमशः मध्यमा अवस्थाको भेद कर पश्यन्ती में प्रवेश करना ही मन्त्रयोग का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाश-मान चिदानन्दमय है—चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट देवता के साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्य का प्रकृष्ट फल है। इस अवस्था में पहुँचने पर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्द की तुरीय अवस्था है। मूलाधार से निरन्तर शब्दस्रोत ऊपर की ओर उठ रहा है, यही शब्द समस्त जगत् के केन्द्र में नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख जीव इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे

इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशल से अथवा अन्य किसी उपाय से इन्द्रियों की बहिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित से हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्द को सुनने के अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्रा-द्वारा कृत्रिम उपाय से इस नाद के अनुसन्धान की चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघातजनित शब्द को अनाहत नाद में लीन न कर सकने पर मन्त्र अक्षरसमष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिङ्गला की गति रुक कर प्राण और मन के सुषुम्ना के अन्दर प्रविष्ट होने पर यह नित्य सारस्वत स्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधक को आज्ञाचक्र में ले जाता है और वहाँ से बिन्दुस्थान भेद कर क्रमशः सहस्रार के केन्द्र में महाबिन्दुपर्यन्त पहुँचा देता है। हंस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वास के साथ जप करता है, गुरुकृपा से प्राण की विपरीतभावापन्न अवस्था में सोऽहं मन्त्र के रूप में परिणत हो जाता है।

अस्पर्शयोग

माण्डूक्यकारिका में आचार्य गौडपाद ने अस्पर्शयोग का उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थ में इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है तथापि प्रसङ्गवश तथा विशेषण के रूप में कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि साधारण योगी अस्पर्शयोग में प्रवेश नहीं कर सकता। सब भूतों के मङ्गल और आनन्द का निदानस्वरूप यह योग सब प्रकार के विरोधों के ऊपर प्रतिष्ठित है और वास्तविक अभयपद कहे जाने योग्य है। प्रसङ्गवश किसी-किसी वेदान्त-ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख देखा जाता है। जिन कुयोगियों ने निरालम्ब पद पर पहुँचने का अधिकार नहीं प्राप्त किया है वे आत्मलोप होने की आशङ्का से इस निर्विकल्प परमभूमि में प्रवेश करने की न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं। वस्तुतः अस्पर्शयोग असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि की ही अवस्थाविशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप स्पर्श से वृत्तिज्ञान का उदय होता है। किन्तु बहिरिन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्यक् प्रकार से निरुद्ध हो जाने पर जिस अस्पर्श-अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्य की भूमि को ही सूचित करती है। न्यायशास्त्र के मत से भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक् के साथ मन का संयोग हुए बिना अन्य किसी प्रकार का ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता। इसका कारण यही है कि मनोवहा तथा ज्ञानवहा नाडियाँ त्वक् का आश्रय लेकर ही प्रकट होती है और वे सभी वायवीय हैं। स्पर्श वायु का धर्म है; अतएव अस्पर्श-योग की अवस्था में वायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाने के कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं तब एक ओर जैसे मन की वृत्ति शून्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। उस समय आत्मा निज स्वरूप में प्रकाशित रहता है।

शब्दयोग और वाग्योग

प्राचीन आगम-शास्त्रों में वाग्योग अथवा शब्दयोग के नाम से जिस योगप्रणाली का उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत से लोग प्रायः

भूल गये हैं। शैवागम के अन्तर्गत व्याकरण-आगम में भी इस योगसाधन का परिचय मिलता है। जिन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्या का अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योग की बात अवश्य मालूम होगी। व्याकृत शब्द का वैखरी अवस्था से मध्यमा में उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूप में प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधन का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती-अवस्था से परा-अवस्था में—अव्याकृत पद में—गति और स्थिति की प्राप्ति स्वाभाविक नियम से आप ही हो जाती है। वह किसी भी साधना का आन्तरिक लक्ष्य नहीं है। वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्द-विशेष मिश्र अवस्था में होने के कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणाली से साधन कर चुकने पर चाहे जिस शब्द को उसकी स्थूल अवस्था से मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है। इस शोधन-क्रिया का नाम ही शब्द-संस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकार से शुद्ध या संस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या संस्कृत-भाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। केवल एक शब्द को भी इस प्रणाली से शुद्ध कर लेने पर जीव सदा के इये कृतकृत्य हो सकता है—

"एक शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति"।

जो एक शब्द का भी संस्कार करने में समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरह का अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द शक्ति के स्वरूप में प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनु के आकार में आविर्भूत हो जाता है। शब्द के मर्म को जानने वाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपाय से अलौकिक शक्ति के अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादि के अभ्यास से जब वैखरी शब्द से आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिङ्गला का अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना-पथ कुछ परिमाण में उन्मुक्त हो जाता है। फिर प्राणशक्ति की सहायता से वह शोधित शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्म-पथ का आश्रय लेकर क्रमशः उर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतना-भाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष-भाव है। साधक इस अवस्था में पहुँच जाने पर जीवमात्र की चित्तवृत्ति को अपरोक्षभाव से शब्दरूप में जान लेता है। देश अथवा काल का व्यवधान शब्द की इस स्फूर्ति को नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्य के समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य साधक के आत्मा अथवा इष्ट-देवता के रूप में प्रकाशित होकर अन्तराकाश का अन्धकार दूर कर देते हैं। आगम-शास्त्र में इसी को 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाता है। प्राचीन वैदिक साहित्य में ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्रसाक्षात्कार के नाम से जिसका उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेवदर्शन, ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन, शिवनेत्र का विकास, षोडशी कला का उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुष का स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य—ये सब इसी पश्यन्ती भूमि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पश्यन्ती की अपेक्षा परा-भूमि

का पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँ पर उसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक) मार्ग में परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्ध में साधारण पाठकों की कोई विशेष धारणा है ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्यन्तिक परमार्थ-दृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है, यह सत्य है; परन्तु व्यावहारिक भूमि में दोनों में परस्पर भेद दिखायी पड़ता है और उस भेद के अनुसार सिद्धि में भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्था में संसार में परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभाव में स्थूल का अंश और स्थूलभाव में सूक्ष्म का अंश अनिवार्य रूप से ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध दृष्टि से यदि देखा जाय तो दोनों में से कोई-सा एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकता। काठ के अन्दर अग्नि की तरह, तिल में तैल की तरह, दूध में घी की तरह, स्थूल के भीतर सूक्ष्म तत्त्व प्रच्छन्न रूप में निहित है क्रिया-विशेष के द्वारा इसे स्थूल से अलग कर लेने की आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेकमार्ग का पक्षपाती है। वेदान्त का पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकार से विवेक-पन्थ के ही अन्तर्गत है। योगियों का कहना है कि यह वियोग पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाने के बाद दोनों में योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधना के द्वारा परस्पर पृथक् रूप में जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं—वे दोनों मूलीभूत एक परम पदार्थ के ही पृथक् अवभासमात्र हैं, इस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिये योगप्रक्रिया का अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक दूसरे के साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्था में एक परम पदार्थ के रूप में परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वयभाव से ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावों का विकास सम्पन्न होता है।

दृष्टान्त के रूप में यहाँ सर्वसाधारण के समझने योग्य भाषा में एक तत्त्व का उल्लेख किया जाता है। जिन्हें शास्त्रज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषय की कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीव के स्थूल शरीर की तरह एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीर के साथ इतनी घनिष्ठता से आश्लिष्ट है कि दीर्घ काल तक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीर से पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकने पर भी वह अनेक कारणों से सहज ही उसके पृथक् होने का अनुभव कर सकता है। स्वप्नादि में अथवा जीवित दशा की किसी-किसी अनुभूति में, और सूक्ष्मदर्शियों-द्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभव में सूक्ष्म शरीर की पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थन की प्रक्रिया के द्वारा यानी कोल्हू में पेर कर तिल से तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रिया-विशेष-द्वारा स्थूल शरीर से भी सूक्ष्म शरीर को अलग किया जा सकता है।

सम्पूर्णरूप में न सही, आंशिकरूप में प्रायः सभी अभ्यास करने वाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्था में स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् कङ्कड़-पत्थर की तरह पड़ा रहता है। और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकल कर नाना स्थानों में घूम-फिर कर पुनः जब स्थूल शरीर में घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहले की तरह ही ज्ञान और क्रिया का सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरण के द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल जगत् का कोई भी नियम विशेषरूप से इस पर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घर के अन्दर बन्द रह कर और स्थूल शरीर को जहाँ का तहाँ रख कर भी, सूक्ष्म शरीर के द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरे को भेद कर बहिर्जगत् में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्था में उनका स्थूल शरीर घर के अन्दर निष्क्रिय अवस्था में आबद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा इस स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घर में आबद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है और जो निकल कर इधर-उधर विचरण करता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होने पर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोगमार्ग के द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी अवस्था भी होती है, जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह पूर्व-लिखित देह स्थूल है या सूक्ष्म; क्योंकि ऐसा भी देखा गया है कि एक योगी घर के अन्दर बन्द रह कर जब घर से बाहर निकले तब घर में पहले के समान स्थूल शरीर आसन पर नहीं रहा; अर्थात् वह समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी-किसी को दिखायी भी पड़े। जिस शरीर से वह घर से निकल कर दीवाल आदि आवरण-भेद कर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था – यह कहना न होगा। क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात-धर्मविशिष्ट दीवाल को भेद कर जाने में समर्थ नहीं होता। और साथ ही वह सूक्ष्म शरीर नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि वह यदि सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रिय-रूप में आसन पर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देह को सिद्ध-देह कहते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्म के परस्पर अत्यन्त घन संश्लेषण से उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों के धर्म दृष्टिगोचर होते हैं; इस कारण इसे एक हिसाब से स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तव में वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये योगमार्ग का अवलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि सर्वारम्भ में इस प्रकार का योग सम्भव नहीं है। पहले वियोगमार्ग की साधना के द्वारा मिश्रसत्ता के अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओं को पृथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्ग की साधना के द्वारा उन दोनों को मिला कर एक कर लेना होता है।

योग और वियोगमार्ग का यही संक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान

पहले शब्दयोग की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धान का तत्त्व भी कुछ अंश में समझ में आ जायगा। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इडा-पिङ्गला-मार्ग में चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ प्राय: बन्द है। इसीलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत् के अन्तस्तल में, आकाशमण्डल में निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरुकृपा से तथा क्रिया-विशेष के द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य-पथ से मन अनाहत ध्वनि को श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनि का अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर बाह्य प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलत: क्रम होने पर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है। योगियों ने साधारणत: इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणव का स्वरूप कहते हैं, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणों ने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्मतत्त्व का वाचक है; अर्थात् इसी से ब्रह्मभाव की स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वर का वाचक है, इस बात का भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्द-ब्रह्म के रूप में और वाच्य सत्ता परब्रह्म के रूप में वर्णित है। अतएव, एक तरह से, ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता—यह कहने की जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्दतत्त्व जब तक जोव के लिये अव्यक्त रहता है तब तक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनी का उद्‌बोधन भी कुछ अंशों में इसी कार्य के समान है। मूलाधार से नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रार में जाकर लय को प्राप्त हो जाता है। साधक का मन इस नाद के साथ युक्त होने पर अनायास परब्रह्म-पद तक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्य के सन्दर अपने-आप को मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थों में इस नादानुसन्धान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्र में असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है—यहाँ तक कि दोनों में स्व-स्वामि-

सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान-अवस्था में द्रष्टा-पुरुष अपना स्वरूप भूल कर वृत्ति-संकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियों का आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है; अथवा गभीर अज्ञान से आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्-स्वरूप की उपलब्धि से भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड़-समाधि की अवस्था है। यह योगियों के लिये कदापि काम्य नहीं है। वृत्तिहीन होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसी को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीन की तरह विदेह देवता भी इसी अवस्था में रहते हैं। योगियों की वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में ही साधकसमाज में परिचित है। 'उपाय' का अर्थ यहाँ पर प्रज्ञा, अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जिस असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञान के अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधि के साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्था में कुछ समय तक चित्त निरुद्ध रहने पर भी कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार सम्पूर्ण-रूप में वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों का दाह करने से जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थान की कोई आशङ्का नहीं रहती। वास्तव में उसी को एक प्रकार से कैवल्य का पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध नाम से जो दो प्रकार के निरोध का वर्णन करते हैं, वे अधिकांश में उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियों के लिये प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशों का दाह न कर केवल मात्र वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष आत्मस्वरूप में अवस्थित होने में समर्थ नहीं होता। ज्ञान के अतिरिक्त अविद्या का बीज नष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। क्रियायोग के द्वारा, अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का अनुष्ठान यथाविधि करने पर भी अविद्या-संस्कार को दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारणवश यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है, क्योंकि क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूल-रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है और पुनः जागृत होने की शक्ति से रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक भूमि में ही उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। फिर सास्मित भूमि में सालम्ब-ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीतसमापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है। 'श्रद्धावाँल्लभते

ज्ञानम्' गीता के इस वचन में भी ज्ञानप्राप्ति के मूल में श्रद्धा को ही स्थापित किया गया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहने पर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योग-शास्त्र का सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त

निर्माणकाय और निर्माणचित्त का विषय योग-शास्त्र में विशेषरूप से आलोचित हुआ है। उच्च श्रेणी के योगी अनेक समय इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्य में इस प्रकार की देह अथवा चित्त का वर्णन कहीं न होने के कारण साधारणतः बहुत से लोग इससे अपरिचित हैं। संसार में हम साधारणतः जिस देह से परिचित हैं, वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादान-रूप हों, अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भक-रूप में हों—परस्पर संश्लिष्ट होकर स्थूल देह की रचना करते हैं। इस रचना के मूल में अथवा भौतिक संयोग के मूल में देहधारी जीव के पूर्वजन्मार्जित प्रारब्ध-कर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्ध-कर्म से देह उत्पन्न होती है। देह की आयु अथवा स्थितिकाल, और देह में जितने सुख-दुःख का भोग होता है, वह उस प्रारब्ध-कर्म के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। परन्तु योगी केवल अपने सङ्कल्प-बल से, अर्थात् प्रारब्धकर्म की सहायता के बिना भी देह का निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। अवश्य ही इस प्रकार देह-निर्माण की नाना प्रकार की प्रणालियाँ हैं। मन्त्रबल से, द्रव्य-विशेष के प्रभाव से, तपस्या के फल से और समाधि-सिद्ध योगी के योग के प्रभाव से इस प्रकार देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहने पर, केवल योनिविशेष में जन्म ग्रहण करने से भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिभेद से इस निर्माण-देह को कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने प्रथम स्तबक के आरम्भ में पातञ्जल-सम्प्रदाय का निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध-धर्मशास्त्र में सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय इत्यादि के साथ निर्माणकाय का भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में इन सब भिन्न-भिन्न देहों का विशेष वर्णन है। खोज करने की इच्छा रखने वाले पाठकों को वसुबन्धु, असङ्ग, हरिभद्र आदि आचार्यों के ग्रन्थों को देखने से इस विषय में बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्य ने एक स्थान में लिखा है कि परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त का अवलम्बन कर अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरि को षष्ठितन्त्र का उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्त में वास्तविक कोई भेद नहीं। लौकिक देह और लौकिक चित्त में जो भेद है उस प्रकार का कोई भेद योगसङ्कल्प-निर्मित देह और चित्त में नहीं रहता, क्योंकि सिद्ध योगी के सङ्कल्प से जिस आकार की उत्पत्ति होती है वह देखने में देह के समान होने पर भी वास्तव में वह चित्त के सिवा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्ति के प्रभाव से निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न रूपों में प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक जो निर्माण-चित्त के दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगी के योगवल से जो निर्माणचित्त बनता है उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकार का कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपाय से रचित होने पर निर्माण-चित्त में किसी-न-किसी आकार का कर्म-संस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञान-लिप्तु अधिकारी शिष्य को ज्ञान का उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्तनिर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेह का अवलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि दिया जाता है, उसमें भ्रम तथा प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं रहती। वास्तव में यही गुरुदेह है। भौतिक देह से तत्त्वज्ञान का उपदेश संशय अथवा विपर्यय-शून्य-रूप में नहीं दिया जा सकता। शुद्ध अस्मिता-तत्त्व से यह देह निर्मित होती है। जैनाचार्यों ने आचार्य-देह के रूप जिस देह का वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी जाति का है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधना में उन्नति करने के लिये ब्रह्मचर्य का विशेषरूप से पालन करने की आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एवं अन्याय देशों के अन्यान्य प्रकार के धर्म-सम्प्रदायों में भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियों ने आश्रमचतुष्टय की व्यवस्था की थी, उन्होंने भी इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य को स्थान दिया था। ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकार का बल सञ्चित नहीं होता और बल का सञ्चय हुए बिना कार्य में सिद्धि प्राप्त करने की आशा आकाशकुसुम-मात्र है। शास्त्र में कहा गया है—''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'' अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य के बिना आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलाने के लिये अनेकों प्रकार की बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोच कर कि वर्तमान प्रबन्ध में इस सम्बन्ध में विस्तारसहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातों का उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारण को ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्य का एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं, ओर इस अङ्ग का सम्यक् रूप से पालन करने से इसके अन्यान्य अङ्ग सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग अष्टाङ्गमैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षा की ओर ही अपना लक्ष्य रख कर इस प्रकार के लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योग-शास्त्र में यम के अन्तर्गत माना गया है। बौद्धों ने भी शील-सम्पत्ति के अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रों में भी प्रायः उसी रूप में देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और धर्मसूत्रादि में ब्रह्मचारी की आदर्श दिनचर्या के विषय में बहुत-सी बातें कही गयी हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्य के तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा-सा अनुसन्धान करने पर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दु का संरक्षण, संशोधन और उद्‌बोधन— ये तीन ही ब्रह्मचर्य के यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्म में अथवा ब्रह्मपथ में जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं। जो शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं वे वस्तुतः एकमात्र ब्रह्मपथ में ही सञ्चरण करते हैं, क्योंकि वासना, मिथ्या सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाञ्चल्य और चित्त की विक्षेपवृत्ति निवृत्त होने पर बिन्दु की जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा की प्रथम भूमि है; बिन्दु के क्षरण से संसार और बिन्दु की स्थिरता से अमृतत्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्र में जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदि का केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्वविद्‌गण भी देह के अथवा कोष के केन्द्र को ही बिन्दु नाम से ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है, उसी को अन्नमय कोष का केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष के आधार पर सूक्ष्म शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूप में एक-एक बिन्दु है। वेदान्त की परिभाषा के अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोष को ही कारण-शरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृतबिन्दु के नाम से परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दु के देशगत और संस्कारगत भेदमात्र हैं। जब तक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तब तक यह भेद अनिवार्य है। इस भेद को मान कर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करने की चेष्टा करनी होगी। जिस कारण से बिन्दु क्षरित होता है, उसको रोके बिना बिन्दु की ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिर-रेता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमि पर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीज का रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट प्रणाली से रसतत्त्व का सम्यक् रूप से परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणतः हठ-योगी कहा करते हैं कि बिन्दु के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण के स्थिर होने पर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दु के साथ मन का और मन के साथ प्राण का परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशल से इनमें से किसी एक को भी बद्ध कर लेने पर शेष दो को अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोगशास्त्र में तथा योग-वासिष्ठरामायण में इस सम्बन्ध में प्रासङ्गिक अन्यान्य बाते भी लिखी हैं। शास्त्र का यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है, क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही बिन्दु आधार-भेद से भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ है। अतएव साधक के पूर्वसंस्कार तथा योग्यता के अनुसार चाहे जिस स्थान में संयम सम्भव हो, उसी से अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है एवं यहाँ-वहाँ के बिन्दु भी स्थिरभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

चक्षु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय शब्द ग्रहण करता है और अन्याय इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तव में देह के मध्य में स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थान में विषय-प्रतिभास के

रूप में जन्म ग्रहण करता है। बिन्दु का क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जब तक हम इन्द्रियों के मार्ग से विषय ग्रहण करते हैं तब तक तथाकथित रूप में वीर्यरक्षा करने पर भी व्यभिचार होता ही है। विषय का भेद हट जाने पर जब सर्वत्र ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्य में स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एवं कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्म की जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्था में एकमात्र विशुद्ध चेतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्य की अवस्था है। उस अवस्था में बिन्दु के क्षरित होने पर भी वह सरल मार्ग से सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भाव में व्याघात नहीं पहुँचता, भेदप्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टि से 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। इसी का अनुकरण करके समाज के अन्दर भी 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की व्यवस्था की गयी है। गुणभेद से 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' के तीन भेद हैं-शुक्ल, रक्त और कृष्ण। यहाँ पर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें बिन्दुक्षरण बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दु का क्षरण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्यावस्था की गणना अव्यक्तभाव के अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टि से विवाह न करना और विवाह करके स्वपत्नी के साथ संयत रहना दोनों ब्रह्मचर्य के स्वरूप हैं। पर-स्त्री के प्रति तनिक भी चित्त में आसक्ति उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्मचर्यावस्था से पतन हो जाता है, क्योंकि चित्त की वह अवस्था व्यभिचार के ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्वदारा के प्रति निरत रहने पर भी चित्त संयम के तारतम्य के अनुसार गुणभेद से गृहस्थ का ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का होता है।

बिन्दु का शोधन सम्यक् प्रकार से हुए बिना अन्य क्रिया-कौशल के द्वारा उसे स्थिर करने पर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता, क्योंकि संस्कारात्मक मल के आकर्षण से निर्दिष्ट स्थितिकाल अतीत होने के बाद बिन्दु पूर्व की तरह नीचे की ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधना में बिन्दु-शोधन के अनेक प्रकार के उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायान-सम्प्रदाय के बौद्धों के अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान एवं सहजयान के साधनमार्गों में इस प्रकार के सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपाय का वर्णन पाया जाता है। हठयोग में अपना विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिये भी इस प्रकार बिन्दुस्थिरता के उपाय का अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। बिन्दु शुद्ध होने पर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर बिन्दु को किसी अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो यह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशा में सञ्चरण-शील हो जाता है। बिन्दु की यह ऊर्ध्वगति प्रबुद्ध कुण्डलिनी के सहस्रार के आकर्षण से ऊर्ध्वप्रवाह का नामान्तर है। बिन्दु क्रमशः स्थूलभाव छोड़ कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्था को प्राप्त होता है और अन्त में सहस्रदलकमल की कर्णिका में स्थित महाबिन्दु के साथ मिल जाता है। यही चित्-चन्द्रमा का षोडशी कलारूप अमृत-बिन्दु है। नाभिग्रन्थि का भेद करके बिन्दु को ऊर्ध्वस्रोत में संश्लिष्ट कर देना ही उपनयन या

दीक्षा का यथार्थ रहस्य है। नाभिचक्र से ऊपर उठे बिना बिन्दु माध्याकर्षण के चक्र से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्याकर्षण के चक्र के अन्दर रहना संसार का ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा बिन्दु को विषय-जगत् से पृथक् करके, उसे पवित्र बना कर, ब्रह्ममार्ग में लगाना ही संसार से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। बिन्दु के विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्व की ओर सञ्चरण करने पर ही नाद का विकास होता है। अतएव नाभिचक्र से ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योति के रूप में अनुभूत होता है। यही शब्द ब्रह्म के सञ्चार की अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादि की पूर्णता से जो परम भाव का उदय होता है, वही निजबोधरूप आत्मज्ञान का विकास है। इसका विशेष विवरण 'दीक्षातत्त्व' तथा तत्सम्बन्धी षडध्वशुद्धि की आलोचना के अङ्गीभूत है।

भगवान् पतञ्जलि ने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करने से वीर्य की प्राप्ति होती है। वास्तव में ब्रह्मचारी की अवस्था का ही वर्णन योगसूत्र में प्रकारान्तर से श्रद्धारूप में किया गया है। ब्रह्मचर्यसम्भूत वीर्य की प्राप्ति होने पर देह के अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत्-शक्ति का विकास होता है—इस तेज की अधिकता के कारण चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणों की गति स्थिर हो जाती है और ध्येय की ओर चित्त का एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसी का दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासना का यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्त की समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्त के समाहित होने पर ध्येय वस्तु आवरण-विमुक्त होकर उज्ज्वल-रूप में स्वीयभाव की ज्योति से उद्भासित और प्रकाशित हो उठती है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभव क्षेत्र में जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्त का ही एक आकारविशेष है, यह चित्त से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाश को प्रज्ञा का उन्मेष अथवा ज्ञान-चक्षु का खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञा के निरुद्ध होने के बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है, वही वास्तव में योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योग की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिये नितान्त आवश्यक है, इस संक्षिप्त विवरण से सम्भवतः यह बात पाठकों को अवश्य मालूम हो जायेगी।

सिद्धि से पारमार्थिक हानि

आध्यात्मिक-मार्ग में सिद्धि का स्थान क्या है, इस विषय में विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालों में नाना प्रकार की बातें कही गयी हैं। यहाँ पर उन सबकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक मालूम होता है। फिर भी सिद्धि की सार्थकता क्या है एवं कौन सिद्धि किस समय में आध्यात्मिक साधना में बाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है। बहुत लोगों का ऐसा विश्वास है कि सिद्धि वाञ्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होने पर मुमुक्षु योगी के योगमार्ग में विघ्न उत्पन्न होता है। इस विश्वास के मूल में कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु असल में यह विश्वास भ्रान्त मालूम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सत् और असत् दो प्रकार का व्यवहार हो

सकता है। व्यवहार के दोष से वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्नि का स्पर्श करने से अबोध शिशु की सुकुमार देह जल जाती है, इस कारण से अग्नि की निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानी का काम नहीं। अग्नि अपने स्वभाव के अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभाव को जान कर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसी को चतुर कहना उचित है। अग्नि से व्यवहारानुसार अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु इसी कारण अग्नि को उन सब कार्यों का दायी मान लेने से काम नहीं चलता। शक्तिमात्र को इसी प्रकार समझना चाहिये।

मधुमती भूमि और योग के विघ्न

भगवान् पतञ्जलि का नाम जिस योग-सम्प्रदाय के साथ संश्लिष्ट है, उसमें चार प्रकार के योगियों का निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियों को 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। ये लोग अष्टाङ्गयोग-सम्पन्न होने पर ही योगभूमि में सद्यः प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणी में होती है। ये स्थूल समाधिसिद्ध हैं, अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त करने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए बिना ज्योति का उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योति का आविर्भाव होने पर भी उसकी क्रमशः शुद्धि होने की आवश्यकता है। जब तक उसकी विशुद्धि नहीं होती तब तक तत्त्वों को जीत कर (अर्थात् अपने वश में करके) स्वयं योग की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्था के बाद योगी 'मधुमती' नामक योग की दूसरी भूमि में पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है; इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा इत्यादि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकार के अलौकिक प्रलोभनों के द्वारा उन्हें भुलाने की चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्था में साधारणतः मनुष्य के हृदय में आसक्ति और अहङ्कार का भाव जग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये उद्यत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षा के योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्त में बल का सञ्चय करके साधन-पथ पर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयों से छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियों की परीक्षा की अवस्था है। प्रथम भूमि में चित्त सम्यक् रूप से विशुद्ध न रहने के कारण देवता आदि के इस तरह के प्रलोभन देने की सम्भावना नहीं रहती; तथा तृतीय अवस्था में प्रलोभन की समस्त वस्तुएँ योगियों के अपने सङ्कल्प के द्वारा निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्यभावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी विशेष आशङ्का की सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्था में योगी विशोधित प्रज्ञाज्योति के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की भी उसी प्रकार की पञ्चविध अवस्थाओं के ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होने पर योगी

वज्र के समान सिद्धदेह प्राप्त करते हैं और अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। ऐसे योगी की देह पर पञ्चभूतों के प्रभाव से आघात नहीं होता, अर्थात् भौतिक पदार्थों के गुण योगीदेह में अपनी क्रिया नहीं करते। इन्द्रियजय-द्वारा मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूलप्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्र में इन सब सिद्धियों का वर्णन 'मधुप्रतीक' के नाम से किया गया है। जिन योगियों ने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांश में देवताओं के स्तर से, शक्ति और शुद्धि में ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवता के द्वारा उन्हें लोभ में डाले जाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेष कर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रिय पर योगियों का अधिकार होने के कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति और संहार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्त में विमल वैराग्य की छटा छिटकी होने के कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं कर सकते जिसकी निवृत्ति के लिये किसी भी प्रलोभन में पड़ने की सम्भावना हो।

इस प्रकार साधना-क्रम से जब योगी भूतेन्द्रिय-राज्य को अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्र की भाषा में इसी का दूसरा नाम 'विशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियों की अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्य के साथ-ही-साथ त्रिगुण का राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी समस्त दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार करके, ऊपर उठ कर अव्यक्त परमपद में स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकार के योगियों का स्वरूप है। भाष्यकार व्यासजी ने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमि को 'अतिक्रान्त-भावनीय' नाम दिया है।

हठयोग

हठयोग के आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना तो बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रों की प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वर से ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वर-प्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीशिवजी ही हठयोग के प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपाय से मत्स्येन्द्र-नाथ ने इस विद्या को प्राप्त किया था, उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्ध में एक दन्तकथा हठयोग के बहुत-से ग्रन्थों में मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथ की तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि नाथ-सम्प्रदाय के आचार्यों ने हठयोग में निष्णात होकर संसार में इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदाय के इतिहास तथा शास्त्र की आलोचना करने पर हठविज्ञान की बहुत-सी अवश्य जानने योग्य बातें मालूम हो सकती हैं। गोरक्ष-शतक, गोरक्षसंहिता, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह, गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, अमनस्क, योगबीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्व-कौमुदी, घेरण्डसंहिता, निरञ्जन-पुराण इत्यादि बहुत से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के पूर्व भी हठयोग का प्रचलन था, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि इस योग के साधक थे—

"द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः" ॥

गोरक्षोपदिष्ट हठयोग के छह अंग हैं—उसमें यम और नियम ग्रहण नहीं किये जाते। परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोग के पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद् में भी हठ-योग के आठ प्रकार के अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोग की पूर्ण परिणिति राजयोग है। पातञ्जल-दर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से इसी का वर्णन किया गया है। हठयोग की नियमित साधना के द्वारा राजयोग की सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोग का राजयोग के सोपान के रूप में वर्णन किया करते हैं। इस राजयोग के प्रभाव से ही साधनशील जीव काल के पराक्रम से छुटकारा पाने में समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिका के मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोग के नामान्तर हैं। स्वात्माराम ने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भक-द्वारा प्राण की गति रुद्ध हो जाने पर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्द ने भी अपनी टीका में स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधि के बाद ब्रह्माकार स्थिति का उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्त को सम्यक् प्रकार से निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझ में आ सकता है कि हठयोग से स्वभावतः राजयोग का विकास होता है।

देहशुद्धि हठयोग का अव्यवहित उद्देश्य है। योगियों की पारिभाषिक भाषा में यह घट-शुद्धि के नाम से विख्यात है। घेरण्डसंहिता का मत है कि हठशास्त्रोक्त धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति—इस षट्कर्म-द्वारा देह की शुद्धि होती है। देह की दृढ़ता और स्थिरता आसन और मुद्रा का अभ्यास करने से सिद्ध होती है; तथा प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि के द्वारा क्रमशः दैहिक धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान—इन चार को हठयोग का प्रधान प्रतिपाद्य कहते हैं। इनमें आसन का अभ्यास विधिवत् करने से देह की स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। 'आसनेन रजो हन्ति'—यह सिद्धान्त योगि-सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घकाल तक विधि के साथ आसन का अभ्यास करने से रजोगुण-जनित देह की चञ्चलता और मन की अस्थिरता दूर हो जाती है। रोग विक्षेप का एक प्रधान कारण है—आसन के अभ्यास से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्यास से तमोगुण की क्रिया से उत्पन्न देह का भारीपन भी दूर होता है। देह में सात्त्विक तेज की वृद्धि होने से तमोगुण का ह्रास होता है और स्वभावतः ही देह हलकी हो जाती है। बार-बार अभ्यास करके आसन को स्थिर कर लेने पर प्राणा-याम की क्रिया सहजसाध्य हो जाती है; परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकार से आच्छन्न

रहने के कारण वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकती। इसीलिये प्राण-संग्रह के पहले नाडी-शोधन की आवश्यकता होती है। नाडी विशुद्ध हुए बिना उन्मनी-भाव अथवा मनोनिवृत्ति की कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से सुषुम्ना-नाडी के अन्दर का समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद् के मतानुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीने तक नित्य दो बार करना चाहिये[1]। देह की कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायुधारण करने का सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्यता—ये सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जाँय तब समझना चाहिये कि सब नाड़ियाँ शुद्ध हो गयी हैं[2]। त्रिशिखिब्राह्मण-उपनिषद् में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए बिना प्राणायाम यथार्थ-रूप में नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्था में नाडी-शुद्धि की चेष्टा करना अनुचित है। हठाचार्यों का कहना है कि सब साधकों के लिये षट्कर्म की आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीन दोषों में से किसी एक या दो की अधिकता होने पर षट्कर्म की सहायता लेना आवश्यक है। घटशुद्धि की तरह स्थूलता का नाश इत्यादि भी हठयोग का एक अव्यवहित फल है। याज्ञवल्क्य प्रभृति आचार्य कहते हैं कि जब एकमात्र प्राणायाम के द्वारा ही समस्त मल की निवृत्ति हो जाती है तब षट्कर्म की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुद्रा-साधन का उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुख से निद्रिता कुलकुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपर की ओर उठती है। कुण्डलिनी के जागने पर चक्र और ग्रन्थि, सबका भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्ना में प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्युभय छूट जाता है। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यास का मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकार की है और मुद्रा के अभ्यास का फल है अष्टैश्वर्य-प्राप्ति।

●

---

१. टीकाकार कहते हैं कि ४३ दिन, अथवा ३ मास, अथवा ४ मास, ७ मास या १ साल तक इस प्राणायाम का विधान है।

२. हठयोगप्रदीपिका में तथा दशम उपनिषद् में कृशता की बात आती है। शाण्डिल्य-उपनिषद् में कृशता की जगह लघुता शब्द का प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद् में एक ही साथ कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवसंहिता के मत से नाड़ी शुद्ध हो जाने पर दोष नष्ट हो जाते हैं, देह में साम्य; सुगन्धि और कान्ति की आभा प्रस्फुटित उठती है तथा स्वर में माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

योग तथा योगविभूति

सद्‌गुरु-प्रदर्शित प्रणाली का अवलम्बन कर दीर्घकाल तक अनवच्छिन्न-रूप से श्रद्धा और सत्कार के सहित योग-क्रिया का अभ्यास करने पर चित्त शुद्ध होता है और क्रमशः संसार के निदानभूत समस्त क्लेशों का शमन होता है। चित्त की आत्यन्तिक शुद्धि का फल है विवेकख्याति और पुरुष की कैवल्यसिद्धि। सत्त्वगुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव में ईश्वर-स्वरूप है—अविद्या के आवरण के कारण उसका ईश्वरत्व प्रकट नहीं हो पाता; परन्तु जब तीव्र योगाभ्यास के फलस्वरूप प्रज्ञा का उन्मेष होता है और अविद्या की निवृत्ति होती है—जिस समय सत्त्वगुण प्रबल होना आरम्भ करता है—उस समय उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है। ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से लेकर आत्मस्वरूप में उपसंहृत होने तक ही आत्मा 'ईश्वर' कहा जाता है—उसके बाद कैवल्य है।

जीव की दृष्टि से विचार करने पर विभूति या ऐश्वर्य और कैवल्य में क्रम है, ऐसा मालूम होता है; परन्तु अवस्था-विशेष में ऐश्वर्य का विकास हुए बिना भी कैवल्य की प्राप्ति असम्भव नहीं। परन्तु ईश्वर की दृष्टि से ऐश्वर्य और कैवल्य समकालीन हैं—आत्मा का सगुण और निर्गुण भाव एक समय में ही वर्तमान रहता है। एक को छोड़ कर दूसरे को ग्रहण नहीं करना पड़ता। योगभाष्यकार व्यासदेव ने इसी से ईश्वर को 'सदैव मुक्तः, सदैव ईश्वरः' कहा है। विशुद्ध सत्त्व ईश्वर की नित्य उपाधि है—इसमें रजोगुण और तमोगुण का संस्पर्श न होने के कारण ईश्वर में ज्ञान, ऐश्वर्य प्रभृति धर्मों का विकास सर्वदा ही रहता है। जीव की उपाधि मलिन सत्त्व है—वह भी जब साधना-द्वारा शुद्ध हो जाता है तब ऐश्वर्य को प्रस्फुटित करता है। परन्तु यह सत्त्व कितना भी शुद्ध क्यों न हो, वह कभी रजोगुण और तमोगुण के स्पर्श से सम्पूर्ण-रूप में विमुक्त नहीं होता। इसी से जीव का साधन-लब्ध ऐश्वर्य उसकी प्रकृति सम्बन्ध-हीन कैवल्यावस्था में नहीं रहता। यही कारण कि योगी इस ऐश्वर्य अथवा विभूति को कैवल्यपथ में विघ्न बतलाया करते हैं। परन्तु अप्राकृत, विशुद्ध सत्त्वजनित ऐश्वर्य परमात्मा का स्वभाव है—भगवत्कृपा से जीव के अन्दर विशुद्ध सत्त्व का सञ्चार होने पर इस ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। यह मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं, वरं बद्धावस्था में इसका आविर्भाव ही नहीं होता। जीव जब अपने विशुद्ध परमात्मभाव की उपलब्धि करता है, तब अपने-आप ही उसके स्वाभावभूत इस अलौकिक ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति होती है। भगवान् शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वर 'मानसोल्लास' में कहते हैं—

"ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक्स्थितिः।
पुरुषे धावमानेऽपि छाया तमनुधावति[1] ॥

योगविभूति को वर्तमान समय के शिक्षित-समाज के कोई-कोई पुरुष 'चमत्कार' (Miracle) कहा करते हैं। वे कहते हैं कि जगत् में 'चमत्कार' नहीं हो सकते, क्योंकि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कोई घटना नहीं घट सकती। बात एक तरह से बिल्कुल सत्य है, क्योंकि जगत् में जहाँ पर जो कुछ घटित होता है वह सब नियम के अधीन है—अतएव नियम वा नियति का उल्लङ्घन कहीं भी सम्भव नहीं, इसमें सन्देह ही क्या है ? डाक्टर हर्नाक ने अपने 'Das Wesen des Christentums' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है कि यह बात ध्रुव सत्य है कि 'चमत्कार' (Miracle) हो नहीं सकते – जो कुछ देश और काल में घटता है वह क्रिया-संक्रान्त व्यापक नियम के अधीन है। प्रकृति की अविच्छिन्नता के भङ्ग होने की कल्पना नहीं की जा सकती; अतएव इस अर्थ में 'चमत्कार' (Miracle) या अप्राकृत घटना असम्भव है (पृ०१७)[2]। दार्शनिकप्रवर स्पिनोज़ा कहते हैं—'Nothing happens in nature, which is in contradiction with its universal laws'; अर्थात् प्रकृति में ऐसी कोई घटना सम्भव नहीं जो उसके व्यापक नियम के विरुद्ध हो। फिर भी हर्नाक ने विशद-रूप से इस बात का निर्देश किया है कि जगत् में अप्राकृतिक घटना के स्थान न होने पर भी अलौकिक घटना का स्थान है। ऐसी घटनाएँ देखने में आती हैं जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होती हैं—जिनका कारण निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में प्रबल विश्वास तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति के प्रभाव से अनेक असाध्य व्यापार भी सुसिद्ध होते हैं—संसार में क्या और कितना सम्भव हैं, इसकी सीमा कोई निश्चित नहीं कर सकता[3]।

---

१. ईश्वर का स्वभाव ही ऐश्वर्य है—ऐश्वर्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं। जिस तरह छाया न चाहने पर भी दौड़नेवाले मनुष्य का पीछा करती है, उसी प्रकार न चाहने पर भी अविद्या के दूर होने पर स्वतः ही ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। वास्तव में ऐश्वर्य का विकास ही परमात्मा की स्वरूपस्फूर्त्ति या स्वभाव का विकास है।

२. किन्तु बॉनेट (Bonnet), यूलर (Euler), हॉलर (Haller), श्मीट (Schmidt) प्रभृति आचार्यों की दृष्टि में 'चमत्कार (Miracle) प्रकृति में पहले से वर्तमान रहते हैं। यथासमय बाह्यालोक में उनका प्रकाशमात्र होता है। इनकी बात भी ठीक है। प्रकृति शब्द का अर्थगत भेद स्वीकार करने पर दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं दिखायी देगा।

३. "We see that a firm will and a convinced faith act even on the bodily life and cause appearances which appeal to us as miracles. Who has hitherto here with certainty measured the realm of the possible and the real ? Nobody. Who can say how far the influences of one soul on another soul and of the soul on the body reach ? Nobody. Who can still affirm that all which in this realm appears as striking rests only on deception and error ?

जो लोग निरपेक्षभाव से भारतीय और विदेशीय धर्मग्रन्थों का अध्ययन और महापुरुषों के जीवनचरितों की आलोचना करते हैं, वे विभूति-सम्बन्धी बहुत-सी बातें जानते हैं। प्राचीन काल, मध्ययुग ओर वर्तमान समय के विभूति-सम्पन्न योगियों या भक्तों के अनेक दृष्टान्तों से वे परिचित हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, शुकदेव, अगस्त्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ, शङ्कराचार्य, महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य, वीरचन्द्र, कबीरदास, नानक साहब, तुलसीदास, जगजीवन, पल्टू साहब, दरिया साहब, बुद्धदेव, महामौद्गल्यायन, पार्श्वनाथ, महावीर, समन्तभद्र, नागार्जुन, असङ्ग, मिलारेपा, साधक कमलाकान्त, तैलंगस्वामी, रामदास, (काठिया बाबा) प्रभृति नाम भारत में सुप्रसिद्ध हैं। पाश्चात्य देशों में ऐपोलोनियस (टायना के), ईसा, मूसा, इजकारेल इत्यादि का नाम कौन नहीं जानता[1] ? सूफी और अन्यान्य मुसलमान फकीरों के योगैश्वर्य का वर्णन बहुत से ग्रन्थों में मिलता है[2] । आज भी भारत में बहुत से लोकोत्तर क्षमताशाली योगी विद्यमान हैं। किसी-किसी ने सौभाग्यवश उनमें से किसी-किसी के अचिन्तनीय ऐश्वर्यों को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा भी है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि विभूति या सिद्धि विकृत मस्तिष्क की कल्पनामात्र है, वे यदि इस विषय में सरल मन से खोज करें तो उन्हें बहुत से रहस्यों का पता मिल सकता है[3] ।

यहूदियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ (Old Testament) में लिखा है कि मूसा ने समुद्र (Red Sea) में मार्ग बना लिया था तथा अमृत की वर्षा करायी थी। एलिक्षा[4] ने एक

Certainly no miracles occur, but there is enough of the wonderful and the inexplicable".

१. डाक्टर ब्रूअर ने 'Dictionary of Miracles' नामक बृहद् ग्रन्थ में बहुसंख्यक प्राचीन और मध्य युग के ईसाई महापुरुषों की अलौकिक शक्ति के प्रमाण संग्रह करके प्रकाशित किये हैं। पाठक अपनी उत्सुकता दूर करने के लिये उस ग्रन्थ को देख सकते हैं।

२. बँगला की 'तापस-माला', निकल्सन (Nicholson) कृत 'Islamic Mysticism' आदि पुस्तकें देखनी चाहिये।

३. एक बार एक विख्यात प्राच्य पण्डित ने योग-सूत्र और वृत्ति का अंग्रेजी अनुवाद और व्याख्या करते हुए नास्तिक और अविश्वासी की भाँति विभूति के विषय में कटाक्ष किया था। आजकल बहुत से लोग उन्हीं के मतावलम्बी हैं, इसमें सन्देह नहीं। इन लोगों की धारणा है कि शास्त्रवर्णित विभूति या सिद्धि कल्पित वस्तु है। साधारण लोग ठगों के द्वारा प्रताड़ित होकर इस बात पर सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं। वैज्ञानिक लोग समझते हैं कि वह असम्भव है इत्यादि।

४. ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक विधवा स्त्री ने महात्मा एलिक्षा के पास आकर आर्त्त-स्वर में निवेदन किया कि ऋणशोध के लिये महाजन मुझको और मेरी सन्तानों को बेच देने का भय दिखा रहा है; कृपा कर ऐसा कोई उपाय करें; जिससे हमारी रक्षा हो। महात्मा ने उससे पूछा—'तुम्हारे घर में अपनी कोई सम्पत्ति है या नहीं' ? उसने उत्तर

मृत बालक को पुनर्जीवित किया था[१]। ईसा मसीह ने अपने प्रचार-जीवन में बहुत-सी आश्चर्यजनक घटनाएँ दिखायी थीं। उन सबका वर्णन प्रसङ्गवश 'न्यू टेस्टामेन्ट' (New Testament) में किया गया है। उन्होंने, जब कि गेलिली के अन्तर्गत काना में विवाहोत्सव हो रहा था, निमन्त्रित व्यक्तियों के लिये विशुद्ध जल को मदिरा के रूप में परिवर्तित किया था[२] और केवल करस्पर्श के द्वारा कुष्ठ-रोग को दूर किया था; जन्मान्ध को मिट्टी का स्पर्श करा कर दृष्टि प्रदान की थी[३] और पाँच जौ की रोटियों तथा दो छोटी-सी मछलियों के द्वारा पाँच हजार मनुष्यों को भोजन करा कर पूर्ण सन्तुष्ट किया था[४]। वह समुद्र के ऊपर पैदल चले थे[५]; उन्होंने मृत व्यक्ति को प्राणदान दिया था[६]। इस प्रकार और भी उन्होंने कितने ही अद्भुत कार्य किये थे[७]। फारिसी

दिया कि एक छोटे-से बर्तन में केवल थोड़ा सा तेल है। महात्मा ने कहा—'जाओ, अपने पड़ोसियों के घरों से माँग कर बड़े-बड़े जितने बर्तन मिल सकें, ले आओ और अपने उस तेल के बर्तन से तेल ढाल-ढाल कर उन सब बर्तनों को भर दो। देखोगी, जितना ढालोगी, उतना ही तेल बढ़ता जायेगा। सब बर्तन भर जायेंगे। फिर उस तेल को बेंच कर ऋण चुका देना और जो कुछ बच रहे, उसे अपने निर्वाह के लिये रख लेना'। ऐसा ही हुआ था (Kings IV. 1–7)।

और एक समय बाल शालिशा (Baal Shalisha) से जौ की बीस रोटियाँ लेकर एक आदमी एलिक्षा के पास आया। एलिक्षा ने उन बीस रोटियों से सात सौ मनुष्यों को भरपेट भोजन कराया और फिर भी रोटियाँ बच रहीं (Kings IV, 42-44)।

१. सुप्रसिद्ध औपन्यासिक स्व० बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय के पिता श्री यादवचन्द्र चट्टोपाध्याय को कई बार मृत्यु के बाद श्मशान-घाट पर अलौकिक ढंग से आविर्भूत होकर एक महापुरुष ने कृपा कर पुनर्जीवन प्रदान किया।

२. जॉन २.१–११। ईसा की उम्र उस समय ३० वर्ष से कुछ ऊपर थी।

३. जॉन ९।

४. मैथ्यू० १४.१३-२२; मार्क० ६.३०-४६; लूक० ९.१०-१७; जॉन ६.१-१५।

५. मैथ्यू० १४.२४-२६; मार्क० ६.४७-५६; जॉन ६.१६-२१।

६. यहूदी शासक जयरास की बारह साल की एकलौती कन्या, एक विधवा के पुत्र एवं लाजेरस—इनको ईसा की कृपा से पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी एक मृतक को जीवनदान दिया था।

७. एक बार ईसा मसीह काना नगर में गये। वहाँ से केपरनॉम (Capernaum) प्रायः १६ या १८ मील दूर था। एक सेठ का लड़का वहाँ मुमूर्षु-अवस्था में था। ईसा ने काना में रहते हुए ही, इतनी दूरी पर से, रोगी का रोग दूर कर दिया था। जिस समय उन्होंने रोगनिवृत्ति की बात कही, ठीक उसी समय रोग दूर हुआ था। घर लौट कर जाते समय रास्ते में नौकरों से सेठ की मुलाकात हुई। नौकरों ने जिस समय रोग दूर हुआ था, उसे बतलाया—वह ईसा के बतलाये हुए समय से मिल गया (जॉन० ४.४३-५४)।

उसी स्थान (Capernaum) में उन्होंने साइमन के घर जाकर उसकी सास का

लोग (Pharisees) इन सब अलौकिक कार्यों में विश्वास नहीं करते थे; इसी कारण यह सब झूठ है, ऐसा किसी को नहीं मान लेना चाहिये। एपोलिनियस भी ईसा के समकालीन एक श्रेष्ठ योगी थे। उन्होंने भारतवर्ष में आकर सद्गुरु से योग-शिक्षा प्राप्त की थी। उनके साथी शिष्य उनकी यात्रा और शिक्षा-सम्बन्धी विवरण लिख कर रखते जाते थे। एपोलिनियस के बहुत-से जीवनचरित लिखे गये हैं, उनसे बहुत-सी-बातें मालूम हो सकती हैं। इन्होंने भी मृत व्यक्तियों को जीवित किया था। वह भूत और भविष्य की घटनाओं को स्वच्छ दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह देख सकते थे। वह कहा करते कि संयत जीवन ही इसका हेतु है[1]। ए० विल्डर ने अपने 'Neo-Platonism and Alchemy' नामक ग्रन्थ में इसको 'Spiritual Photography कहा है[2]।

स्पेन देश की राजधानी मैड्रिड नगर के अधिवासी महात्मा इसीडोर की असाधारण विभूति का वर्णन उनके चरितलेखक एडवर्ड किनेसमैन (Edward Kinnesman) ने किया है[3]। ये महात्मा एक किसान थे। एक बार उन्होंने सारे दिन परिश्रम करने के बाद शाम को अपनी कुटो में आकर देखा कि एक दरिद्र मुसाफिर अन्न की आशा से द्वार पर बैठा है। महात्मा ने अपनी स्त्री से उस आदमी के लिये कुछ खाने को लाने के लिये कहा, परन्तु घर में कुछ भी नहीं था। इसीडोर ने स्त्री से कहा—'जाओ, घर में जाकर अन्नपात्र को अच्छी तरह देखो कि कुछ है या नहीं।' स्त्री ने उत्तर दिया कि मैं उसे अभी तो धो-माँज कर रख आयी हूँ, वह एकदम खाली है। तब उन्होंने स्त्री से कहा कि उस बर्तन को तुम मेरे पास ले आओ। स्त्री जब घर में बर्तन लाने गयी तो छूते ही वह उसे बहुत भारी मालूम पड़ा। जब उसने उसका ढक्कन उठाया तो देखा कि पात्र तुरन्त पके हुए उष्ण और उपादेय खाद्य-पदार्थ से परिपूर्ण

ज्वर स्पर्शमात्र से दूर कर दिया। उसी दिन और भी बहुत से लोगों के रोग उन्होंने दूर किये (मैथ्यू० ८.१४-१७; मार्क० १.२१-३४; लूक० ४.३३-४१)।

१-२. शङ्कराचार्य ने दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में स्पष्ट ही कहा है कि 'विश्व दर्पणदृश्यमाननगरीसदृश' है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने कहा है—

"आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते" ॥

अर्थात् चित्त-सत्त्व तमःशून्य होकर प्रकाशमान होता है और रजःशून्य होकर स्थिर (अनुपद्रुत) होता हैं, तब भूत और भविष्य के विषय प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं।

ए० विल्डर ने इस रहस्य की व्याख्या इस प्रकार की है—

"The soul is the camera in which facts and events—future, past and present are alike fixed, and the mind becomes conscious of them. Beyond our everyday world of limits, all is as one day or state, the past and future comprised in the present"

३. द्रष्टव्य, "The Miraculous Life, etc. of St. Isidore, patron of Madrid, lately canonised by Gregory XV".

है। उसने उसके द्वारा भूखे अतिथि को भरपेट भोजन कराया—फिर भी वह समाप्त नहीं हुआ।

कहते हैं, छठी शताब्दी में लुक्का में फ्रिडियन नामक एक उच्च कोटि के साधु रहते थे। उन्होंने एक बार औसर (Auser) नामक नदी की धारा को अपने सिद्धि-बल से बाढ़ के समय परिवर्तित कर दिया था। अगर वह ऐसा न करते तो बढ़ी हुई नदी के भीषण प्रवाह से समस्त देश का विध्वंस हो जाता[1]। महात्मा ने २८ उपासना-लय बनवाये थे। एक बार ऐसे एक घर के बनवाते समय एक बहुत बड़ी शिला को ऊपर उठाने की आवश्यकता हुई। जब बहुत-से लोगों के मिल कर चेष्टा करने पर भी वह ऊपर न उठ सकी तो पीछे महात्मा ने अनायास उसे ऊपर उठा दिया[2]।

एग्निस (Agnes) नाम्नी एक साधिका की असाधारण योगविभूति की कथा ईसाई धर्म-साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक दिन दो साधु उसकी क्षमता की बात सुन कर उससे मिलने के लिये आये। बहुत देर तक तीनों आदमियों ने आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में नाना प्रकार की आलोचनाएँ कीं। अन्त में साधिका ने दोनों आगन्तुक साधुओं को भोजन के लिये बैठाया। भोजन परोसने से पहले ही साधुओं ने देखा कि अकस्मात् एक थाली मेज के ऊपर आ गयी—उसमें एक सुन्दर खिला हुआ गुलाब का फूल था। साधिका ने कहा—'बाबाजी, प्रभु ईसा ने दया करके भयंकर शीतकाल में, जब कि अन्यान्य पार्थिव पुष्प अति शीत के कारण नष्ट हो गये हैं, स्वर्ग के बगीचे से इस गुलाब को हम लोगों के पास भेज दिया है। आप लोगों के साथ वार्त्ता-लाप करने से मेरे हृदय में जो आनन्द और तृप्ति का सञ्चार हुआ है, यह उसी का निदर्शन है[3]।' दोनों साधु इस विचित्र घटना को देख कर बड़े विस्मित हुए और अपने-अपने स्थान को लौट गये। इस साधिका ने पल्कियानों (Pulciano) नामक पर्वत-शिखर पर एक रमणीय विहार बनवाया था। उस जगह बीस तपस्विनी साधिकाएँ उसके साथ रहती थीं। एक बार तीन दिन तक घर में अन्न नहीं था। सब लोगों ने उपवास किया था। एग्निस ने प्रार्थना की—'प्रभु, तुम्हारे ही आदेश से मैंने इस विहार को बनाया था। अब तुम क्या यह चाहते हो कि तुम्हारी सेविकाएँ अन्न बिना प्राण त्याग दें? प्रभु, हमारे लिए अन्न की व्यवस्था करो, अन्यथा हम सब मर जायँगी। हम लोगों के लिये पाँच रोटियाँ भेज दो। स्वामिन्, हमारी आवश्यकता बहुत ही साधारण है; परन्तु तुम्हारी शक्ति तो असाधारण है, और तुम्हारा प्रेम भी अनन्त है।' उसी समय एक साधिका घर में जा रही थी। एग्निस ने उससे कहा—'बहिन, जाओ, ऊपर के घर में से रोटी ले आओ। उन्हें अभी प्रभु ईसा ने भेज दिया है।' रोटी लाकर मेज पर रक्खी गयी। वह एक विचित्र वस्तु थी—उसमें से जितनी ही खाई जाती थी, उतनी

---

१. द्रष्टव्य, Gregory : Dialogues, Book III, Chap. 9. कहते हैं. शङ्कराचार्य ने भी अलवाई नदी की गति परिवर्तित कर दी थी।

२. द्रष्टव्य, Ecclesiastical History of Lacca (1735).

३. द्रष्टव्य, 'Life of St. Agnes', by Raymond of Capua.

ही द्रुत गति से अलक्ष्यरूप में वह बढ़ती जाती थी बहुत दिनों तक आश्रम के सब लोगों की भूख उसी से निवृत्त होती रही[1]।

पौला निवासी महात्मा फ्रान्सिस की अलौकिक क्षमता का वर्णन उनके जीवन-चरित में मिलता है[2]। उनकी इच्छाशक्ति एक प्रकार से अपरिमित थी; भौतिक द्रव्य के स्पर्श के बिना ही केवल उसके मुँह से निकली हुई वाणी के प्रभाव से टेढ़ा पेड़ सीधा हो गया था, कठोर लोहा कोमल होकर दूर देश में चला गया, गभीर गर्त्त तालाब बन गया। एक बार उन्होंने बिल्कुल न चल सकने वाले एक पंगु व्यक्ति को एक बहुत बड़ा पत्थर का टुकड़ा छत पर ले जाने की आज्ञा दी और साथ-ही-साथ उसमें शक्ति का सञ्चार किया। पत्थर इतना भारी था कि दो बैल भी उसे हिला नहीं सकते थे। वह आदमी अनायास उसे उठा ले गया और नीरोग हो गया। एक दिन लकवे से पीड़ित एक स्त्री कर्टोना नामक स्थान से उनके पास आयी। वह स्त्री तीस वर्ष से बीमार थी। उस समय महात्मा आश्रम-गृह बनवा रहे थे। उन्होंने उस स्त्री से एक बड़ा पत्थर उठा कर राजमिस्त्री के पास पहुँचा देने के लिए कहा। स्त्री ऐसा करते ही रोग से मुक्त हो गयी। कहते हैं, एक बार—जब वह अपना कालाब्रिया का आश्रम बनवा रहे थे—समीपवर्ती पर्वत का एक बहुत बड़ा हिस्सा टूट कर बड़ी तेजी से नीचे की ओर खिसक पड़ा; ऐसा मालूम हुआ कि आश्रम के ही ऊपर आकर वह गिरेगा। आश्रम और कार्य करनेवाले आदमियों के उस बड़े पत्थर की चोट से नष्ट होने की आशङ्का हुई—एक प्रकार का करुण आर्त्तनाद चारों ओर छा गया। परन्तु महात्मा फ्रान्सिस के स्थिर होकर शक्ति का प्रयोग करते ही पाषाण की गति बन्द हो गयी। उन्होंने वहाँ जाकर अपने डंडे से पत्थर पर प्रहार किया और पत्थर को आदेश दिया कि वह नीचे न गिरे। पत्थर वहीं रह गया। बहुत-से लोगों ने इस घटना को प्रत्यक्ष देखा था। इस प्रकार की असंख्य बातें उनके जीवनचरित से मालूम होती हैं।

हमारे देश में भी ऐसी असंख्य घटनाएँ महापुरुषों के जीवन में देखी जाती हैं। श्रीकृष्ण की बात हम छोड़ देते हैं—क्योंकि वह 'भगवान् स्वयं' कह कर सम्प्रदाय-विशेष के द्वारा पूजे जाते हैं[3]। बालब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता शुकदेव की कथा चिर-प्रसिद्ध है। उन्होंने योगबल से सूर्यमण्डल में प्रवेश किया था। महाभारत में वर्णन है कि नारद का उपदेश सुन कर उन्होंने मन-ही-मन सोचा—

---

१. द्रष्टव्य, La Vierge de Sienne : Dialogues, 149.

२. Le P. Giry : Life of St Francis of Paula.

३. परन्तु जो लोग उन्हें मनुष्य मानते हैं, उनको भी उनकी अचिन्त्य लीलाओं को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। दुःख का विषय है कि भगवान् श्रीकृष्ण और ईसा को जो लोग मनुष्य मानते हैं, वे लोग उनके जीवन के अलौकिक अंश को छोड़ देते हैं। रेनन (Renan), बंकिमचन्द्र प्रभृति कुछ अंश में इसी प्रकार के भावुक है। ये समझते हैं कि मनुष्य के जीवन में अलौकिक शक्ति का विकास होना सम्भव नहीं। पीछे से ये सब बातें भक्तों-द्वारा उनके जीवन में आरोपित कर दी गयी है।

"तत्र यास्यामि यत्रात्मा प्रशमं मेऽधिगच्छति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम्॥

उन्होंने सोचा कि चन्द्रमा में ह्रास-वृद्धि होती है, अतएव वहाँ जाना उचित नहीं। सूर्य 'अक्षयमण्डल' हैं—वह अपने उज्ज्वल रश्मिबल से सब स्थानों से नित्य तेज को खींचते हैं। इसी से शुकदेव ने सूर्यलोक में निःशङ्क होकर वास करने का निश्चय किया—स्थूल देह त्याग कर सूर्यमण्डल में ऋषियों के साथ जाने की इच्छा की। उसके बाद सूर्योदय होने पर गिरिशृङ्ग पर निर्जन और समभूमि में बैठ कर उन्होंने पाद प्रभृति समस्त शरीर में आत्मा को धारण किया, तथा पूर्वमुख होकर आत्मा का दर्शन किया। तत्पश्चात्—

"स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्याक्रामद् विहायसम्॥"

नारद की प्रदक्षिणा करके उन्होंने उन्हें अपना योग दिखाया। फिर नारद की आज्ञा लेकर 'पुनर्योगमास्थाय आकाशमाविशत्'—पुनः योगबल से आकाशमार्ग में प्रवेश किया। वह कैलास-शिखर से उड़ कर देवलोक में गये। वह 'अन्तरिक्षचर' और 'वायुभूत' थे—एकाग्र मन से उड़ते जा रहे थे; ऐसी अवस्था में मनुष्य, देवता, गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, सिद्धमण्डली सब लोग उन्हें देख रहे थे, और देख कर सब विस्मित हो रहे थे।

श्रीशङ्कराचार्य के असाधारण योगबल की कथा आजकल बहुत-से लोग जानते हैं। परकाय प्रवेश, नर्मदा के जलस्तम्भन, आकाश मार्ग से गमन[1] प्रभृति बातों से सब परिचित हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के जीवन की जिन्होंने पर्यालोचना की है, वे जानते हैं कि उसमें बहुत स्थानों में उनके योगैश्वर्य का परिचय मिलता है। सार्वभौम भट्टाचार्य के सामने षड्भुजमूर्ति धारण करके आविर्भूत होना उनकी योगशक्तिमत्ता का सामान्य निदर्शनमात्र है। बुद्धदेव की ऋद्धि-सिद्धि अलौकिक थी। बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत बुद्धदेव के जीवन-वृत्तान्त की पर्यालोचना करने पर इसका सविस्तर विवरण मालूम हो सकता है। षडभिज्ञ, दशबल इत्यादि नाम भी उनकी ऋद्धिमत्ता के ही

---

१. माहिष्मती नगरी में जाकर मण्डन के घर के किवाड़ बन्द देख कर शङ्कर ने योगबल से आकाश-मार्ग से मण्डन के अन्तःपुर में प्रवेश किया—"योगशक्त्या व्योमाध्वनावान्तरदङ्ग-नान्तः"—माधवकृत 'शङ्करदिग्विजय, ८।९।

सूचक हैं[1] । मौद्गल्यायन[2] और पिण्डोल भारद्वाज[3] भी ऋद्धिसम्पन्न थे। धम्मपद के १८० (१४।२) गाथा की व्याख्या में बुद्धघोष ने पिण्डोल भारद्वाज के आकाशगमन का एक विचित्र इतिहास दिया है। कहते हैं, एक बार राजगृह के एक सेठ गङ्गा में जलकेलि करने के लिये गये। उन्होंने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र इत्यादि सुरक्षित-रूप में गङ्गातट पर एक पात्र में रख दिये। कुछ दिनों पहले नदी-तट से एक रक्तचन्दन का वृक्ष जड़ से उखड़ कर नदी में गिर गया था और नदी के तीव्र स्रोत में पत्थर से घिस-घिस कर टूट गया था। उस वृक्ष का घड़े के बराबर का एक टुकड़ा जल में निरन्तर घिस-घिस कर गोल और चिकना हो गया था और बहते-बहते सेवार से ढक गया था। वह काठ सेठ के भूषण-पात्र से आकर लग गया। सेठ ने काठ के टुकड़े को काटने पर पहचान लिया कि यह रक्तचन्दन है। वे उसे घर लेते गये और उसका उन्होंने एक कमण्डल बनवाया। एक दिन उन्होंने बाँस के दण्डों को जोड़कर ६० हाथ ऊँचा एक दण्ड बनाया और उसे जमीन में गाड़ कर उसके ऊपर उस कमण्डल को टाँग दिया। उसके बाद उन्होंने चारों ओर घोषणा कर दी—'यदि कहीं कोई अर्हत् हों तो शून्य मार्ग से आकर इसे ग्रहण करें[4] ।' यहाँ पर बहुत-से साधु एकत्र हो

---

१. श्रीकृष्ण की तरह बुद्धदेव के भी अलौकिक योगैश्वर्य का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया।

२. मौद्गल्यायन और शारिपुत्र सञ्जय नामक एक विभूति-सम्पन्न गुरु के शिष्य थे। पीछे उन्होंने बुद्धदेव का आश्रय ग्रहण किया था।

३. दिव्यावदान के मत से पिण्डोल भारद्वाज अति दीर्घजीवी थे। वे राजा धर्माशोक के राज्य के अन्त समय तक जीवित थे।

४. शून्यमार्ग से चलने का सामर्थ्य ही अर्हत् का बाह्य लक्षण है। मल-सम्बन्ध के कारण जीव जडत्व को प्राप्त होता है और ऊपर उठने की शक्ति खो बैठता है। धम्मपद में (गाथा १७५ = १३।९) लिखा है कि हंस सूर्य के मार्ग से जाता है, जो विभूतिशाली हैं वे आकाशमार्ग से चलते हैं। इस गाथा की बुद्धघोष-कृत अट्ठकथा के व्याख्या-प्रसङ्ग में ३० भिक्षुओं का आख्यान दिया गया है। ये लोग विदेश से जेतवन में बुद्धदेव के दर्शन के लिए आये थे। उस समय बुद्ध के परिचारक आनन्द नामक स्थविर वहाँ उपस्थित थे। बुद्ध समागत भिक्षुओं के साथ वार्तालाप करके सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उन्हें उपदेश प्रदान किया — फलस्वरूप वे अर्हत्-पद प्राप्त कर शून्यपथ से चले गये। किन्तु उस समय आनन्द बाहर ही उनका रास्ता देख रहे थे। वे सोच रहे थे कि कार्य-समाप्ति के पश्चात् भिक्षुओं के बाहर चले आने पर वे बुद्धदेव के पास जायेंगे। बहुत देर बाद भी उन्हें बाहर आते न देखते हुए वे उस कक्ष के अन्दर गये और वहाँ भी उन्होंने उन भिक्षुओं को नहीं देखा। तब उन्होंने बुद्ध से पूछा कि वे ३० भिक्षु जो उनके पास आये थे, वे कहाँ गये ? बुद्ध ने उनकी इस पृच्छा का उत्तर देते हुए उन्हें बताया कि वे ३० भिक्षु शून्यपथ से चले गये हैं। उन लोगों ने मल-शून्य होकर अर्हत्-पद प्राप्त कर लिया था। उस समय बहुत से हंस शून्यपथ से जा रहे थे। उन्हें देख कर बुद्ध ने कहा—'जो लोग चतुर्विध ऋद्धि का विकास करते हैं, वे हंस की नाईं शून्यमार्ग से जा सकते हैं।

गये। प्रथम छह दिन छह साधुओं के प्रयत्न के लिये निर्दिष्ट थे। वे सब विफलमनोरथ हो गये। सातवें दिन महामौद्गल्यायन और पिण्डोल भारद्वाज राजगृह में भिक्षा के लिये आये। वे लोग एक समतल पहाड़ के ऊपर खड़े होकर कपड़े पहन रहे थे। वहाँ पर कुछ शिकारी आपस में बातें करते थे—'आजकल कोई अर्हत् नहीं—सेठ के कमण्डल को शून्यपथ से आकर कोई भी ग्रहण न कर सका। आजकल जो लोग अपने को अर्हत् बतलाते हैं वे झूठे और कपटी हैं।' शिकारियों की बात सुन कर मौद्गल्यायन और पिण्डोल ने मन में सोचा कि बुद्ध-धर्म का अपमान हो रहा है। अतएव वे समाधि-विशेष में समाहित होकर व्युत्थित हुए और तीन योजन समतल शैल की पदाङ्गुलि-द्वारा प्रदक्षिणा करके आसमान में उठ गये – साथ ही साथ पहाड़ भी रुई की तरह हलका होकर उठ गया। फिर उस पहाड़ के साथ राजगृह नगर के ऊपर शून्य-पथ से उन्होंने सात बार परिक्रमा की। राजगृह तीन योजना में फैला हुआ था। ऐसा मालूम हुआ, मानो नगर के ऊपर कोई ढक्कन आ पड़ा है। समस्त नगरवासी भयभीत हो गये। सातवीं बार प्रदक्षिणा करते समय पहाड़ फट गया और उसके बीच से भारद्वाज लोगों के सामने प्रकट हो गये। उन्होंने पदाघात करके पहाड़ को वहाँ से हटाया—पहाड़ पूर्व स्थान में जाकर स्थिर हो गया। पिण्डोल, सेठ के अनुरोध से, उनके घर उतरे और उनके दिये हुए आसन पर बैठ गये। शून्य से भिक्षापात्र ग्रहण करके जब वे आश्रम की ओर वापस जाने लगे तब बहुत से लोगों ने—जिन्होंने उस आश्चर्यजनक घटना को देखा नहीं था—उसे पुनः दिखाने के लिये बार-बार अनुरोध किया। पिण्डोल ने उनके अनुरोध के अनुसार कार्य किया। उसी समय उस पथ से भिक्षा के लिये बुद्धदेव आ रहे थे, चारो ओर सबके द्वारा पिण्डोल के ऋद्धि की प्रशंसा हो रही थी। बुद्धदेव को आनन्द से पूछने पर सब बातें मालूम हो गयीं। उन्होंने पिण्डोल को बुला कर सब बातें पूछीं और कहा—'भारद्वाज, इस प्रकार का काम तुमने क्यों किया' ? यह कह कर रक्तचन्दन के पात्र को उन्होंने टूक-टूक करके सब भिक्षुओं को चन्दन घिसने के लिये दान दे देने का आदेश किया और यह नियम बना दिया कि भविष्य में और कोई शिष्य इस प्रकार लौकिक कार्य के विषय में कभी योगैश्वर्य को प्रकाशित न करें।[1]

महाप्रभु नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द्र सिद्धिसम्पन्न थे। नित्यानन्ददास-कृत 'प्रेम-विलास' (चौबीसवें विलास) में कहा गया है कि एक दिन वह गौड़ के बादशाह के पास गये। बादशाह ने उन्हें मुसलमान रसोइये के द्वारा बनवा कर मांस खाने को दिया। वीरचन्द्र वैष्णव थे; अतएव निरामिषभोजी थे। भोजन जिस थाल में लाया गया था वह सफेद कपड़े से ढका था। बादशाह ने बीरचन्द्र की परीक्षा करने के लिये ही ऐसा किया था। वीरचन्द्र भी इसे जानते थे। जिस समय थाली से कपड़ा हटाया गया उस समय देखा गया कि वहाँ मांस नहीं है; नाना प्रकार के सुगन्धित खिले हुए फूल सजा कर रक्खे गये हैं। बादशाह ने और भी दो बार इसी प्रकार स्वयं मांस

---

१. द्रष्टव्य, चुल्लवग्ग (ओल्डेनबर्ग द्वारा सम्पादित रोमन लिपि में प्रकाशित संस्करण) पृ० ११०-११२।

दिलवाया। दोनों ही बार सबके सामने पात्र खोल कर देखा गया; उसमें मांस नहीं था, पुष्प थे[1]।

ऐसी किंवदन्ती है कि पलटू साहब को जीवित अवस्था में ही जला कर मार डाला गया था। परन्तु उन्होंने उसी शरीर से और उसी समय पुरुषोत्तम-क्षेत्र में आविर्भूत होकर अपने लोकोत्तर सामर्थ्य का परिचय दिया था—

"अवधपुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू प्रगटे जाइ"॥

महात्मा दरिया साहब (मारवाड़ी) मारवाड़ान्तर्गत मेड़ता परगने के अधीन रैन गाँव में निवास करते थे। उन्होंने राजा बख्तसिंह को उनके असाध्य रोग से इच्छा-शक्ति के बल पर मुक्त किया था, ऐसा प्रसिद्ध है।

जैन संन्यासी काञ्चीवासी स्वामी समन्तभद्र आचार्य को पण्डितवर्ग रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गन्धहस्तिमहाभाष्य, युक्तानुशासन, जिनशतकालङ्कार, विजयधवलटीका और तत्त्वानुशासन के रचयिता के रूप में जानता है[2]। परन्तु वे एक विशिष्ट कोटि के योगी थे, यह सम्भवतः बहुत से लोग नहीं जानते। कहते हैं, एक बार काशी में रहते समय वहाँ के राजा ने उन्हें किसी देवमूर्ति को प्रणाम करने के लिये कहा। उनका प्रणाम वह मूर्ति सहन नहीं कर सकती, ऐसा कह कर वह पहले प्रणाम के लिये सहमत नहीं हुए। परन्तु उन्होंने जब देखा कि मेरी बात पर किसी को विश्वास नहीं है, तब अन्त में उन्हें बाध्य होकर प्रणाम करना पड़ा। देखा गया कि प्रणाम करते ही मूर्ति टूट गयी[3] और उसके अन्दर से अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ भगवान् का प्रतिबिम्ब प्रकट हो गया। यह देख कर सब लोग आश्चर्यान्वित हो गये।

इस प्रकार के दृष्टान्त बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। वर्तमान समय में भी और पाश्चात्त्य जगत् में भी अलौकिक घटनाओं का अभाव नहीं है। ये सभी निर्मूल हैं, ऐसा

---

१. बादशाह ने सन्तुष्ट होकर उन्हें कुछ माँगने के लिए कहा। वीरचन्द्र ने दो बातें माँगी—(क) मेरे जन्म स्थान खड़दा में मुसलमानों के द्वारा मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट न की जायँ; (ख) राजमहल में एक काले रंग का पत्थर है, वह मुझे दिया जाय।

उसी पत्थर से खड़दा के प्रसिद्ध श्यामसुन्दर की मूर्ति निर्मित हुई और उनके पुत्र अच्युतानन्द-द्वारा स्थापित हुई। स्वामिवन के नन्दलाल और वल्लभपुर के वल्लभजी की मूर्तियाँ भी उसी पत्थर से बनायी गयीं थीं।

२. 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' 'तत्त्वार्थसूत्र' के ऊपर विशाल टीका-ग्रन्थ (१४००० श्लोकों का) था। यह अभी सम्पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। इसका केवल मङ्गलाचरणमात्र मिलता है और उसका नाम है 'देवागमस्तोत्र' या 'आप्तमीमांसा'। इसी अंश के उपर अकलङ्क की 'अष्टशती', विद्यानन्द की 'अष्टसाहस्री', वसुनन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती की 'देवागमवृत्ति' नामक टीकाएँ है।

३. इस प्रकार की घटना प्रसिद्ध तान्त्रिक योगिवर भास्कर राय के जीवन में भी हुई थी। 'गुरुपरम्पराचरित' में इसका उल्लेख है।

कोई न समझे। जगत् में शठता, प्रवञ्चना आदि का भी अभाव नहीं; बहुत-से धूर्त्त अपने स्वार्थ-साधन के लिये सरल एवं विश्वासी जनता को अनेक समय कृत्रिम ऐश्वर्य दिखा कर मोहित करते और ठग लेते हैं—तथापि उससे सत्य का गौरव कभी क्षुण्ण नहीं हो सकता। अवश्य ही यह भी ठीक नहीं कि अलौकिक विभूतिमात्र ही योग की विभूति है; क्योंकि योग के बिना भी अलौकिक-रूप में खण्ड-विभूति के अनेकों कार्य दिखाये जा सकते हैं। साधारण लोगों के लिये दोनों का भेद समझना सहज नहीं। साथ-ही-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि वास्तविक योग-विभूति तुच्छ वस्तु नहीं है। जिनके अन्दर इस प्रकार की विभूति उत्पन्न नहीं हुई, वे यदि इसे तुच्छ समझें तो अधिकांश स्थानों में 'अंगूर खट्टे हैं' (Grapes are sour) की कहावत ही चरितार्थ होती है, ऐसा समझना होगा। विभूति का उदय होना जैसे योगी के लिये स्वाभाविक है, वैसे ही उसका उपसंहार भी परमावस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य ही इसे द्वैत-दृष्टि से ही समझना होगा; क्योंकि मायाशक्ति की उपलब्धि जिस समय योगमाया या स्वरूपशक्ति के रूप में की जाती है, उस समय योग-विभूति का उदय या अस्त, आविर्भाव अथवा तिरोभाव, दोनों अलीक वाक्यमात्र हो जाता है। कारण, स्वरूप का जैसे उदय-अस्त नहीं होता वैसे ही स्वप्रकाश स्वरूप-शक्ति का भी वस्तुतः आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता। श्रीभगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी दिव्य विभूति भी मङ्गलमयी है। पातञ्जल-दर्शन प्रभृति ग्रन्थों में जो विभूति को अन्तराय (विघ्न) कहा गया है, उसे कैवल्य या आत्मा की स्वरूपावस्था-प्राप्ति की प्रतिबन्धात्मक विभूति समझना चाहिये; क्योंकि श्रीभगवान् की दिव्य विभूति शुद्ध सत्त्व का कार्य है, वह कभी हेय नहीं समझी जा सकती। विश्वव्यापी प्राचीन और नवीन महापुरुषों की विभूति से यही प्रमाणित होता है।

वास्तव में सर्वात्मता या पूर्णाहन्ता ही महाविभूति है—अणिमादि सिद्धियाँ उसका अति क्षुद्र आंशिक विकासमात्र हैं। यह बात शङ्कर और सुरेश्वर ने स्पष्टरूप से कही है। बौद्धाचार्यों का कहना है कि स्रोत-आपन्न, सकृदागामी और अनागामी अवस्था के बाद जब अर्हद्भाव का आविर्भाव होता है तब अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान—इन चार प्रकार के प्रतिसंवित् एवं ऋद्धि, दिव्य-श्रोत, परचित्तज्ञान, अपने और दूसरे के पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य-दृष्टि—इन पाँच प्रकार की अभिज्ञाओं का उदय हो जाता है[1]।

---

१. किसी-किसी स्थान में 'आस्रवक्षयज्ञान' नामक एक छठी अभिज्ञा के उदय की बात भी पायी जाती है। यही क्लेशनिवारक यथार्थ ज्ञान या बोधि है। इन्हीं छह अभिज्ञाओं के होने के कारण बुद्ध का नाम 'षडभिज्ञ' पड़ा था। 'योगावतारोपदेश' नामक ग्रन्थ में (श्लोक ७ में) लिखा है कि 'संज्ञावेदितनिरोध' नामक अवस्था का सम्यक् स्पर्श होने पर इन प्रथम पाँच अभिज्ञाओं का आबिर्भाव होता है। योगी इनके द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं—'तदभिव्यक्तो योगी जगदर्थं साधयत्यपरिमेयान्'। 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में अभिज्ञाओं के नाम दिये हुए हैं। 'धम्मसङ्गणि' में अभिज्ञा को 'विद्या' या 'प्रज्ञा' से

पहली पाँच प्रकार की अभिज्ञाएँ ध्यानचतुष्टय से उत्पन्न होती हैं—ध्यान की प्राप्ति होते ही अभिज्ञा उत्पन्न हो जाती है। साधक स्वयं जिस भूमि पर स्थित होता है उस भूमि के और उससे नीची भूमि के विषयों को वह अभिज्ञा द्वारा प्राप्त कर सकता है। परन्तु अपने से ऊँची भूमि में अभिज्ञा का प्रयोग नहीं चलता। साधारणतः दीर्घ-काल तक किये जाने वाले अभ्यास के फलस्वरूप अभिज्ञा उत्पन्न होती है। परन्तु बुद्ध-गण केवल वैराग्य के द्वारा ही अभिज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। उनके पूर्वजन्म के अभ्यास-जनित संस्कार सञ्चित रहते हैं, इसलिये उन्हें वर्तमान जन्म में अधिक अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। ऋद्धि दो प्रकार की है—आकाशगमन और निर्मित (या सङ्कल्प-बल से विषयनिर्माण)। 'वहनगति', 'अधिमोक्षगति' और 'मनोवेगगति', इन तीन प्रकार की गतियों का वर्णन बौद्ध-योग के ग्रन्थों में मिलता है। आकाशचारी पक्षी जैसे अपने शरीर को आकाशमार्ग में वहन करके ले जाता है, वैसे ही योगी भी ऋद्धि के बल से आकाश में आरोहण और विचरण करते हैं। यह प्रथम प्रकार की गति है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध इस गति को प्राप्त करते हैं। यह अपने देह की गति है[1]।

अभिन्न बतलाया गया है। दिव्य-श्रोत्र मानुषिक या अतिमानुषिक, सन्निहित और दूरवर्ती समस्त शब्दों को ग्रहण करनेवाला है। दिव्यचक्षु के द्वारा विशुद्ध ओर अतिमानुषिक तथा च्यवमान और उत्पद्यमान समस्त प्राणियों को देखा जा सकता है।

[यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि दिव्यचक्षु की अपेक्षा प्रज्ञाचक्षु श्रेष्ठ है। प्रज्ञाचक्षु के खुलने पर ही अर्हद्-भाव का विकास होता है और सर्वदुःखों को निवृत्ति होती है ('इतिवुत्तक' ६६१)। वास्तव में अर्हत् का ज्ञान प्रज्ञाचक्षु का ही दूसरा नाम है। आनन्द को दिव्यचक्षु प्राप्त था, परन्तु प्रज्ञाचक्षु नहीं खुला था, जो प्रथम सङ्गीति के अवसर पर हुआ। बोधिमण्डल में प्रवेश करने का नाम धर्मचक्षु-प्राप्ति है। यह दीक्षा या शक्तिप्राप्ति से अभिन्न है। इसका फल निर्वाण है।]

'परचित्तज्ञान' को बौद्ध लोग 'चेतःपर्यायज्ञान' कहते हैं। इसके द्वारा सभी के चित्त की सब प्रकार की अवस्थाएँ प्रत्यक्ष जानी जा सकती हैं। 'पूर्वजन्मस्मृति' सुखबोध्य है। ऋद्धि आदि पाँच प्रकार को अभिज्ञाओं के द्वारा जीव संसार-समुद्र से उत्तीर्ण नहीं हो सकता। इसके लिये तारक-ज्ञान आवश्यक है। यही 'आस्रव-क्षयज्ञान' नामक छठी अभिज्ञा है। जिस समय जीव कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव से छूट जाता है, उस समय 'विमुक्तोऽस्मि' इस प्रकार के ज्ञान-दर्शन का उदय होता है। इन छह अभिज्ञाओं में से पाँच अभिज्ञाएँ सभी को प्राप्त हो सकती हैं—साधना तथा वैराग्य के फलस्वरूप इनका आविर्भाव होता है। परन्तु छठी अभिज्ञा सबको नहीं होती—जो आर्य हैं, उन्हीं को होती है, पृथग्जन को नहीं होती। अनुसन्धित्सु पाठक इस प्रसङ्ग में जैनाचार्यों के 'मनः-पर्यायज्ञान', 'अवधिज्ञान' और 'केवलज्ञान' के स्वरूप की पर्यालोचना करके देख सकते हैं। स्थानाभाव के कारण इस सम्बन्ध में वर्तमान लेख में कुछ नहीं लिखा जा सका। कुल-कुण्डलिनी का तत्त्व समझे बिना इस सूक्ष्म विषय का रहस्य प्रस्फुटित नहीं हो सकता।

१. पातञ्जलदर्शन में आकाशगमन के प्रसङ्ग में इस गति का वर्णन है। इसका पृथक् साधनक्रम पातञ्जलदर्शन में और योगवाशिष्ठरामायण आदि में बतलाया गया है।

योगी की सङ्कल्प-शक्ति से दूर की चीजें उसी क्षण उसके समीप आ जाती हैं। इनका नाम 'अधिमोक्षगति' है[१]।

तीसरे प्रकार की गति[२] केवल बुद्ध के लिये ही सम्भव है, साधारण योगी के लिये नहीं। निर्मित या विषयनिर्माण भी दो प्रकार का है—'कामधातुगत' और 'रूपधातुगत'। कामधातु से जो निर्माण होता है, उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये चार अंश रहते हैं। यह अपने और पराये दोनों ही शरीरों के सम्बन्ध में सम्भव है। रूपधातु के निर्माण में केवल रूप और स्पर्श ही रहता है, और कुछ नहीं रहता। निर्माणचित्त[३] अभिज्ञा का फल है और वह चौदह प्रकार का हो सकता है। चार प्रकार के ध्यानों में प्रत्येक ध्यान में ही कामावचर निर्माणचित्त और तत्तद् ध्यानानुरूप और उसके नीचे के ध्यानानुरूप निर्माणचित्त उत्पन्न हो सकता है, अतएव प्रथम ध्यान में कामावचर और प्रथमध्यानभूमिक, द्वितीय ध्यान में कामावचर और ध्यानद्वयभूमिक, तृतीय ध्यान में

---

१. पातञ्जलदर्शन में इस गति का पृथक् रूप से वर्णन नहीं है। यह गति 'भूतजय' से ही उत्पन्न होती है, इसमे कोई सन्देह नहीं। 'प्राप्ति' से इसमें कुछ विलक्षणता है। जन्मान्तर के अभ्यासजनित संस्कार की प्रबलता से वर्तमान जन्म में बिना ही साधन के बाल्यावस्था में ही किसी-किसी में इस शक्ति का विकास देखा गया है। Dr. Von Schrenk Notzing नामक प्रसिद्ध पण्डित ने जर्मनी के म्युनिख नगर में Willy S. नामक एक अद्भुत शक्तिशाली बालक को देखा था। यह बालक किसी वस्तु को स्पर्श किये बिना ही उसे दूसरे स्थान में पहुँचा सकता था। और अपनी दृष्टि से परे की जगह में भी किसी भी वस्तु को दूर से ही शून्य में उठा सकता था। परीक्षा करने के समय वैज्ञानिकों ने बालक को किसी स्थानविशेष में बन्द करके भी परीक्षा की थी। Sir Oliver Lodge ने अपने 'Phantom Walls' नामक ग्रन्थ में (पृ० १७१) इस घटना का उल्लेख किया है। साधारणतः वैज्ञानिकगण व्याख्या करते समय कहा करते हैं कि इस प्रकार के शक्तिसम्पन्न पुरुष की देह से एक तरह की भौतिक रश्मि निकल कर चारों ओर बिखर जाती है। इस विकीर्ण तेज को Ectoplasm, Teleplasm अथवा Bioplasm कहते हैं। इसका प्रसार जितनी दूर तक रहता है, उतनी दूर तक बिना ही स्पर्श के क्रिया हो सकती है। परन्तु इस तेजोमण्डल से बाहर के पदार्थ को सञ्चालित करना या उठाना सम्भव नहीं है। कहना नहीं होगा कि वह भी अत्यन्त परिच्छिन्न 'अधिमोक्षगति' का ही निदर्शन है। साधक साधनबल से अपने चित्तसत्त्व को शुद्ध करके जब विशुद्ध और व्यापक जगत्-सत्त्व के साथ उसे युक्त कर देता है, तब वह किसी भी स्थान से जगत् के किसी भी स्थान में जाने की शक्ति (गति) उत्पन्न कर सकता है। यहाँ जिस तेजीविशेष के बिखरने की बात कही गयी है, वह तेज वस्तुतः लिङ्गशरीर से ही उत्पन्न होनेवाली एक प्रभा है।

२. पातञ्जलदर्शन में इसका नाम 'मनोजवित्व' है। यह 'प्रधानजय' का फल है और 'मधुप्रतीकसिद्धि' के अन्तर्गत है। पाशुपतदर्शन में भी 'मनोजवित्वसिद्धि' का विशेष वर्णन मिलता है। भासर्वज्ञ-कृत 'गणकारिका' और उसकी टीका इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं।

३. पातञ्जलदर्शन में 'निर्माणचित्त' की उत्पत्ति 'अस्मिता' के द्वारा बतलायी गयी है।

कामावचर और ध्यानत्रयभूमिक और चतुर्थ ध्यान में कामावचर और ध्यानचतुष्टय-भूमिक, इस तरह चौदह (२ + ३ + ४ + ५) प्रकार का चित्त सम्भव है। हीनध्यानज चित्त के द्वारा ऊर्ध्वध्यानज चित्त की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ध्यानप्राप्त साधक ध्यान के प्राप्तिकाल में ध्यान के फलस्वरूप निर्माणचित्त को प्राप्त होता है। वैराग्य से भी निर्माणचित्त का आविर्भाव हो सकता है। निर्माणचित्तरूप यह ऋद्धि केवलमात्र भावना या ध्यान से ही उत्पन्न होती हो, सो बात नहीं है। जो भावना या ध्यान से उत्पन्न है, उसमें 'कुशल' या 'अकुशल' कर्माशय नहीं रहता, इसलिये वह अव्याकृत है। देवता और नाग आदि की ऋद्धि, जन्म से ही प्राप्त होने के कारण, सहज या उपपत्तिज कहलाती है। यह कुशल, अकुशल अथवा उभय-भावहीन अव्याकृत—इन तीनों ही प्रकारों की हो सकती है[1]। मन्त्र, ऋषि और कर्म से भी सिद्धि का आविर्भाव हुआ करता है[2]। 'महापरिनिर्वाणसूत्र' आदि ग्रन्थों में ऋद्धि के अनेकों भेदों का उल्लेख मिलता है। एक से अनेक होना, अनेक से एक होना, आविर्भूत होना, तिरोहित या अदृश्य होना, प्राचीर-पर्वतादि कठिन वस्तुओं के अन्दर से स्थूल शरीर-समेत उस वस्तु को स्पर्श किये बिना ही निकल जाने का या चलने का सामर्थ्य, जल की तरह पृथ्वी में उन्मज्जन-निमज्जन करना, आकाश में पक्षी की तरह सञ्चार, हाथों के द्वारा चन्द्र और सूर्य को स्पर्श करने की शक्ति, ब्रह्मलोक तक के समस्त लोकों का वशीकार—यह सभी ऋद्धि के ही अन्तर्गत है।

ऋद्धि की शक्ति का परिमाण बतलाना कठिन है। बौद्धों के महासंघिकों और स्थविरवादियों में इस विषय में कुछ मतभेद है। महासंघिकगण कहते हैं कि ऋद्धि के प्रताप से कल्पान्त[3] तक जीवित रहा जा सकता है। परन्तु स्थविरादि इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका मत यह है कि आयु पूर्व कर्म के फलस्वरूप होती है, वह ऋद्धि का फल नहीं है। ऋद्धि-द्वारा केवल अकालमृत्यु रोकी जा सकती है। कालमृत्यु ऋद्धिद्वारा भी नहीं रुक सकती। परन्तु चित्त की भूमि के अनुसार काल का मान होता है। चित्त यदि योगबल से अपेक्षाकृत शुद्ध भूमि में स्थापित या क्रियाशील कर दिया जाय तो, एक हिसाब से आयुवृद्धि न होने पर भी दूसरे हिसाब से असम्भव प्रकार से आयु का परिमाण बढ़ जाता है। 'नेत्तिपकरण' में बुढ़ापा रुकने और मृत्युकाल तक जवानी बनी रहने की सम्भावना बतलायी गयी है। किन्तु स्थविरवादियों का कहना है कि जन्मान्तर, जरा, रोग और मृत्यु का ऋद्धि के द्वारा निवारण नहीं किया जा

१. 'तत्र ध्यानजमनाशयम्' सूत्र में महर्षि पतञ्जलि भी इस बात को स्वीकार करते हैं।

२. इस सन्दर्भ में पातञ्जलदर्शन, त्रिपुरारहस्य (ज्ञानखण्ड) तथा अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

३. टीकाकार के मत से कल्प = महाकल्प है। महासङ्घिकों का प्रमाण बुद्धवाक्य है। बुद्धदेव ने कहा है कि ऋद्धि की प्राप्ति के चार सोपान हैं, उन चारों की प्रतिष्ठा होने पर योगी इच्छानुसार एक ही देह से कल्पान्त-काल या अवशिष्ट कल्प तक जीवित रह सकता है। बुद्ध के वचनों में 'कल्प' शब्द आया है। स्थविरगण इसकी 'आयुःकल्प' और महासङ्घिक-गण 'महाकल्प' व्याख्या करते हैं।

सकता। पञ्चस्कन्धों में से कोई-सा भी स्कन्ध ऋद्धि के द्वारा स्थिर नहीं हो सकता। जरा, मृत्यु आदि चारों अपरिहार्य हैं यह बुद्ध ने कहा है[१]। ब्रह्मा, मार, श्रमण, ब्राह्मण—सभी के लिये यह समरूप से सत्य है। यहाँ भी वस्तुतः कोई मतभेद नहीं है। कारण, देह का उपादान शोधित होने पर जरा आदि उसमें विशेषरूप से अनुभूत नहीं होते। उपादान के अत्यन्त विशुद्ध होने पर, अर्थात् विशुद्ध सत्त्वरूप उपादान की प्राप्ति होने पर मलिन सत्त्व के सहभावी धर्म जरा आदि नहीं रह सकते; क्योंकि जरा शुद्ध सत्त्व का धर्म नहीं है। इसीलिये शुद्धसत्त्व देवतागण निर्जर और अमर कहे जाते हैं। परन्तु जगत् में यह शुद्धि आपेक्षिक होने के कारण जरा और मृत्यु से रहित अवस्था को भी आपेक्षिक ही समझना चाहिये[२]।

'विनयपिटक' में लिखा है कि 'पिलिन्दवच्छ' की इच्छाशक्ति के प्रभाव से राजा का महल सोने का हो गया था[३]। इस बात को देख कर अन्धकगण विश्वास करते थे कि इच्छामात्र से ही सर्वदा और सर्वत्र ऋद्धि का विकास किया जा सकता है। स्थविरवादी कहते हैं कि ऋद्धि की शक्ति अचिन्त्य होने पर भी उसके द्वारा सब कुछ हो सकने की बात सत्य नहीं है। ऐसी कई बातें हैं जो असाधारण ऋद्धि के प्रभाव से भी नहीं हो सकतीं। संसार की क्षणिकता, जीवन की दुःखमयता, अनात्मभाव और अन्यान्य स्वाभाविक नियमों का उलङ्घन ऋद्धि के द्वारा नहीं किया जा सकता। ऋद्धि के प्रभाव से 'जात्यन्तरपरिणाम' सिद्ध हो सकता है अथवा स्व-सन्तान में स्व-भाव रक्षित हो सकता है। भिक्षुओं को भोजन कराते समय जल को दूध और मक्खन के रूप में परिणत कर दिया गया था, यह 'जात्यन्तरपरिणाम'-मात्र है। 'पिलिन्दवच्छ' ने भी जो पत्थर के महल को सोने का बना दिया था, वह भी

१. द्रष्टव्य, अङ्गुत्तरनिकाय (रिचर्ड मोरिस द्वारा सम्पादित रोमन लिपि में प्रकाशित संस्करण), भाग २, पृष्ठ, १७२।

२. 'अपाम सोममनृता अभूम'—इस सोमपानजनित अमरत्व से यहाँ 'कल्पान्तस्थायित्व' समझना चाहिये। 'रसेश्वर-दर्शन' में अठारह संस्कारों से संस्कृत पारद के प्रभाव से 'अभ्रक' का संयोग होने पर जिस 'हरगौरीतनु' या सिद्ध-देह के विकास की बात कही गयी है, वह देह भी जरा और मृत्यु के अधीन नहीं मानी गयी है। वह देह देवदेह की अपेक्षा भी निर्मल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हठयोगिगण—खास करके गोरख, जलन्धर आदि के शिष्यगण—'कायसाधन' की प्रक्रिया के द्वारा इस प्रकार की शुद्ध-देह की प्राप्ति के लिये चेष्टा किया करते हैं। महायान-सम्प्रदाय के 'मान्त्रिक', वज्रयानी' और सहजिया' लोग भी स्कन्धसिद्धि के प्रति बड़ी ही श्रद्धा रखते थे। वैष्णवों का 'भावदेह' भी जराहीन और अमर है परन्तु यह अप्राकृत देह है—विशुद्ध सत्त्व का विलासमात्र है।

३. द्रष्टव्य, महावग्ग (ओल्डेनबर्ग द्वारा सम्पादित रोमन लिपि में प्रकाशित संस्करण), पृष्ठ, २०९।

'भामती' (ब्र० सू० २।१।३३ तथा ४।४।१२) में वाचस्पति मिश्र ने राजा नृग के असाधारण योगैश्वर्य की बात का दृष्टान्त-रूप से और प्रसङ्गतः एकाधिक बार उल्लेख किया है।

जात्यन्तरपरिणाममात्र ही है। इससे ऋद्धि का सर्वशक्तिमान् होना सिद्ध नहीं होता[1]।

पातञ्जलदर्शन के विभूतिपाद में बहुत-सी खण्डसिद्धियों का स्वरूप और उनका उत्पत्तिक्रम बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत, योगवाशिष्ठरामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र,[2] नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थ, बौद्ध और जैन साहित्य, ज्ञानेश्वर, कबीरदास आदि की रचनाएँ—इन सभी में सिद्धि की आलोचना न्यूनाधिक-रूप में देखी जाती है। है। बहुत-से उपनिषदों में भी योग और योग-सिद्धि का वर्णन मिलता है। तत्त्वान्वेषी साधक के लिये प्रत्येक सिद्धि का स्वरूप, प्रकार-भेद, अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ, सिद्धि-प्रदर्शन के निदर्शन आदि बातें प्राच्य और पाश्चात्त्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भलीभाँति देखनी ओर विचारनी चाहिये। वस्तुतः ये सब खण्ड सिद्धियाँ अखण्डविभूति के अनुदय तक साधारण होने पर भी अलौकिक कार्यकारण-भाव के अनुसरण-द्वारा भी प्राप्त हो सकती हैं। स्वातन्त्र्यबल अथवा इच्छाशक्ति का स्थान अवश्य ही सर्वोच्च है। जो यथार्थ भक्ति-सम्पन्न पुरुष है, वह अकिञ्चन और दीन होने के कारण अपने को सर्वदा ही भगवदाश्रित उपलब्ध करता है। इस प्रकार के भक्त की इच्छा सर्वातिशायिनी होती है। वस्तुतः ऐसे भक्त की शक्ति अपरिमेय है। (क्योंकि उसमें भगवान् की अपरिमेय शक्ति ही कार्य करती है)। 'Faith can work miracles' यह यथार्थ ही सत्य है। अग्नि के सम्बन्ध से लोहे में भी दाहिका शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर के साथ योग प्रतिष्ठित होने पर जीव भी अपने आधार की धारणाशक्ति अनुसार सर्वैश्वर्य लाभ कर ले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वस्तुतः जीव की साधना न तो ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिये है, और न ऐश्वर्यादि के त्याग के लिये। जीव की साधना का लक्ष्य तो है 'आत्मस्वरूप की उपलब्धि'। इस मार्ग में पहले ऐश्वर्य का उदय होता है, और फिर उसका उपसंहार होता है। पहले भोग, फिर संन्यास—अन्त भोग और त्याग का अद्वैतभाव है। वहाँ फिर भोग भी नहीं रहता और त्याग भी नहीं रहता; जो रहता है, वह अनिर्वचनीय, अनाविल, अक्षुब्ध, अक्षोभ्य, आत्मस्वरूप है। पूर्णिमा के पश्चात् जैसे अमावस्या अपने आप ही आती है, वैसे ही ऐश्वर्य के पूर्ण विकास के पश्चात् क्रमशः ऐश्वर्य का पूर्णरूप से विसर्जन अपने-आप हो हो जाता है। यही आत्मसमर्पण योग है। यह प्रकृति का स्वाभाविक व्यापार है।



१. पातञ्जलसम्प्रदाय में भी सर्वसामर्थ्य के सम्बन्ध में दो मत हैं। पदार्थविपर्यास सम्भव है या नहीं, इस विषय में किसो-किसी आचार्य का कहना है कि उसके सम्भव होने पर भी योगी उसे करते नहीं। कारण, वे अनादिसिद्ध परमेश्वर के संकल्प के विरुद्धाचरण नहीं करते। कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि पदार्थ-विपर्यास हो ही नहीं सकता। विभूति के बल से जो कुछ होता हो वह 'जात्यन्तरपरिणाम'-मात्र अथवा 'धर्मविकल्पसङ्घटन' है।

२. द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकार के तन्त्रों में सिद्धियों का प्रसङ्ग मिलता है। काश्मीर-सम्प्रदाय और दक्षिण के सिद्धान्त-सम्प्रदाय के मूल और प्रकरण-ग्रन्थ देखने चाहिये। शाक्ततन्त्र, विशेषतः कौल-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर विभूति का वर्णन है।

योग और परकाय-प्रवेश

योगशास्त्र की आलोचना करने पर यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि योगी के आत्मविकास के लिये परकाय-प्रवेश का एक विशेष स्थान है; परन्तु यह भी अवश्य ही सत्य है कि स्वयं योगमार्ग में प्रविष्ट न होकर केवल शास्त्र की आलोचना के द्वारा इस रहस्य को समझना सम्भव नहीं है। भगवान् शङ्कराचार्य ने किसी विशिष्ट प्रयोजन को साधने के लिये परकाय-प्रवेश किया था, यह उनके जीवन-चरित के पढ़ने से जाना जाता है। बहुत-से लोगों की यह धारणा है कि परकाय-प्रवेश एक साधारण विभूतिमात्र है तथा अन्यान्य विभूतियों के समान अध्यात्म-मार्ग में अग्रसर होनेवाले योगी के लिये वह उपेक्षणीय है। यह धारणा निराधार है, यह बात परकाय-प्रवेश के तत्त्व की आलोचना करने पर शीघ्र ही समझ में आ जायेगी।

प्रचलित योगमार्ग के जो आठ अङ्ग हैं, उनमें पाँच बहिरङ्ग तथा तीन अन्तरङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्तरङ्ग योग के प्रारम्भ में ही धारणा का स्थान निर्दिष्ट है। चित्त को देह के किसी अंश में बद्ध कर रखने का अभ्यास धारणा की सिद्धि के लिये एकान्त आवश्यक है। चित्त स्वभावतः ही चञ्चल है. यह कहीं आबद्ध होकर रहना नहीं चाहता; परन्तु अभ्यास के द्वारा दीर्घकाल के पश्चात् इसे इस प्रकार आबद्ध करना सम्भव हो जाता है। चित्त को आबद्ध न कर सकने पर ध्यान और समाधि की आशा दुराशामात्र है। यह जो धारणा की बात कही गयी है, वह अपने देह को आश्रय बना कर ही की जाती है; किन्तु योगी के लिये विदेह धारणा की भी आवश्यकता है। विदेह धारणा का तात्पर्य है कि चित्त को देह में प्रतिष्ठित रखते हुए भी उसकी वृत्ति को देह के बाहर किसी अभीष्ट स्थान में भेजा जा सके। चित्त के स्वरूप तथा इसकी वृत्ति में जो भेद है, उसे इस प्रसङ्ग में स्मरण रखना उचित है। चक्षु से जिस प्रकार समस्त चाक्षुष रश्मियाँ निकलती हैं तथा वे बाह्य दृश्य पदार्थ के साथ युक्त होकर उसके आकार में परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार चित्त से भी रश्मियाँ निकल कर बाह्य पदार्थों में कार्य करती हैं। इस प्रकार दूरवर्ती वस्तु में धारणा का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर उस पदार्थ का ध्यान, उसमें चित्त की समाधि और उसके फलस्वरूप उस पदार्थ का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। विदेह धारणा के बिना बाह्य पदार्थ का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्र में अनेकों स्थानों में 'योगज प्रत्यक्ष' नाम से जिस अलौकिक प्रत्यक्ष का उल्लेख पाया जाता है, उपर्युक्त साक्षात्कार उसी का एक प्रकारभेद-मात्र है।

चित्त की अनन्त राशियाँ हैं, परन्तु किसी एक विशिष्ट पदार्थ का साक्षात्कार करने के लिये उसमें केवल एक रश्मि का सञ्चार आवश्यक होता है, अनेक रश्मियों का नहीं। किन्तु योग-शक्ति के क्रमिक विकास के फलस्वरूप जब एक रश्मि के समान

अन्यान्य समस्त रश्मियों का सञ्चार हो जाता है, तब बाह्य जगत् के समस्त पदार्थों के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सत्य है कि पदार्थ अनन्त हैं और चित्त की रश्मियां भी अनन्त हैं; परन्तु किसी विशिष्ट पदार्थ का स्मरण करके उसमें रश्मि-प्रयोग करने से कभी अनन्त पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण खण्ड-खण्ड-रूप से होनेवाले पृथक् पदार्थ के ज्ञान से जगत् के समस्त पदार्थों का तथा वर्तमान के समान ही अतीत और अनागत समस्त विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं होता। सामान्य और विशेष भाव में परस्पर सम्बन्ध है। अतएव विशेष पदार्थ में संयम करके जिस प्रकार उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषों के व्यापक महासामान्य का अवलम्बन करके उसके संयम के द्वारा सर्वज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है।

विदेह धारणा का अभ्यास करके खण्ड-रूप से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होने पर भी इस ज्ञान में ज्ञेय विषय का ज्ञेय-रूप में ही प्रतिभास होता है, ज्ञाता-रूप में नहीं; अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इस ज्ञान का विषय नहीं बनता, क्योंकि एक अखण्ड चैतन्य के साथ व्यक्तित्व-नियामक अवच्छेदक-स्वरूप मन का सम्बन्ध रहने के कारण उपर्युक्त व्यक्ति का वैशिष्ट्य निरूपित होता है। खण्ड-रूप में आत्मा अनन्त हैं तथा मन भी अनन्त हैं। केवल यही बात नहीं, प्रत्येक आत्मा के साथ उसके स्वकीय मन का सम्बन्ध भी पहले से निर्दिष्ट रहता है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र तथा सर्वत्र समभावापन्न होने पर भी जैसे आत्मा-आत्मा में भेद होता है, ठीक वैसे ही मन का स्वरूप और प्रकृति भी सामान्यतः एक प्रकार की होने पर भी विभिन्न मनों में पारस्परिक भेद सृष्टि-काल से ही चला आता है। केवल इतना ही नहीं, आत्मा के साथ मन का विशिष्ट सम्बन्ध भी पहले से ही निश्चित रहता है। इन समस्त कारणों से व्यक्तित्व स्वीकार किये बिना काम चल नहीं सकता। इसी कारण विदेह धारणा से जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे व्यक्तित्वमूलक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव व्यक्तित्व-सम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यही है कि उसका एक अपना मन है। जब तक उस मन के साथ योगी योगबल के द्वारा अपने मन का तादात्म्य सम्पादन नहीं कर लेता, तब तक उस व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख और विशेष अनुभूतियों को वह ठीक उस रूप में ग्रहण नहीं कर सकता, जिस रूप में ग्रहण करने पर वे उस व्यक्ति के ही जीवन की अनुभूति के ही अंश-रूप में अङ्गीकृत किये जा सकें। किसी व्यक्ति के साथ सब प्रकार से अभिन्न होने पर जब तक अभेद बना है, तब तक उसकी सुख-दुःखादि समस्त अनुभूतियाँ और संस्कार योगी के अपने हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं।

विदेह धारणा से इस प्रकार अभेद-भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस धारणा के लिये योगी को अपने मन के द्वारा प्रत्यक्षतः कोई कार्य करना नहीं पड़ता। मन की रश्मि के द्वारा ही अभीष्ट कार्य सम्पादित हो जाता है; अर्थात् योगी का मन जिस प्रकार पहले देहावच्छिन्न था, वैसा ही रहता है, परन्तु दूरवर्ती वस्तु का आश्रय लेकर सेवल उसके वृत्ति-रूप में परिणत होता है। साधारण निकटवर्ती वस्तु के

प्रत्यक्ष के समय जिस प्रकार अन्तःकरण का परिणाम होता है, यह भी ठीक वैसे ही होता है। केवल एक अंश में पृथक्ता होती है। लौकिक प्रत्यक्ष के समय तो इन्द्रियों के साथ विषय का लौकिक सन्निकर्ष रहता है; किन्तु यहाँ विषय दूरवर्ती होता है और लौकिक इन्द्रियों के लिये गोचर नहीं होता, अतएव इन्द्रियों के साथ विषय का सन्निकर्ष लौकिक न होकर अलौकिक हो जाता है। इसका भी एक कारण है—लौकिक ज्ञान की अवस्था में चित्त विक्षिप्त रहता है, परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष की अवस्था में वह अपेक्षाकृत एकाग्र हो जाता है; अर्थात् चित्त में एकाग्रता के उदय के साथ-साथ एक विश्वरूपी आलोक के आविर्भाव की अनुभूति होती है। यह बाहर का आलोक नहीं होता, बल्कि चित्त का स्वभावगत अन्तर्हित आलोक प्रज्ञालोक होता है। विक्षिप्त अवस्था में चित्त बहिर्मुख रहता है, अतएव इस आलोक का पता उसे नहीं लगता, परन्तु आंशिक-रूप में अन्तर्मुखी भाव का उदय होने पर यह आलोक स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। वस्तुतः इस आलोक के ऊपर समस्त तथाकथित बाह्य जगत् प्रतिष्ठित है। इस आलोक का उदय हो जाने पर इच्छा होते ही पूर्व निर्दिष्ट वस्तु इस आलोक में प्रकाशित हो उठती है। तब पूर्वोक्त प्रणाली से चित्त के रश्मिविशेष को अवधान-रूप में उस वस्तु के साथ योजित करना पड़ता है। वस्तुतः साधारणतया यह करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है, क्योंकि इच्छा पहले से ही रहती है, अतएव आलोक के आविर्भाव के साथ-साथ आलोक में प्रतिभासित वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार विश्व की किसी भी वस्तु का योगज सन्निकर्ष के द्वारा साक्षात्कार करना सम्भव हो जाता है। यहाँ दृश्य वस्तु के चेतनत्व या अचेतनत्व की कोई बात नहीं रहती, क्योंकि वास्तव में तो द्रष्टा की दृष्टि के सामने भासमान होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुएँ ही अचेतन हैं।

इस विवरण से समझ में आ सकता है कि किसी मनुष्य का कोई दूरवर्ती योगी यदि विदेह धारणा के द्वारा साक्षात्कार करता है तो यह समझ लेना चाहिये कि वह साक्षात्कार अन्यान्य अचेतन पदार्थों के साक्षात्कार के अनुरूप ही होगा। यही क्यों, उस मनुष्य के सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर भाव-समूह भी परम्परागत-रूप में उस योगी के साक्षात्कार में आ सकते हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी वह मनुष्य विशेष स्वतन्त्र व्यक्तिरूप में, अर्थात् स्वयं भोक्ता बन कर भोग्यस्वरूप इन समस्त आभ्यन्तर भावों को जिस प्रकार प्राप्त होता है, द्रष्टा योगी के लिये यह सम्भव नहीं होता। योगी तो इन समस्त सुख-दुःख आदि भावों को ठीक उसी प्रकार अनुभव-मात्र करेगा, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्य का अनुभव करता है। भोक्ता जिस प्रकार भोग्य-रूप में उन्हें ग्रहण करता है, उस प्रकार योगी नहीं कर सकेगा; क्योकि वह द्रष्टा होने के कारण निर्लिप्त, उदासीन तथा स्वच्छ होता है। दर्पण जिस प्रकार स्वच्छ होने पर भी अपने समीपवर्ती नाना प्रकार के वर्णों को ग्रहण करता हैं, योगी भी बहुत कुछ वैसे ही करता है, उससे अधिक नहीं।

यह एक ओर तो योगी की निर्विकारता का परिचायक है, परन्तु दूसरी ओर यह उसकी शक्ति की न्यूनता का निदर्शन है। यदि योगी इस प्रकार उदासीन न रह कर

भोक्ता के साथ सचमुच ही भोक्ता बन सकता, अर्थात् पापी के साथ पापी, पुण्यात्मा के साथ पुण्यात्मा, सुखी के साथ सुखी एवं दुःखी के साथ दुःखी बन सकता तथा ऐसा होते हुए भी वह सर्वातीत रह सकता तो उसका महत्त्व अधिक होता। इसको सम्भव बनाने के लिये योगी को अपने मन का विश्लेषण करने की सामर्थ्य प्राप्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मन को शरीर से बाहर किये बिना केवल देह में स्थित मन की वृत्ति के द्वारा यह विशाल कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मन देह त्याग कर कभी बाहर नहीं जा सकता। अवश्य ही यह साधारण मनुष्य की बात है। साधारण मनुष्य केवल मृत्यु के समय ही देह से बाहर निकल सकता है, अर्थात् मृत्यु-काल में ही उसके मन का बाहर निकलना सम्भव है; परन्तु विशेष योगाभ्यास के फल से जीवित-काल में ही ऐसा नहीं हो सकता, सो बात नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिये मन और देह के पारस्परिक सम्बन्ध को शिथिल करना होगा। मन कर्म के प्रभाव से अहङ्कार के अधीन होकर देह में आबद्ध हो रहा है। अभिनव कर्म के द्वारा तथा गुरुदत्त कौशल के प्रभाव से जब यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है, तब जिसे ग्रन्थि-मोचन कहते हैं वही योगक्रिया निष्पन्न होती है यद्यपि उस समय भी मन देह को आश्रय करके ही रहता है, तथापि वह इच्छा करने पर देह को त्याग भी सकता है। इसके बाद एक विषय में और भी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मन जिस समय देह में सञ्चरण करता है; उस समय जिन मार्गों का अवलम्बन करके उसे चलना पड़ता है, उसका नाम है 'मनोवहा नाड़ी'। देह के भीतर असंख्य मनोवहा नाड़ियाँ इधर-उधर प्रवाहित हो रही हैं; परन्तु ये बहुधा नाना प्रकार के क्लेद और मल के द्वारा आबद्ध रहती हैं। जब क्रिया के प्रभाव से नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मन के लिये सञ्चरण करना सहज-साध्य हो जाता है। देह के भीतर जो नाड़ियाँ हैं, वे केवल देह में ही हैं, ऐसी बात नहीं है। वे तो शरीर के बाहर विश्व में भी फैली हुई हैं। इस नाड़ी-जाल के द्वारा प्रत्येक मनुष्य के साथ प्रत्येक मनुष्य—यही क्यों, प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु संश्लिष्ट है। इन सबका ज्ञान न होने के कारण मन के लिये इच्छानुसार सञ्चरण करना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा एक वस्तु और आवश्यक है। जिस देह में प्रविष्ट होकर भोक्ता-रूप में उसके सुख-दुःख तथा अन्याय भावों का अनुभव करना है, उसके साथ योगी के शरीर का योग जिस नाड़ी के द्वारा प्रतिष्ठित है उसे पृथक्-रूप से दृष्टि के सामने रखना आवश्यक है; क्योंकि इस मार्ग का अवलम्बन करके ही उसे देह से निकलना होगा। यह जानना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि विदेह धारणा का अभ्यास होने पर इष्टव्यक्ति को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उस समय उसके साथ जिस सूत्र का योग होता है, उसे पकड़ लेना कठिन नहीं होता।

इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेने पर योगी महाविदेहा नाम की धारणा के अभ्यास का अधिकारी होता है। इस महाविदेहा धारणा के द्वारा ही परकाय-प्रवेश सम्भव होता है। विदेह धारणा तथा महाविदेहा धारणा मूलतः अभिन्न हैं, तथापि पहली कृत्रिम है और दूसरी अकृत्रिम—यही पार्थक्य है। विदेह धारणा के अभ्यास से ही क्रमशः महाविदेहा धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। जब तक मन

और देह का सम्बन्ध शिथिल नहीं होता, तब तक देह से मन को बाहर निकालना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः जीवित अवस्था में मन को पूर्णतया बहिर्गत होना कभी सम्भव नहीं होता। मन कुछ अंश में देह को अवलम्बन करके स्थित रहता है तथा आंशिक-रूप में एक, दो अथवा अनेक होकर बहिर्गत होता है। एक को अनेक भागों में विभक्त किये बिना महाविदेहा धारणा का सूत्रपात होना कठिन है। मन अर्थात् मूल मन योगी की इच्छा के अनुसार देह में रहता है तथा विभक्त किया हुआ मन उससे निकल कर जिस काया में प्रविष्ट होना होता है, उसके साथ युक्त हो जाता है। दोनों के साथ, अर्थात् देहस्थ मूल मन के साथ पृथक् किये गये अंश-रूप मन का एक सम्बन्ध रहता है; अर्थात् दोनों एक सूत्राकार तेजोमय पदार्थ के द्वारा जुड़े रहते हैं। यह सूत्र संकोच-विकासशील होता है, विकास के समय प्रयोजन होने पर इसे इच्छानुसार दूर सञ्चालित किया जा सकता है और संकोच के समय यह मूल मन में आकर लीन हो जाता है। अभीष्ट काया में मन को प्रवेश कराने के लिये किसी एक प्रवेश-द्वार का अवलम्बन करके ही काम बनाना पड़ता है। जिस काया में मन को प्रवेश करना है, उससे सम्बन्धित मन को उद्भूत नहीं किया जायेगा, अथवा अपने साथ युक्त नहीं किया जायेगा तो प्रवेश करनेवाला मन प्रयोजन के अनुरूप कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। प्रबल इच्छा-शक्ति-सम्पन्न मन को अभिभूत करने के लिये उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रबल शक्ति यदि स्वायत्त न हुई तो सब प्रकार की कायाओं में प्रवेश होना सम्भव नहीं होगा। दुर्बल मन सबल मन में युक्त होने जायेगा तो स्वयं ही उसमें लीन हो जाने की आशङ्का रहेगी। अतएव कायान्तर-प्रवेश के पूर्व अपनी सामर्थ्य और योजना-शक्ति किस परिणाम में विकास को प्राप्त हुई है, इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समझ में आ जाय कि निर्दिष्ट काया से सम्बद्ध मन अभिभूत होने योग्य नहीं है तो ऐसी स्थिति में योगी के लिये इस प्रकार की काया में प्रवेश करने की चेष्टा करना उचित नहीं है।

अब तक जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझ में आ सकता है कि केवल मन को पृथक् कर लेने से तथा देह से बाहर निकाल लेने से ही अन्य शरीर में प्रविष्ट होने का कार्य नहीं किया जा सकता; इसके लिये मन का बलशाली होना आवश्यक है। मन किसी काया में आविष्ट होता है तो उसके साथ उसकी इन्द्रियाँ भी आविष्ट हो जाती हैं। मन के बाहर निकलने पर इन्द्रियों को पृथक्-रूप से बाहर निकालने में कोई कष्ट नहीं होता। योगियों का कहना है कि जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने नायक अथवा नायिका का बिना कोई विचार किये अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मन का अनुसरण करती हैं। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ एक प्रकार से मन का ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र हैं। जिस काया में मन आविष्ट होता है, उस काया का मन अभिभूत होने के साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उसी तरह अभिभूत हो जाती हैं। योगी के मन और इन्द्रियाँ उस काया में प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं तथा चारों ओर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

इस आवेश की स्थिति में अभिभूत मन तथा अभिभावक मन की अवस्था में एक नियत सम्बन्ध विद्यमान रहता है। मन जिस परिणाम में अभिभूत होता है, उसी परिमाण में अभिभावक मन चैतन्य-रूप से कार्य करने में समर्थ होता है। यदि मन पूर्णतः अभिभूत हो जाय, तो आवेश-त्याग के पश्चात् उसमें लौकिक-रूप से किसी प्रकार की स्मृति नहीं होती। परन्तु संस्कारों का सञ्चय तथा अलौकिक स्मृति अभिभव के उपरान्त भी रह सकती है। दूसरी ओर अभिभावक मन आविष्ट देह के पूर्व संस्कारों से उत्पन्न भोगों को तथा भाव आदि को ठीक अपने ही समान, अर्थात् अभिन्न-भाव से प्राप्त करता है। आवेश के बाद अभिभावक मन लौट जाने समय आंशिक-रूप से इन सारे भोग और भावों की स्मृति को साथ ले जाता है। इस प्रकार से योगी दूसरे के सुख-दुःख को साक्षात् रूप से भोग कर उसे क्षीण कर सकता है। इसका कारण यही है कि योगी उस समय आंशिक-रूप होने पर भी आविष्ट काया के साथ अभिन्न होकर एक प्रकार से उस काया के भोक्ता-रूप में परिणत हो जाता है। यदि मूल मन के साथ योग बनाये रखना सम्भव न होता, यदि पूर्ण-रूप से पूर्व देह छोड़ कर अभीष्ट देह में प्रवेश हो जाता, तो इस प्रकार का व्यापार सम्भव नहीं था; क्योंकि वैसी स्थिति में अपनी देह के त्याग के साथ ही योगी को परकाया का अभिमान उदित हो जाता और तब उस देह के लौकिक अभिमानी के रूप में ही रहना पड़ता। यह उसके लिये आत्मलोप के अतिरिक्त और कुछ न होता। और यदि योगी दुर्बल होकर इस प्रकार किसी प्रबल आधार में प्रविष्ट होने की चेष्टा करता तो इससे उसका चित्त लय हो जाता और वह जडत्व, अर्थात् अचेतन स्थिति को प्राप्त हो जाता। ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके लिए आत्मलोप के सिवा और कुछ न होतीं। परन्तु अपने देह से सम्बद्ध मूल मन के अवस्थित रहने पर मन आंशिक-रूप में ही बाहर निकलता है तथा परकाया में आविष्ट होने के समय योगी उसके साथ अभिन्न होकर उसकी सुख-दुःख आदि की अनुभूति साक्षात् भाव से ग्रहण करने में समर्थ होता है; तथापि उसका मन चेतन द्रष्टा के रूप में स्थिरतापूर्वक स्थित रहता है। यह चैतन्य की अवस्था है, जड़ की नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि देह के साथ मन के संयोग की रक्षा न हो तो द्रष्टा के रूप में चैतन्य अवस्था में रहना सम्भव नहीं होता और लय अवश्यम्भावी होता है।

जब योगी के मन और इन्द्रिय पूर्व-देह में यथास्थान लौट आते हैं, उस समय आविष्ट देह में अनुभूत सुख-दुख और भाव आदि उसे स्मरण होते हैं। वस्तुतः यह स्मरणात्मक होने पर भी अत्यन्त स्पष्टता के कारण प्रत्यक्षवत् ही जान पड़ते हैं। इस प्रणाली से काया के साथ काया का संयोग स्थापित होने पर योगी के लिये आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं, अर्थात् इच्छा करने पर योगी आविष्ट काया से संलिष्ट भोग और भाव आदि को इच्छानुसार खींच ले सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप आविष्ट देह और तदभिमानी जीव के कर्मफल का भार अपेक्षाकृत हलका हो जाता है। इस प्रकार अपनी काया से अपनी ही तपस्या से उत्पन्न शुद्ध तेज को उस काया में प्रेरित किया जा सकता है। इसके द्वारा उस शरीर तथा उसके अभिमानी

जीव का उत्कर्ष और कल्याण-साधन किया जा सकता है।

परन्तु परकाय-प्रवेश न कर सकने पर केवल विदेह धारणा से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा इस प्रकार महाकरुणा का खेल नहीं खेला जा सकता; क्योंकि इस अवस्था में योगी द्रष्टा ही रहता है, भोक्ता होकर भोग ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरे के प्राप्य भोग में भाग न ले सकने के कारण वह अपने भोग-द्वारा किसी का भोग काटने या न्यून करने में समर्थ नहीं होता। द्रष्टा जिस प्रकार दृश्य से परे रहता है, उसी प्रकार योगी परकीय सुख-दुःख के द्वारा अस्पृष्ट ही रह जाता है। यह महाकरुणा के विकास के लिये उपयोगी अवस्था नहीं है।

गुरु की गुरुता का कार्य केवल दूर और समीप के समस्त पदार्थों के अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति से ही नहीं हो जाता। दीक्षा-दान के समय गुरु को अपने विशुद्ध ज्ञान-शरीर का अंश प्रदान करके शिष्य के ज्ञान-शरीर के निर्माण का मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है। बीज खेत में पड़ने पर जिस प्रकार अङ्कुरित होकर वृक्ष-रूप में परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरु के द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीज-रूप में शिष्य-क्षेत्र में पड़ कर विकसित हुआ करती है। उपर्युक्त प्रणाली से पृथक् किया हुआ मन ही गुरु की दी हुई ज्योतिर्मय काया का स्वरूप है। अतएव अपने मन के अंश-द्वारा जो दूसरों की काया में प्रविष्ट नहीं हो सकते, वे गुरु के गुरुतापूर्ण कर्म को किस प्रकार सम्पन्न कर सकेंगे। केवल यही नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान में किसी शक्ति के सञ्चरित होने पर उस दूसरे स्थान से भी उस स्थान को एक शक्ति प्रथम स्थान में सञ्चरित हो जाती है। उपर्युक्त प्रणाली से योगी का मन किसी काया में समाविष्ट होकर जब अपने स्थान में लौटता है, तब उस मन से भी कुछ अंश को अलग करके अपने साथ ले आता है। इस प्रकार योगी अपने-अपने अभीष्ट मनों को अपने भीतर लाकर धारण करने में समर्थ होता है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्य का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। साधारण भाव से परकाय-प्रवेश न करके यदि गुरु के किसी निजी कार्य-साधन के लिये वैसा किया जाय तो इससे गुरु के मन का अंश दीर्घ-काल तक, अर्थात् शिष्य के देह-त्याग तक उस शिष्य-देह में ही निबद्ध रह जाता है। ऐसी स्थिति में शिष्य के मन को अभिभूत कर रखने की आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रकारान्तर से वह गुरु के मन के अधीन ही रहता है। इच्छा करने पर गुरु इस अंश को किसी समय भी लौटा ले सकते हैं। परन्तु इसमें शिष्य को वञ्चित करना पड़ता है, अतएव कृपामय गुरु ऐसा क्यों करेंगे। शिष्य की मृत्यु के साथ ही गुरु का मन शिष्य के मन को आकर्षण कर अपनी काया में लौट आता है। शिष्य का मन गुरु के मन के साथ मिल कर अपने कर्म के प्रभाव से जितनी उन्नति करता है, गुरु-स्थान में आकर गुरु की काया में उसे तदनुरूप ही स्थान प्राप्त होता है। इस स्थान में आने पर, अर्थात् गुरु-काया में स्थान प्राप्त करने पर वह अजर और अमर सत्ता में सत्तवान् होकर मृत्युराज से तर जाता है। इधर गुरु के द्वारा प्रेरित मन का अंश भी गुरु के मूल मन में स्थान प्राप्त कर लेता है।

शिष्य के देह में रहते समय वस्तुतः गुरु का मन ही कर्म करता है, पर करता है शिष्य की काया और मन के साथ एक सूत्र में जुड़ कर ही; किन्तु गुरु में अभिमान न होने के कारण तथा तथा शिष्य में स्वकाया का अभिमान विद्यमान रहने के कारण, यह कर्म शिष्य के कर्म के रूप में ही गिना जाता है तथा उसका फल भी शिष्य को ही प्राप्त होता है। गुरुकृपा-युक्त कर्म का स्वरूप ही यह है।

जो योगी जितने अधिक लोगों को कायप्रवेश-द्वारा अपना सकते हैं उतनी ही अधिक संख्या में मन उनमें मिल जाते हैं तथा उतने ही अधिक व्यापक-रूप में वे विश्व-कल्याण करने में अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। कायप्रवेश न कर सकने पर ठीक-ठीक दूसरों का उपकार नहीं किया जा सकता एवं खण्ड आत्मा अनेकों को अपना कर विशाल नहीं बन सकता।

●

देहसिद्धि और पूर्णत्व का अभियान

(१)

मनुष्य की ज्ञानशक्ति के विकास के साथ-साथ उसके जीवन का चरम आदर्श अस्पष्ट रूप से उसके हृदय में कभी-कभी भासित हो उठता है। वह आदर्श क्या है, इसे भाषा में व्यक्त करें तो अनेक दिशाओं से अनेक प्रकार के नाम-निर्देश किये जा सकते हैं। परन्तु वस्तुतः कोई भी नाम इस महान् आदर्श को पूर्णरूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। दुःख-निवृत्ति अथवा आनन्द की अभिव्यक्ति दार्शनिक समाज में बहुत ही परिचित वस्तु है। यही परम पुरुषार्थ है, इसे बहुतेरे लोग निःसङ्कोच स्वीकार करते हैं। परन्तु मेरी समझ से 'पूर्णत्व-प्राप्ति' को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करना अधिक सुसङ्गत है। मनुष्य का जीवन पहले से ही नाना प्रकार के बन्धनों में बँधा और आवरण से ढका है, अतएव उसकी स्वतन्त्र स्फूर्ति कभी नहीं हो सकती। इन सारे बन्धनों और आवरणों से जब तक मुक्त नहीं हुआ जाता, तब तक मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता; और जब तक इस स्वाधीनता का आविर्भाव नहीं होता, तब तक मनुष्य के लिये पूर्णत्व की प्राप्ति तो दूर की बात है, पूर्णत्व की यात्रा का श्रीगणेश भी नहीं होता। पूर्णत्व अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है, इसे आजपर्यन्त यथार्थ-रूप में किसी ने उपलब्ध किया है या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु उस मार्ग में अल्पाधिक परिमाण में कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, इसका प्रमाण इतिहास से प्राप्त होता है।

बहुत-से लोगों की धारणा है कि जीव जन्म लेकर कर्मपथ से चलते-चलते, किसी-न-किसी दिन इस जन्म में या भविष्य के दूसरे जन्मों में पूर्णत्व-लाभ कर सकता है। यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है, परन्तु इसके भीतर आंशिक सत्य रहस्य के गर्भ में निहित है। कर्म, अकर्म और विकर्म का सहज ही भेद नहीं किया जा सकता। प्रकृति कर्म-पथ प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु एक बार इस पथ के प्राप्त होने पर कर्म से ही ज्ञान का विकास होता है, ज्ञान का पृथक्-रूप से आहरण नहीं करना पड़ता। वस्तुतः दीक्षा काल में गुरुदत्त ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ कर्म-पथ खुल जाता है और उसके बाद कर्म के निर्दिष्ट परिणाम में विकास होने पर गुरुदत्त अव्यक्त-ज्ञान या ज्ञान-शक्ति ज्ञान-चक्षु के रूप में उन्मीलित होती है—इसका ही नाम 'लक्ष्य का उन्मेष' है। साधारण जीव के लिये लक्ष्य-रूपी इस ज्ञान-चक्षु के उन्मेष के प्रभाव से निम्नस्तर के सारे कर्म, जिनके द्वारा चित्त विक्षिप्त और आच्छन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं। तब दो अवस्थाओं की अभिव्यक्ति विकल्प-रूप से ही होती है। दुर्बल अधिकारी के लिये पूर्वोक्त ज्ञानोदय के साथ-साथ एक स्थिति-अवस्था का उदय होता होता है। इस अवस्था में साधक प्रकाशमय महाज्योति के बीच निष्क्रिय स्वसत्ता को लेकर अचल भाव से अवस्थान करता है। परन्तु सबल अधिकारी के लिये इस ज्योति

में क्रमशः अग्रसर होने का मार्ग मिल जाता है। इसका ही नाम है 'योगपथ में महाभिनिष्क्रमण'।

साधारणतः निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञान के उदय के बाद देह में अवस्थान करना सम्भव नहीं होता। अतएव महाप्रस्थान अथवा महायोग के मार्ग पर चलना नहीं बनता। विदेह-कैवल्य-अवस्था को प्राप्त करने के बाद केवली आत्मा के लिये किसी प्रकार की अग्रगति अथवा अवस्थान्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती। देह-सम्बन्ध के बिना प्रकृत कर्म का विकास सम्भव नहीं होता।

जागतिक साधक जिन आध्यात्मिक स्तरों या अनुभूति-क्षेत्रों की उपलब्धि करता है, वे सब अज्ञान-भूमि के अन्तर्गत होते हैं, अतएव अल्पाधिक परिणाम में जड़ता के द्वारा आच्छन्न रहते हैं।

इससे समझा जा सकता है कि योगी का यथार्थ कर्मपथ ज्ञान-नेत्र के उन्मीलन के बाद प्राप्त होता है, इसके पूर्व नहीं। इस विराट् पथ पर चलने के लिये देह को सुरक्षित-रूप में अपने अधीन रखना आवश्यक है, क्योंकि यही आद्य धर्म-साधन है; अर्थात् रोग, जरा, अकालमृत्यु आदि समस्त विघ्नों से देह को मुक्त करके पूर्णत्व के मार्ग में चलना है। यह अधिकांश मनुष्यों के लिये अप्राप्य या दुष्प्राप्य है, अतएव यथार्थ जीवन्मुक्ति संसार में इतनी दुर्लभ है। साधारणतः जिस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहा जाता है, उसमें अज्ञान की आवरण-शक्ति न होने पर भी विक्षेप-शक्ति रहती है—यह मानना पड़ता है। विक्षेप-शक्ति के होने के कारण वेदान्तादि अनेकों प्रस्थानों में एक ऐसा मत प्रचलित है कि प्रारब्ध कर्म तत्त्वज्ञान के द्वारा नष्ट नहीं होते, एकमात्र भोग के द्वारा ही नष्ट होते हैं। इस प्रकार की जीवन्मुक्ति-अवस्था नित्य नहीं होती, क्योंकि प्रारब्ध-भोगों का अन्त हो जाने पर देह-पात अवश्यम्भावी है। देहान्त के बाद विदेह-कैवल्य-अवस्था का उदय होता है। कहना न होगा कि वह जीवन्मुक्त अवस्था से बिल्कुल ही भिन्न है, क्योंकि इस अवस्था में देह या इन्द्रिय आदि नहीं रहते।

अतएव योगियों का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ उद्यम देह-स्थैर्य के व्यापार में लगता है, देह को जरारहित करके अमरत्व दान करना ही देह-स्थैर्य का उद्देश्य है। देह को स्थिर कर लेने पर वह पुनः चञ्चल नहीं होता, तथा वह कभी विकार-ग्रस्त नहीं होता, अथवा मृत्यु-मुख में नहीं पड़ता। पृथिवी के सभी देशों में इसी कारण प्राचीन काल में सम्प्रदाय-विशेष अति गुप्त भाव से देह-सिद्धि की क्रिया का अनुष्ठान करते थे। ईसाई-सम्प्रदाय में सेंट जॉन और चीन देश में आचार्य लाउत्से इस मार्ग में दीक्षित होकर कुछ अंश में चरम सत्य की प्राप्ति के पथ पर अग्रसर हुए थे। भारतवर्ष में हठयोगीगण तथा शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासकों में कुछ लोग देह-सिद्धि के रहस्य को जानते थे। मध्य-युग के तिब्बत में विशिष्ट योगी-जन भी इसे जानते थे। वायु अथवा मन को स्तम्भित करके अथवा अष्टादश संस्कार से संस्कृत पारद के द्वारा देह-सिद्धि की जा सकती है। योगियों की कुछ मुद्राएँ भी इस क्रिया में उपयोगी होती हैं। यह कथा प्रसिद्ध है कि स्वामी शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद ने रस-प्रक्रिया

के द्वारा सिद्धदेह प्राप्त किया था। चौरासी सिद्धों का इतिहास भारतीय और तिब्बतीय साहित्य में सुपरिचित ही है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसङ्ग्रह के अन्तर्गत रसेश्वर दर्शन की आलोचना के प्रसङ्ग में प्राचीन कारिका से उद्धृत कर बहुतेरे सिद्धदेह-सम्पन्न योगियों के नामों का उल्लेख किया हैं। वे योगी आज भी अक्षय-देह में विद्यमान रह कर जगत् में सर्वत्र विचरण करते हैं।

आचार्य-गण कहते हैं कि सिद्ध-देह की प्राप्ति ही यथार्थ जीवन्मुक्ति है, क्योंकि इस देह का पतन न होने के कारण जीवन्मुक्ति अवस्था चिरस्थायी होती है। जीवन्मुक्ति अवस्था के बाद देहान्त होने पर कैवल्य का कोई स्थान नहीं; क्योंकि जिस देह को प्राप्त करने से कभी देह-त्याग नहीं होता, वही यदि जीवन्मुक्ति हो तो कैवल्य या निर्वाण के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। सिद्धों के मत से काय-सिद्धि के अभाव के कारण निर्वाण स्वीकृत होता है। काय-सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर निर्वाण सदा के लिये अतिक्रान्त हो जाता है; और योगी सिद्धतनु-अवस्था से प्रणवतनु-अवस्था की ओर उठता है। सिद्धों का मत है कि सिद्ध-देह को प्राप्त किये बिना ब्रह्म-ज्ञान अधिगत नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये जो कठोर साधना, तपस्या और सहनशीलता आवश्यक होती है, वह मनुष्य के अपरिपक्व देह में सम्भव नहीं है। इसी कारण उनका उपदेश है कि पहले देह-इन्द्रिय आदि को काल के कवल से उद्धार करके अमृत-रस के द्वारा सञ्जीवित करे, पश्चात् महाज्ञान की साधना का व्रत ले। इतना किये बिना पूर्णत्व के पथ की यात्रा तो सिद्ध होती ही नहीं, बल्कि वस्तुतः उसका आरम्भ ही नहीं होता।

वैष्णव लोग अन्तरङ्ग साधना के पथ में अग्रसर होकर सिद्ध-देह प्राप्त कर राजमार्ग का भजन करते-करते रस-साधना के चरम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। उनके मत से भाव-देह ही सिद्ध-देह है। भाव-देह की प्राप्ति के बाद सुदीर्घ साधना करने पर भगवत्प्रेम प्राप्त होता है और तब रस-स्वरूप में स्थिति-लाभ होता है। उस समय भावदेह ही प्रेम के द्वारा परिणत होते-होते रसमय काया में पर्यवसित हो जाता है। रस-सिद्धि के पूर्व नित्य-लीला का आविर्भाव हो ही नहीं सकता।

इससे यह समझा जा सकता है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञान के पथ में अथवा रस-साधना के चरम उत्कर्ष की प्राप्ति के मार्ग में सिद्ध-देह एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'योगाग्निमय शरीर' की जो बात कही गयी है, वह सिद्ध-देह का ही एक प्रकार है। 'योगबीज', 'अमनस्क' आदि योग-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में योग-देह का स्पष्ट और अस्पष्ट निर्देश देखने में आता है।

(२)

प्रश्न हो सकता है कि देह प्राकृतिक गुणों से उद्भूत पञ्च-भूतों के द्वारा रचित है, वह सर्वदा परिणामशील और अनित्य है; आत्मा कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी है—ऐसी अवस्था में देह का स्थैर्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? आत्मा

स्थिर है और देह अस्थिर है—यही सनातन सत्य है। यह जान कर ही अनित्य के प्रति वैराग्य तथा नित्य-अनित्य का पारस्परिक विवेक प्राप्त करने के लिये अध्यात्म-पथ में अग्रसर होना पड़ता है। इस प्रश्न के उत्तर में बहुत कुछ कहने को रह गया है। परन्तु विस्तारपूर्वक उन सारी बातों की आलोचना कर गम्भीर देह-तत्त्व की मीमांसा सामयिक पत्र के कलेवर में सम्भव नहीं है; तथापि प्रसङ्गवश कुछ तत्त्वालोचना न करने से मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होगा, अतएव यहाँ दो-चार बातें कही जायँगी।

उपनिषदों में विभिन्न स्थानों में वर्णित है कि पुरुष षोडशकल है, अर्थात् देहावच्छिन्न आत्मा की सोलह कला या अवयव है। आगम-शास्त्र तथा तदनुयायी अनेकों ग्रन्थों में आत्मा की षोडश कला का उल्लेख मिलता है। इन सोलह कलाओं में से पन्द्रह कलाएँ धर्मशास्त्र में तथा ज्योतिषशास्त्र में तिथि-रूप में कालचक्र के अङ्ग के रूप में वर्णित हैं। षोडश-कलाविशिष्ट चन्द्र की पन्द्रह कलाएँ आविर्भाव-तिरोभाव-विशिष्ट तथा अनित्य हैं। ये मृत्युकला, काल की कला अथवा नश्वर कला के नाम से प्रसिद्ध हैं; परन्तु षोडशी कला कालचक्र की नाभिस्वरूपा है। यही बिन्दु-रूप अमृत-कला है—

"पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।"

अतएव देह-रूपी पुर के अधिष्ठाता पुरुष की पन्द्रह कलाएँ उसकी देह तथा सोलहवीं कला या अमृत-कला उसकी आत्मा है। जीव पितृयान-मार्ग से चल कर इन पन्द्रह कलाओं का ही परिचय प्राप्त करता है। देवयान-मार्ग से गये बिना सोलहवीं कला का पता नहीं लगता। पन्द्रहवीं कला और सोलहवीं कला के बीच जो सम्बन्ध है, वह मृत्यु-काल में छिन्न हो जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्य की षोडशी कला के जागने का अवसर ही नहीं आता। संसार में जब तक पञ्चदश कलात्मक शरीर में षोडशी कला की पूर्णता के द्वारा विधिपूर्वक अमृतक्षरण न होगा, जब तक पञ्चदश कला अपने नश्वर स्वभाव को त्याग कर अमरत्व-सम्पन्न नहीं हो सकती, तब तक शरीर को मृत्यु के अधीन रहना ही पड़ेगा। षोडशी कला मृत्यु के समय देह से वियुक्त होकर सूर्यमण्डल-भेद करके उसके ऊपर नित्य चन्द्रमण्डल में लौट जाती है, परन्तु वह अमृत-किरण देह के ऊपर नहीं गिरती।

श्रुति कहती है—'अपाम सोमममृता अभूम'। यह वेद-वाक्य सोमपान के फल-स्वरूप अमृतत्व की प्राप्ति का निदर्शन करता है। यह अमृतत्व देहसिद्धि-जनित अमरत्व है, यह आत्मा का स्वभावसिद्ध अमरत्व नहीं है, क्योंकि आत्मा के स्वाभाविक अमरत्व में सोमपान की कोई आवश्यकता नहीं होती। 'सोम' शब्द से सोमलता अथवा औषधीश चन्द्र अथवा विशुद्ध मन—चाहे जो भी ग्रहण किया जाय, मूल में कोई भेद नहीं होता, सोम-रस सर्वत्र एक ही वस्तु है। जो लोग हठयोग का आश्रय लेकर साधन-पथ पर चलते हैं, वे खेचरी मुद्रा को स्वाधीन करने के समय इस षोडशी कला-रूपी चन्द्रबिन्दु के अमृतस्राव के साथ थोड़ा-बहुत परिचित होते हैं। तालु-मूल के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, साधारण अवस्था में चित्त की एकाग्रता के अभाव में यह सोमधारा नित्य विगलित होकर

कालरूप अग्निकुण्ड में नाभि-स्थल में नियमित रूप से गिरती रहती है। एक लक्ष्य उन्मीलित हुए बिना, अर्थात् ज्ञान-चक्षु के खुले बिना यह अमृतपान नहीं किया जा सकता। इसी कारण निरन्तर अमृत-क्षरण के प्रभाव से चन्द्रकलामय शरीर में सर्वदा रस का शोषण होता है, काल-रूपी-अग्नि सर्वदा ही रस का शोषण करके देह में जरा आदि विकारों की तथा मृत्यु की उद्भावना करती रहती है। हठयोगी-गण बन्ध आदि प्रक्रिया के साथ वायु-निरोध के द्वारा तथा राजयोगी साक्षात् भाव से चित्त-निरोध के द्वारा पूर्ववर्णित बिन्दु क्षरण को रोकने में समर्थ होते हैं। मन्त्रयोगी मन्त्र के उद्‌बोधन के बाद जप-क्रिया अथवा अजपा-क्रिया द्वारा इसी एक उद्देश्य को पूर्ण करने की चेष्टा करते हैं। तान्त्रिक उपासक लोग जब भूत-शुद्ध करके उपासना के लिये विशुद्ध भूतमय अभिनव देह की सृष्टि करते हैं तब उनको भी यही एक उद्देश्य प्रेरणा प्रदान करता है। चन्द्रबीज (ठं) के बिना देह-रचना नहीं होती, यह एक अत्यन्त परिचित सत्य है। जो लोग रस-साधना में निष्णात हैं, वे भी इसी एक लक्ष्य के द्वारा प्रेरणा पाते हैं। रस अथवा पारद स्वरूपतः शिव-वीर्य है। परन्तु यह बहुत-से मलों के द्वारा आच्छन्न होने के कारण अपना कार्य सम्पादन करने में समर्थ नहीं होता। विभिन्न संस्कारों के द्वारा इन मलों को दूर करने पर विशुद्ध शिव-बिन्दु प्राप्त हो जाता है। इस बिन्दु से उत्पन्न देह भी बैन्दव देह है। वह नित्य निर्मल और जरादि विकारों से वर्जित होता है। वज्रयान और सहजयान के साधक लोग तथा वैष्णव सहजिया लोग प्रकारान्तर से इसी एक तत्त्व को अङ्गीकार करते हैं। वे जीव-बिन्दु को शुद्ध और अटल शिवबिन्दु मे परिणत करने के पक्षपाती हैं। मलिन बिन्दु जब तक कठोर ब्रह्मचर्य-साधना के फलस्वरूप विशुद्ध और स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसके साथ प्रकृति का योग नीतिविरुद्ध है। इस बिन्दु के द्वारा रागमार्ग की साधना नहीं चलती। चण्डीदास की रागात्मिका कविता का रहस्य जो समझते हैं, वे इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। कहना न होगा कि बिन्दु ही वज्रयानियों का बोधि-चित्त है। इसको निर्मल और स्थिर किये बिना बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शुद्ध बिन्दु प्रकृति के सङ्ग से लीलायित होकर जिस ऊर्ध्व गति का विकास करता है वही आदि-रस अथवा शृङ्गार-रस की साधना है। यही नित्यलीला में प्रवेश करने का द्वार है। बिन्दु के सिद्ध हुए बिना स्खलन तथा काल-ग्रास में पड़ना अवश्यम्भावी है। असिद्ध के लिये पूर्णत्व के पथ पर चलने की कोई सम्भावना नहीं रहती। सिद्ध-देह लाभ करना और कामजय करना एक ही बात है।

साधारण जीव-देह चाहे कितना ही पवित्र क्यों न हो, वह अपवित्र और अशुचि ही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि काम ही जीवदेह-सृष्टि का मूल है। काम की अतीत अवस्था में गये बिना शुद्ध-देह-लाभ करना दुष्कर है। बहुत लोग समझते हैं कि काम को ध्वंस करना ही अध्यात्म-पथ का मुख्य उपदेश या उद्देश्य है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। काम का नाश करके पूर्णत्व के मार्ग में कौन चल सकता है? काम का नाश न करके उसे विशुद्ध प्रेम में परिणत करना होगा, तब यह प्रेम ही एक समय रस में परिणत होकर पूर्णत्व के द्वार का उद्‌घाटन करेगा। जो लोग महायान-

सम्प्रदाय के बौद्धों के साधन-रहस्य से अवगत हैं, वे इस प्रसङ्ग में 'आश्रय-परावृत्ति' की बात याद करेंगे। पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिये देह और देह-स्थित प्रत्येक शक्ति की आवश्यकता है। इनमें जो मलिनता और जड़ता दीख पड़ती है, उनको दूर करने पर इन्हीं से परम-पथ का सङ्केत और साहाय्य प्राप्त हो सकता है। इसी कारण श्रीरूप-गोस्वामीपाद ने कहा है कि भगवान् को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। सकाम साधक के लिये भगवत्प्राप्ति की आशा सुदूर समझनी चाहिये, क्योंकि वह भोगार्थी होता है। जहाँ भोग की आकाङ्क्षा है, वहाँ भगवान् नहीं रहते। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि निष्काम मुमुक्षु के लिये भी भगवत्प्राप्ति अति कठिन है, क्योंकि जिसे कोई आकाङ्क्षा ही नहीं है, जिसने शुद्ध वासना का भी त्याग कर दिया है, जिसे भगवान् के विरह की अनुभूति नहीं है, उसके लिए एकमात्र निर्वाण के सिवा अन्यत्र गति नहीं है। भगवत्प्राप्ति उसके लिये नहीं है। जो सकाम होकर भी निष्काम हैं, साथ ही निष्काम होकर भी सकाम हैं, अर्थात् जो काम को प्रेम में परिणत करने में समर्थ हैं, केवल उन्हीं के भाग्य में भगवद्-दर्शन बदा है—

'बिना प्रेम के ना मिलें कबहूँ श्रीनँदलाल'।



परिशिष्ट

कविराज-प्रतिभा में सङ्कलित लेखों के सन्दर्भ

लेखों के शीर्षक	पत्रिकाओं के सन्दर्भ
धर्म का सनातन आदर्श	कल्याण, वर्ष ७ अङ्क ६, ७, १०
ईश्वर में विश्वास	कल्याण, वर्ष ७ अङ्क १
भगवद्-विग्रह	कल्याण, वर्ष ६ अङ्क १
भक्ति-रहस्य	कल्याण, वर्ष २४ अङ्क १
लिङ्ग-रहस्य	कल्याण, वर्ष ८ अङ्क १
मन्त्रविज्ञान की एक झलक	आनन्दवार्ता, खण्ड ३ अङ्क १
राम-नाम की महिमा	कल्याण, वर्ष २३ अङ्क ११
जीवन का लक्ष्य	आनन्दवार्ता, खण्ड ७ अङ्क ४
मनुष्यत्व	कल्याण, वर्ष ३३, अङ्क १
काशी में मृत्यु और मुक्ति	कल्याण, वर्ष ८ अङ्क १
ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्	आनन्दवार्ता, खण्ड ३ अङ्क ४
मैं कौन हूँ	आनन्दवार्ता, खण्ड ५ अङ्क १
देहतत्त्व और मुक्ति	कल्याण, वर्ष ११ अङ्क १
मृत्युविज्ञान और परमपद	कल्याण, वर्ष १४ अङ्क १
वर्णविज्ञान और आत्मा की विचित्र अवस्थाएँ	आनन्दवार्ता, खण्ड ३ अङ्क २, ३
अद्वयतत्त्व के प्रकार-भेद	कल्याण, वर्ष २९ अङ्क ११, १२
शून्यवाद और विज्ञानवाद	कल्याण, वर्ष ११ अङ्क १
शङ्कर से पूर्व के आचार्य	कल्याण, वर्ष ११ अङ्क २
प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शङ्कर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध	कल्याण, वर्ष ११, अङ्क १
श्रीविद्यार्णव नामक ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर-सम्प्रदाय का विवरण	कल्याण, वर्ष ११ अङ्क २
आदि-गुरु दत्तात्रेय एवं उनके सम्प्रदाय का दार्शनिक मतवाद	कल्याण, वर्ष २४ अङ्क ९; आनन्दवार्ता, खण्ड २ अङ्क २, ४ एवं खण्ड ३ अङ्क १

काश्मीरीय शैव दर्शन के सम्बन्ध में कुछ बातें	कल्याण, वर्ष ८ अङ्क १
महाशक्ति का आह्लादनी स्वरूप	श्री परशुराम चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए लिखा गया अप्रकाशित लेख
योग का विषय परिचय	कल्याण, वर्ष १० अङ्क १
योग तथा योगविभूति	कल्याण, वर्ष १० अङ्क २
योग और परकाय-प्रवेश	कल्याण, वर्ष २३ अङ्क १२
देहसिद्धि और पूर्णत्व का अभियान	कल्याण, वर्ष २४ अङ्क ८


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय